इलाहाबाद

प्रथम संस्करण

मूल्य १॥)

मुद्रक

आर० डी० श्रीवास्तव

शारदा प्रेस, प्रयाग

श्रद्धेय

महामहोपाध्याय पंडित बालकृष्ण मिश्र
प्रिंसिपल, ओरियण्टल कालेज,
हिन्दू विश्व-विद्यालय, काशी

तथा

प्रोफ़ेसर रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे
अध्यक्ष, दर्शन-विभाग; डीन ऑव द फ़ैकल्टी ऑव आर्टस्,
प्रयाग विश्व-विद्यालय

को

जिनके चरणों में बैठ कर लेखक ने भारतीय दर्शन
का पूर्वी और पश्चिमी ढंग से अध्ययन
किया है
यह प्रयास
सादर साग्रह समर्पित है।

अयि गुरुवरा विद्या-विज्ञान-वारि-सरोवराः,
सुगुणकलहंसानां कान्ताश्रयाः करुणोर्मयः!
इह खलु भवद्भिः सोढव्या निजान्तेवासिना-
मपि समधिकं भिन्नाः स्वीयाम्बुजोत्पलबुद्धयः॥

शोभन-गुण-रूपी कलहंसों के सुंदर आश्रय, करुणा-तरंगों से युक्त, विद्या-विज्ञान-रूपी जल के सरोवर गुरुवरो! अपने से अत्यंत भिन्न होते हुए भी अपने शिष्यों की कमल-रूपी बुद्धियां (विचार या सिद्धांत) जो कि आपके ही ज्ञान-जल से उत्पन्न हैं, आप सहन करें, यह प्रार्थना है।

FOREWORD

The following pages embody a systematic course of studies in some of the more important branches of Indian philosophical thought. It is in a sense the first attempt of its kind in Hindi, nay in many of the Indian vernaculars. Isolated writings, both critical and expositional but mostly historical, bearing on isolated historical problems or isolated systems of ancient and medieval Indian thought have appeared from time to time in the vernacular, but a comprehensive study embracing different schools is rarely to be found. The fact is that students of general Indian philosopy, equally interested in all its branches and with the necessary equipment of a direct knowledge of the source books in original supplemented by an acquaintance with the modern methods of criticism and analytical approach, are few in number. And exponents in Hindi are fewer still. For even those who have the requisite qualification to handle the subject successfully employ English as their medium of expression, being probably prompted to do so by a desire to command, or to appeal to, a wider and in some respects a more appreciative circle of readers. The consequent loss to Hindi literature is evident The author is, therefore, to be sincerely congratulated on the great pains he has taken to bring out the results of his studies in Hindi, the vernacular of the province.

Indian philosophy, including the earlier unsystematic speculations in the Upanishads and the canonical literature of the Jains and the Buddhists, derives its interest not only from its diversity, antiquity and continuity, but also from its breadth of vision and in some phases from its dialectical subtleties. The present work which is intended, as an introductory hand-

book, for the use of general readers, cannot, of course, be expected to show in its pages all the qualities which characterise Indian thought as such and mark it out as a unique contribution to the culture of the world. The author has, nevertheless, succeeded in bringing together within the brief compass of a small compendium most of the leading topics of the different popular systems with such discussion and comment as are deemed necessary for a faithful and lucid interpretation.

Apart from the original treatises in Sanskrit, the writer has utilised on occasions the important works in English bearing on the subject. The short bibliographical note, at the end of the book, will prove useful for further reference, but it seems to me that a slight expansion of this note in the light of the latest publications in the different spheres of Indian philosophical enquiry would have added to the value of the book.

In the interest of thoroughness, it appears to me, a brief survey of the prominent S'aiva and S'akta systems as well as of the Pancharātra school should have found a place, in the manner of the Nimbārka and other minor Vais'ṇava systems. in the supplementary chapter. The omission will not, however, be so keenly felt as the work purports to be a popular manual, with its scope confined to the better known systems.

The author wields a facile pen and knows how to marshal his arguments well. He has an admirable command of the data of his knowledge and is always critical in his outlook. It is to be hoped that the work which represents the first attempt in an altogether unexplored field will be received with great sympathy by the Hindi-reading public and be highly appreciated by the students of Indian philosophy.

BENARES GOPI NATH KAVIRAJ

पूर्व-वचन

इस "इतिहास" को आज प्रकाशित रूप में देख कर कुछ मिश्रित सी प्रसन्नता होती है। इसे लिखे गए काफ़ी समय बीत चुका, तब से अब तक, रिसर्च के बहाने लगातार भारतीय दर्शन का ही अध्ययन करते रहने के कारण, आज यह पुस्तक पहले से भी अधिक अपूर्ण प्रतीत होती है।

भारतीय मस्तिष्क का एक गुण या दुर्गुण जो मुझे सदैव खटकता रहता है, वह है उसकी मंदगामिता या आलस्य। इस सर्वतोमुखी कर्मण्यता और 'स्पीड' के युग में "गजगामिनी" और "स्थितप्रज्ञ" का आदर्श सर्वत्र सदैव और सब के लिये उपयुक्त नहीं हो सकता। हम भारतीय जैसे विश्व के विराट् परिवर्तनों से प्रभावित होने के लिये बने ही नहीं हैं। दासता का हंटर भी हमें सजग नहीं कर सका है। आज भी हम स्वयं सोचने का कष्ट नहीं उठाना चाहते। हमारे "प्रगति-शील" साहित्यिक या तो वेदान्त या कार्लमार्क्स या समय-समय पर दोनों के अनुयायी होने में अपने को धन्य समझते हैं। जीवन के विपय में एक अपना दृष्टिकोण बनाने की महत्त्वाकाङ्क्षा, कम-से-कम हिन्दी-लेखकों में, नहीं दिखाई पड़ती। परन्तु चिन्तन के क्षेत्र में जूठे विचारों से कोई 'महान्' नही बन सकता। यही कारण है कि आज हिन्दी में कोई बहुत ऊँची कोटि का कवि या उपन्यासकार नहीं है। गान्धीवाद ने प्रेमचन्द को और रवीन्द्र-वाद ने कतिपय छायावादी कवियों को अपनी विचार-धारा और शैली से प्रभावित करके 'सेकन्डरेट' लेखक बना डाला। दर्शनों का अध्ययन विचार-क्षेत्र में एक "मसीहा" खोजने के लिए नहीं है, इस पर इस पुस्तक में विशेप जोर दिया गया है।

हिन्दी के साहित्य की, विशेषतः दर्शन-साहित्य की, दशा दयनीय है। शंकर के 'भाष्य', काएट की 'क्रिटीक ऑव् प्योर रीज़न' और बर्गसां के 'क्रिएटिव-इवोल्यूशन' जैसे ग्रन्थ हिन्दी में कब लिखे जाएँगे? इस समय तो हिन्दी को भारतवर्ष का प्राचीन साहित्य उतना ही अलभ्य है, जितना कि योरुप का आधुनिक साहित्य। 'गीता प्रेस' ने प्राचीन ग्रन्थों के कुछ अनुवाद निकाले हैं, पर दार्शनिक दृष्टि से नहीं, धार्मिक दृष्टि से। हमारी भाषा में दार्शनिक ग्रन्थ लिखने का सब से अधिक श्रेय आर्यसमाजी विद्वानों को है, पर उन का दृष्टिकोण प्रायः साम्प्रदायिक है। हमारे देश की भाषाओं में दर्शन, विज्ञान, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास आदि विषयों पर योरुप की किसी भी समृद्ध भाषा का शतांश भी साहित्य नहीं है। जब तक देशी भाषाएँ यूनिवर्सिटी-शिक्षा का माध्यम नहीं बन जातीं, तब तक उनमें उच्चतम कोटि का साहित्य दुर्लभ ही रहेगा।

इस पुस्तक में प्रायः उन्हीं दार्शनिक संप्रदायों का सन्निवेश है जिनका अंग्रेजी इतिहासों में वर्णन रहता है। इस विषय में मैंने प्रो० हिरियन्ना के संक्षिप्त इतिहास का अनुकरण किया है। कुछ वैष्णव संप्रदायों का थोड़ा-सा विवरण इस लिए दे दिया है कि उनका हिन्दी साहित्य से विशेष सम्बन्ध है। कविराज जी ने बतलाया कि मुझे शैव और शाक्त दर्शनों का संक्षिप्त परिचय और देना चाहिए था। वस्तुतः मुझे इन दर्शनों का विशेष परिज्ञान नहीं है। दूसरे, पुस्तक का आकार धीरे-धीरे अधिक बढ़ जाने का भय था। मंडन मिश्र की "ब्रह्मसिद्धि" का ज़िक्र न किया जाना अवश्य ही खटकनेवाली बात है। लेखकों और ग्रन्थों के काल-निर्णय के झगड़े में मैं प्रायः नहीं पड़ा हूँ; इन विवादों के लिए इस छोटी पुस्तक में स्थान न था। देवेश्वर सुरेश्वर से भिन्न हैं, इस नवीन अनुसंधान को, कविराज जी की इच्छानुसार, "संशोधन और परिवर्धन" के अन्तर्गत सन्निविष्ट कर दिया गया है।

संक्षिप्त होते हुए भी यह इतिहास, दो-एक कमियों को छोड़ कर, अपने में पूर्ण है। जो कुछ लिखा जाय वह लम्बा न होते हुए भी स्पष्ट हो, इसका मैंने काफ़ी ध्यान रक्खा है। चार साढ़े चार सौ पृष्ठों में भारत के विस्तीर्ण दर्शन-साहित्य का विवरण देना कठिन बात है, फिर भी, विभिन्न दर्शनों की कोई महत्त्वपूर्ण बात छूट न जाय, इसका भरसक प्रयत्न किया गया है। दर्शनों के प्राचीनतम ग्रन्थों का उद्धरणों-सहित परिचय इस पुस्तक की अपनी विशेषता है। मूल-ग्रन्थों में पाठकों की अभिरुचि उत्पन्न करना ही इसका उद्देश्य है।

जो अपने व्यक्तित्व का अंग होते हुए भी अपने-से भिन्न कहे और समझे जाते हैं, उन विश्ववंद्य दार्शनिकों के विचारों के इस संकलनात्मक ग्रन्थ के लिए मैं उन्हीं को धन्यवाद क्या दूं ! पर सबसे ज़्यादा तो यह पुस्तक उन्हीं की है। उनके अतिरिक्त, 'सहायक-ग्रन्थों की सूची' में जिन-जिन विद्वान् लेखकों के नाम हैं, उन सब का मैं ऋणी हूँ। इस सूची की दो-चार पुस्तकों का नाम पद-संकेतों में नहीं आ सका है, इसका कारण लिखते समय उनका मेरे पास सिर्फ़ नोट रूप में वर्त्तमान होना था।

इस पुस्तक के लिखने में मुझे दो महानुभावों से विशेष प्रोत्साहन मिला है, डा० मंगलदेव शास्त्री, प्रिंसिपल संस्कृत कालेज, बनारस और पंडित अमरनाथ झा, वाइस-चान्सलर, प्रयाग विश्व-विद्यालय। शास्त्री जी की सादगी-भरी ऋजुता और सहृदयता किसे मुग्ध नहीं करती ! पंडित झा के व्यक्तित्व के दो गुणों—उनकी असाधारण क्रियाशीलता और अपने विद्यार्थियों का उदय देखने तथा उसमें सहायक होने की आकांक्षा और तत्परता—को मैंने सदैव विस्मय और मूक प्रशंसा की दृष्टि से देखा है। कविराज जी के आशीर्वाद को तो मैं उनके दर्शन का फल मानता हूँ। उन्होंने जितने ध्यान से सम्पूर्ण पुस्तक को पढ़ा है, और त्रुटियों की ओर इंगित किया है, वह उनके असीम वात्सल्य

का द्योतक है। इन लोगों के लिए उपयुक्त धन्यवाद भविष्य में साहित्य-सेवा करते रहने की प्रतिज्ञा ही है।

कविराज जी के अंग्रेज़ी में लिखे प्राक्कथन का हिंदी अनुवाद पुस्तक के अंत में दे दिया गया है।

इस इतिहास के प्रथम भाग की पाण्डु-लिपि तैयार करने में मुझे श्रीरामरतन भटनागर 'हसरत' एम० ए० से विशेष सहायता मिली है जिसके लिये मैं उनका कृतज्ञ हूँ। अन्य कई मित्रों ने भी प्रूफ़-संशोधन और अनुक्रमणिका आदि बनाने में मदद की है। उन सब का मैं ऋणी हूँ।

प्रयाग
विश्व-विद्यालय
१५ अगस्त, '४१

देवराज

विषय-सूची

प्रथम भाग

द्वितीय भाग

प्रथम भाग

भूमिका

दर्शनशास्त्र की आवश्यकता

इस आर्थिक संकट और प्रतिद्वंद्विता के युग में दर्शन जैसे गंभीर विषय पर पुस्तक लिखने वाले से कोई भी व्यावहारिक बुद्धि का मनुष्य यकायक पूछ सकता है, 'इस की आवश्यकता ही क्या थी ?' वास्तव में इस प्रश्न का कोई संतोष-जनक उत्तर नहीं दिया जा सकता। उत्तर तो बहुत हैं, पर उन का मूल्य प्रश्न-कर्ता के अध्ययन और बौद्धिक योग्यता पर निर्भर है। जिस का यह दृढ़ विश्वास है कि मनुष्य केवल पशुओं में एक पशु है और उस की आवश्यकताएं भोजन-वस्त्र तथा प्रजनन-कार्य (संतानोत्पत्ति) तक ही सीमित हैं, उस के लिए उक्त प्रश्न का कोई उत्तर नहीं है। परंतु जो मनुष्य को केवल पशु नहीं समझते, जिन्हें मानव-बुद्धि और मानव-हृदय पर गर्व है, जो यह मानते हैं कि मनुष्य सिर्फ़ रोटी खाकर जीवित नहीं रहता, मनुष्य सोचने-वाला या विचारशील प्राणी है, उन के लिए इस प्रश्न का उत्तर मिलना कठिन नहीं है। वास्तव में वे ऐसा प्रश्न ही नहीं करेंगे। मनुष्य और पशु में सब से बड़ा भेद यह है कि मनुष्य जो कुछ करता है, उस पर विचार करता है, जब कि पशु को इस प्रकार की जिज्ञासा कभी पीड़ित नहीं करती। मनुष्य रोता है और रोने पर कविता लिखता है, हँसता और हँसने के कारणों पर विचार करता है, पत्नी के होठों को चूमता है और फिर सवाल करता है, 'यह मोह तो नहीं है ?' पशु और मनुष्य दोनों को दुःख उठाना पड़ते हैं, दोनों की 'मृत्यु' होती है; परंतु 'दुःख' और 'मृत्यु' पर विचार करना मनुष्य का ही काम है। यह समझना भूल होगी कि दार्शनिक विचारकों को 'दुःख' और 'मृत्यु' से कोई विशेष प्रेम होता है। वास्तव में दार्शनिक 'मृत्यु' और 'दुःख' पर इस लिए विचार करते हैं कि वे जीवन के अंग हैं।

संसार की सारी विद्याएं मनुष्य की जीवन में अभिरुचि की द्योतक हैं, दर्शन-शास्त्र का तो मुख्य विषय ही जीवन है। कवि और उपन्यासकार की भाँति दार्शनिक भी जीवन की समस्याओं पर प्रकाश डालना चाहता है। यही नहीं, जीवन की समस्याओं पर जितनी तत्परता से दार्शनिक विचार करता है उतना कोई नहीं करता।

दर्शनशास्त्र क्या है?

यहां प्रश्न यह उठता है कि यदि दार्शनिक, कवि और उपन्यासकार सभी जीवन पर विचार करते हैं तो फिर कविता, उपन्यास और दर्शन में क्या भेद है? 'दर्शन-शास्त्र' को 'साहित्य' से जुदा करने वाली क्या चीज़ है? उत्तर यह है कि दर्शनशास्त्र की शैली साहित्य से भिन्न है—यह मुख्य भेद है। प्रायः कवि और उपन्यासकार जीवन पर विचार करने में किसी नियम का पालन नहीं करते। दार्शनिक चिंतन नियमानुसार होता है। अब यदि कोई आप से पूछे कि दर्शनशास्त्र क्या है, तो आप कह सकते हैं कि जीवन पर नियमानुसार, किसी विशेष पद्धति से विचार करना 'दर्शन' है। जीवन का वैज्ञानिक अध्ययन करना ही दर्शनशास्त्र का काम है। लेकिन जब हम जीवन पर नियम-पूर्वक विचार करना शुरू करते हैं तब हमें मालूम होता है कि जीवन को समझने के लिए सिर्फ़ जीवन का अध्ययन ही काफ़ी नहीं है। जिस जीवन को हम समझना चाहते हैं वह मनुष्य का या स्वयं अपना जीवन है। परंतु वह जीवन संसार की दूसरी वस्तुओं से संबद्ध है। हम पृथ्वी के ऊपर रहते हैं और आकाश के नीचे, हम हवा में साँस लेते हैं और जल तथा अन्न से निर्वाह करते हैं। हमारे जीवन और पशुओं के जीवन में बहुत बातों में समता है, बहुत में विषमता। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं वह सौर-मंडल का एक भाग है, वह सौर-मडल भी करोड़ों तारों, ग्रहों और उपग्रहों में एक विशेष स्थान रखता है। आश्चर्य की बात तो यह है कि मनुष्य जैसा छोटा प्राणी पृथ्वी से हज़ारों गुने सूर्य और सूर्य से लाखों गुने विशाल नक्षत्रों की गति, ताप और परिमाण पर

विचार करता है। इस विराट् ब्रह्मांड में, इस देखने में छोटे, तुच्छ मनुष्य का क्या स्थान है, यह निर्णय करना दर्शन-शास्त्र की प्रमुख समस्या है। विश्व-ब्रह्मांड के रंगमंच पर यह रोने, हँसने, सोचने और विचारने वाला मनुष्य नामक प्राणी जो पार्ट खेल रहा है उस का, विश्व-ब्रह्मांड के ही दृष्टि कोण से, क्या महत्त्व है, यही दार्शनिक जिज्ञासा का विषय है। संसार के प्राणी पैदा होते हैं और मर जाते हैं। परंतु मरने से पहले मनुष्य तरह-तरह के काम करता है। वह भविष्य की चिंता करता है और अपने बच्चों के लिए धन इकट्ठा करता है; धन-संग्रह करने में वह कभी-कभी बेईमानी और फिर पश्चात्ताप भी करता है; वह नरक से डरता है और स्वर्ग की कामना रखता है; वह कविता लिखता है, कहानी पढ़ता है, स्पीचें देता है, पार्टी-बंदी करता है, अपनी स्वतंत्रता और अधिकारों के लिए लड़ता है; वह मंदिर, मस्जिद और गिर्जे में जाता है तथा अपना पर-लोक सुधारने का प्रयत्न करता है। मनुष्य की इन सब क्रियाओं का क्या अर्थ है, और उन का क्या मूल्य है? मर कर मनुष्य का और जीवन में उस ने जो प्रयत्न किए हैं उन का क्या होता है? हम जो अच्छे प्रयत्न कर रहे हैं, यश प्राप्त करने में लगे हैं, इस का क्या महत्त्व है? क्या इस जीवन के साथ ही हमारे अरमान हमारी आशाएं और आकांक्षाएं, हमारी अच्छे बनने की इच्छा, हमारी दूसरों का भला करने की साध—क्या यह सब मरने के साथ ही नष्ट हो जाते हैं? क्या हम सचमुच मर जाते हैं, हमारा कुछ भी शेष नहीं रहता? संसार के विचारकों ने इस प्रश्न के विभिन्न उत्तर दिए हैं। उन उत्तरों पर विचार करने का और नया उत्तर सोचने का भी, आपको अधिकार है। दर्शनशास्त्र ऐसे ही विचार-क्षेत्र में आप का आह्वान करता है।

हम में से बहुतों ने सुन रक्खा है कि दर्शनशास्त्र में 'दुनिया कैसे बनी? दुनिया को किस ने बनाया और क्यों? ईश्वर है या नहीं? क्या बिना ईश्वर के दुनिया बन सकती है? जगत परमाणुओं का बना है या

किसी और चीज़ का? तत्व पदार्थ कितने हैं?' इत्यादि प्रश्नों पर बहस की जाती है। यह ठीक है कि दर्शनशास्त्र इन प्रश्नों पर विचार करता है। परंतु वह इन प्रश्नों के विषय में इस लिए सोचता है कि यह प्रश्न 'जीवन क्या है?' इस बड़े प्रश्न से संबंध रखते हैं। जब आप रेल-द्वारा कहीं जाना चाहते हैं तो आप को स्टेशन तक समय पर जाना, टिकट ख़रीदना आदि अनेक काम करने पड़ते हैं। यह काम आप के उद्देश्य में सहायक हैं, स्वयं उद्दिष्ट नहीं। इसी प्रकार जीवन को समझने के लिए दर्शन-शास्त्र को इधर-उधर के अनेक कामों में फँसना पड़ता है। मनुष्य का असली उद्देश्य जीवन को समझ कर उसे ठीक दिशा में चलाना है। इसी के लिए, जीवन के कल्याण-साधन के लिए ही, उसे ईश्वर तथा अन्य देवी-देवताओं की आवश्यकता पड़ती है। इस प्रकार यदि आप वस्तुतः दर्शनशास्त्र में रुचि उत्पन्न करना चाहते हैं तो आप को चाहिए कि आप उन समस्याओं का जो कि देखने में जीवन से उदासीन प्रतीत होती हैं, जीवन से संबंध जोड़ लें। आप जो किसी संबंधी के मर जाने पर रोते हैं उस का पुनर्जन्म की समस्या से कुछ संबंध है, आप जो अपने मित्रों को प्यार करते हैं उस का जीवन के अंतिम लक्ष्य से कुछ संपर्क हो सकता है; जीवन में आप को निराशा और असफलता होती है जिस से कि कर्म-सिद्धांत और ईश्वर की सत्ता पर प्रभाव पड़ता है; आप का प्रकृति-प्रेम आप में और प्रकृति में किसी गूढ़ संबंध का द्योतक है। इस तरह जीवन पर दृष्टि रख कर विचार करने से आप को दर्शनशास्त्र कभी रूखा नहीं लगेगा।

दर्शनशास्त्र सिर्फ़ ब्राह्मणों के लिए नहीं हैं, वह ख़ास तौर से न पापियों के लिए है न पुण्यात्माओं के लिए। और चीज़ों की तरह पाप-पुण्य, धर्म और अधर्म पर (निष्पक्ष हो कर) विचार करना भी दर्शन-शास्त्र का ही काम है। दर्शनशास्त्र सिर्फ़ उन के लिए है जो जीवन को समझना चाहते हैं। परंतु प्राय: जो जीवन पर विचार करना चाहते हैं वे साधारण लोगों से कुछ ऊँची कोटि के मनुष्य होते हैं; उन में उच्च जीवन

की कामना भी होती है। कठिन से कठिन और ऊँचे से ऊँचे विषयों पर दर्शनशास्त्र में विचार होता है, इस लिए दर्शनशास्त्र के विद्यार्थी की तुच्छ वस्तुओं और प्रश्नों में रुचि होनी कठिन है।

दर्शनशास्त्र और विभिन्न विज्ञान

भौतिक जगत जीवन की रंगभूमि है। भौतिक शरीर और आत्मा कही जाने वाली वस्तु में गंभीर संबंध मालूम होता है। शारीरिक दशाओं और मानसिक दशाओं में भी घनिष्ठ संबंध है। इस संबंध को ठीक-ठीक समझने के लिए भौतिक तत्वों तथा शरीर की बनावट का अध्ययन भी आवश्यक है। आजकल का कोई भी दार्शनिक भौतिक विज्ञान और शरीर-विज्ञान के मूल सिद्धांतों की उपेक्षा नहीं कर सकता। प्राचीन काल में यह शास्त्र इतने उन्नत न थे, इस लिए प्राचीन दार्शनिक भौतिक और प्राणिजगत के विषय में या तो युक्तिपूर्ण कल्पना से काम लेते थे, या उन के प्रति उदासीन रहते थे। परंतु आजकल के दार्शनिक का काम इतना सरल नहीं है। जीवन के विषय में जहां से भी कुछ प्रकाश मिल जाय उसे वहां से ले लेना चाहिए। समाजशास्त्र, राजनीति, अर्थशास्त्र, इतिहास, आदि भी मानव-जीवन का अध्ययन करते हैं। इन विषयों का दर्शन से घनिष्ठ संबंध है। इसी प्रकार मनोविज्ञान भी दार्शनिक के लिए बड़े काम की चीज़ है। यदि हम मानव-जीवन को ठीक-ठीक समझना चाहते हैं तो हमें उस का विभिन्न परिस्थितियों में अध्ययन करना पड़ेगा। मानव-जीवन को सामाजिक और भौतिक दो प्रकार के वातावरण में रहना पड़ता है; उसे राजनीतिक, ऐतिहासिक और आर्थिक परिस्थितियों से गुज़रना पड़ता है। मनोविज्ञान के नियम व्यक्ति और समाज के व्यवहारों पर शासन करते हैं। इस प्रकार दार्शनिक को थोड़ा-बहुत सभी विद्याओं का ज्ञान आवश्यक है। प्रश्न यह है कि इतने 'शास्त्रों' के रहते हुए 'दर्शनशास्त्र' की अलग क्या आवश्यकता है? इन विज्ञानों और शास्त्रों से अलग दर्शनशास्त्र के अध्ययन का विषय भी क्या हो सकता है?

मान लीजिए कि आप के सामने एक मेज़ रक्खी हुई है। आप अपने कमरे के चार स्थानों से खड़े हो कर मेज़ को देखिए; आप को मालूम होगा कि उन चारों स्थानों से मेज़ की शक्ल एक-सी दिखलाई नहीं देती। आप की जगह अगर 'केमरा' ले लें तो मेज़ के चार भिन्न फ़ोटू तैयार हो जायँगे। जिस जगह खड़े हो कर आप मेज़ को देखते हैं वह आप का 'दृष्टिकोण' कहा जाता है। एक ही वस्तु विभिन्न दृष्टिकोणों से विभिन्न प्रकार की दिखलाई देती है। विभिन्न विज्ञान या शास्त्र जगत का विशेष दृष्टिकोणों से अध्ययन करते हैं। इस तथ्य को यों भी प्रकट किया जाता है कि प्रत्येक शास्त्र विश्व की घटनाओं में से कुछ को अपने अध्ययन के लिए चुन लेता है। राजनीति का विद्यार्थी शासन-संस्थाओं और उन के पारस्परिक संबंधों का अध्ययन करता है, उत्तरी ध्रुव पर हवा का तापक्रम क्या है इस से उसे कोई मतलब नहीं। परंतु भूगोल के विद्यार्थी के लिए दूसरा प्रश्न महत्वपूर्ण है। इसी प्रकार खगोलशास्त्र का छात्र तारों के निरीक्षण में मग्न रहता है जब कि शरीर-विज्ञान का विद्यार्थी या डाक्टर तारों से कोई सरोकार नहीं रखता। अर्थशास्त्र के अध्येताओं को मनोविज्ञान से विशेष मतलब नहीं होता। इस प्रकार हम देखते हैं कि विभिन्न शास्त्रों के विद्यार्थियों ने जगत को खंड-खंड कर डाला है। सब अपने-अपने विषय के अध्ययन में लगे हैं, सब जगत को एक विशेष पहलू से देखते हैं, समूचे जगत पर कोई दृष्टि नहीं डालता। परंतु संपूर्ण विश्व पर दृष्टिपात करना उसे समझने के लिए नितांत आवश्यक है। आप किसी युवती के सौंदर्य का माप (तोल) उस के शरीर के अवयवों को अलग-अलग करके देखने से नहीं कर सकते। सिर्फ़ नाक, सिर्फ़ नेत्र, सिर्फ़ मुख, सिर्फ़ हाथों आदि में कुछ सौंदर्य हो सकता है, लेकिन शरीर का पूरा सौंदर्य इन सब के एकत्र होने पर ही प्रकट होता है। इस लिए जब कि विश्व का एकांगी अध्ययन करने वाले भौतिक और सामाजिक शास्त्र आवश्यक हैं, संपूर्ण विश्व पर

एक साथ विचार करने के लिए भी एक शास्त्र की ज़रूरत है। ऐसा शास्त्र दर्शनशास्त्र है। दर्शनशास्त्र समस्त ब्रह्मांड पर एक साथ विचार करता है, इस लिए कि बिना संपूर्ण ब्रह्मांड को देखे जीवन का स्वरूप समझ में नहीं आ सकता, ठीक उसी प्रकार जैसे कि बिना पूरा मुख देखे 'नाक कितनी सुंदर है' इस का निर्णय नहीं किया जा सकता। इसी लिए दर्शन-शास्त्र में जगत की उत्पत्ति, जगत का उपादान कारण आदि पर विचार किया जाता है। विभिन्न शास्त्रों या साइन्सों तथा उन के विषय-वस्तु में क्या संबंध है, तर्क-शास्त्र और तारा-शास्त्र (भूगोल-विद्या), मानस-शास्त्र और भौतिक शास्त्र के सिद्धांतों में किस प्रकार सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है, यह बताना दर्शनशास्त्र का काम है। कहीं-कहीं विभिन्न शास्त्रों के सिद्धांतों में विरोध हो जाता है जिस पर दर्शनशास्त्र को विचार करना पड़ता है। व्यवहार-दर्शन या आचार-शास्त्र का यह मौलिक सिद्धांत है कि 'मनुष्य जो चाहे वह कर सकता है, वह स्वतंत्र है'; बिना इस को माने दंड और पुरस्कार की व्यवस्था नहीं हो सकती। यदि मैं कर्म करने में स्वतंत्र नहीं हूं तो मेरे कहे जाने वाले कर्मों का उत्तरदायित्व मुझ पर नहीं हो सकता और मुझे पापों की सज़ा नहीं मिलनी चाहिए। परंतु भौतिक शास्त्र और मनोविज्ञान बतलाते हैं कि विश्व की सब घट-नाएं अटल नियमों के अनुसार होती हैं; कोई चीज़ स्वतंत्र नहीं है, हमारे कर्म भी विश्व के नियमों का पालन करते हैं। आप के मन में एक बुरा विचार उठता है, वह किसी नियम के अनुसार; आप उसे उठने से रोक ही नहीं सकते थे, ठीक जैसे कि आप हवा को नहीं रोक सकते। इसी प्रकार आप की इच्छाएं मनोविज्ञान के नियमों का पालन करती हैं। आप के कर्म आप की इच्छाओं पर निर्भर नहीं हैं और इस तरह आप कर्म करने में स्वतंत्र नहीं हैं। इन शास्त्रों के विरोध पर विचार कर के उन में सामंजस्य स्थापित करना दार्शनिक का काम है। 'एक सत्य दूसरे सत्य का विरोधी नहीं हो सकता' यह दर्शनशास्त्र का मूल विश्वास है। यदि दो सिद्धांत एक-

दूसरे को काटते हैं तो दोनों एक साथ सत्य नहीं हो सकते । सत्य एक है, और वह संपूर्ण विश्व में व्याप्त है । दर्शनशास्त्र उसी सत्य की खोज में है ।

हम कह सकते हैं कि दर्शनशास्त्र समस्त विश्व को समझने की चेष्टा है । दार्शनिक विश्व के किसी पहलू की उपेक्षा नहीं कर सकता । जानने की इच्छा मनुष्य का स्वभाव है; समस्त विश्व के बारे में कुछ सिद्धांत स्थिर करने की आकाङ्क्षा भी स्वाभाविक है । 'विश्व-ब्रह्मांड में मनुष्य का क्या स्थान है, इस पर प्रत्येक व्यक्ति कुछ न कुछ मत स्थिर करने की चेष्टा करता है । जो ज्ञान-पूर्वक जीवन की क्रियाओं में भाग लेना चाहते हैं, जो भेड़-बकरियों की तरह नेतृत्व के लिए दूसरों का मुख नहीं देखना चाहते, वे इस प्रकार का मत बनाने की विशेष चेष्टा करते हैं । परंतु मनुष्य के भविष्य और सृष्टि-संचालन के विषय में कोई न कोई मत हर मनुष्य का होता है, इस प्रकार हर मनुष्य दार्शनिक है । प्राणवायु की तरह दर्शन-शास्त्र हमारे शरीर के तत्वों में व्याप्त है । ऐसी दशा में प्रश्न केवल अच्छे और बुरे दार्शनिक बनने का रह जाता है । दर्शन-शास्त्र के अध्ययन से मनुष्य दूसरे विद्वानों के विचारों से परिचित होता है तथा स्वयं वैज्ञानिक ढंग से विचार करना सीखता है । मनुष्य की विचार-शक्ति और समझने की योग्यता बढ़ाने के लिए दर्शनशास्त्र से बढ़ कर सार्वभौम और व्यापक कोई विषय नहीं है । दर्शनशास्त्र सब विषयों और विद्याओं को छूता है; दर्शन का विद्यार्थी किसी भी दूसरे शास्त्र को सुगमता से समझ सकता है । जो औरों के लिए कठिन है वह दार्शनिक के लिए खेल है । अन्य विषयों के पढ़ने से दार्शनिक अध्ययन में सहायता तो मिलती ही है । दर्शन के अध्ययन के लिए सब से ज़्यादा सतर्क निरीक्षण-शक्ति या जीवन को देखने की क्षमता की ज़रूरत है ।

दर्शनशास्त्र की शाखाएं

अध्ययन की सुगमता के लिए आधुनिक काल के विद्वानों ने दर्शन-शास्त्र को शाखाओं में विभक्त कर दिया है । प्राचीन काल में ऐसी शाखाएं न थीं । तथापि प्रत्येक दार्श-

निक किसी क्रम से अपने सिद्धांतों का प्रतिपादन करता था। दर्शनशास्त्र की समस्याएं बहुत और विविध हैं, इसी लिए उन के वर्गीकरण की आवश्यकता पड़ती है और उन का अध्ययन अलग-अलग किया जाता है। नीचे हम दर्शन की मुख्य शाखाओं के नाम देते हैं।

१—प्रमाण-शास्त्र तथा प्रमाशास्त्र—अंग्रेज़ी में हमें इसे 'एपिस्टोमालोजी' कहते हैं। योरुप के लिए यह नई चीज़ है, परंतु भारत के दार्शनिक इस का महत्त्व प्राचीन काल से जानते थे। तत्वज्ञान संभव भी है या नहीं? यदि हां, तो उस की उपलब्धि किन उपायों से ही हो सकती है? ज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञान के साधन कितने प्रकार के हैं? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर देना इस शास्त्र का काम है।

२—तत्वदर्शन ('आंटालोजी')— यह शाखा विश्व-तत्त्व का अध्ययन करती है। जगत के मूलतत्व कौन और कितने हैं? क्या ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन तत्वों को मानना चाहिए अथवा इन में से किसी एक को? चार्वाक के मत में प्रकृति ही एक तत्व है जो स्वयं पंचभूतों का समूह है। जैनी जीव और जड़ दो तत्व मानते हैं। वेदांत का कथन है कि तत्व-पदार्थ सिर्फ़ एक ब्रह्म या आत्मा है। कुछ लोग तत्व को परमाणुमय मानते हैं, कुछ के मत में शून्य ही तत्व है। कुछ बौद्ध विचारक विज्ञानों (मन की दशाओं जैसे रूप, रस आदि का अनुभव, सुख, दुःख आदि) को ही चरम तत्वं मानते हैं।

३—व्यवहार-शास्त्र ('एथिक्स')—इस में कर्तव्याकर्तव्य पर विचार होता है। मनुष्य को अच्छे कर्म क्यों करने चाहिए? हम दूसरों को धोखा देकर क्यों न रहें? सच्चाई से प्रेम क्यों करें? हिंसा से क्यों बचें? दूसरों का दिल क्यों न दुखाएं? क्या बुरे कर्मों का फल भोगना पड़ता है? यदि हां तो वह फल कर्म स्वयं दे लेते हैं या कोई ईश्वर उन का फल देता है? क्या पुनर्जन्म मानना चाहिए? मानव-जीवन का लक्ष्य क्या है? यदि हम मानव-जीवन का कोई लक्ष्य न मानें तो क्या कोई हर्ज है? कर्म और मोक्ष

में क्या संबंध है ? क्या मोक्ष जैसी कोई चीज़ है ? यदि हां तो वह ज्ञान से मिल सकती है या कर्म से, इत्यादि ।

४—मनोविज्ञान ('साइकालोजो')—प्राचीन काल में यह भी दर्शन-शास्त्र का भाग था । हमारे मन में जो तरह-तरह की विचार-तरंगें उठा करती हैं वे क्या किन्हीं नियमों का पालन करती हैं ? अथवा विचारों का प्रवाह नियम-हीन और उच्छृंखल है ? हमें तरह-तरह के कर्मों में प्रवृत्त कौन करता है ? प्रवृत्ति का हेतु क्या है ? हमारी आकांक्षाओं और मनोवेगों का कोई भौतिक आधार भी है ? क्या शरीर के स्वास्थ्य आदि का मानसिक जीवन पर कोई प्रभाव पड़ता है ?

५—सौंदर्य-शास्त्र ('ईस्थेटिक्स')—यह सिर्फ़ आधुनिक काल की चीज़ है । प्रकृति और मनुष्य में जो सौंदर्य दिखाई देता है उस का स्वरूप क्या है ? भारतीय दर्शनों ने सौंदर्य पर विशेष विचार नहीं किया है । गीता कहती है कि सुंदर पदार्थ भगवान् की विभूतियां है, भगवान् की अभिव्यंजक हैं । सांख्य और रामानुज के अनुसार सतोगुण सौंदर्य का अधिष्ठान है । भारतीय दर्शनशास्त्र के सौंदर्य-संबंधी विचारों पर अभी खोज नहीं हुई है । आशा है कोई सहृदय पाठक इसे करने का संकल्प करेंगे ।

इन के अतिरिक्त और भी तरह-तरह की समस्याओं का समाधान दर्शन शास्त्र में होता है । पाठक आगे 'प्रामाण्यवाद' के विषय में पढ़ेंगे । यह भी प्रमाण और प्रमाशास्त्र का अंग है । ऊपर के कुछ प्रश्नों का उत्तर देने की, संभव है, भारतीय दार्शनिकों ने कोशिश भी न की हो, परंतु जितना उन्हों ने विचार किया है वह किसी को भी विचार-शील व्यक्ति बना देने को काफ़ी है । यही सब प्रकार की शिक्षा का उद्देश्य है । पाठकों को याद रखना चाहिए कि दर्शनशास्त्र में किसी प्रश्न का उत्तर जानने की अपेक्षा उस प्रश्न का स्वरूप समझने का ज़्यादा महत्त्व है । उत्तर तो गलत भी हो सकता है । प्रश्न को ठीक-ठीक समझ लेने पर ही आप विभिन्न समाधानों का मूल्य जाँच सकते हैं । जिस के हृदय में शुरू से ही पक्षपात है वह न प्रश्न की

गंभीरता को समझ सकता है, और न उस के उत्तर की योग्यता के विषय में ही ठीक मत निर्धारित कर सकता है।

भारतीय दर्शनशास्त्र की विशेषताएं

यों तो दार्शनिक प्रक्रिया सार्वदेशिक या सार्वभौम है, सब देशों के दार्शनिकों ने समान समस्याओं पर विचार किया है, तथापि प्रत्येक देश के दर्शन में कुछ अपनी विशेषता पाई जाती है। यूनान की अपेक्षा भारतीय दर्शन अधिक आध्यात्मिक और अधिक व्यावहारिक है। यूनानी दार्शनिकों को समंजस और सीमित पदार्थों से अधिक प्रेम था, भारतीयों की शुरू से ही सीमाहीन या विराट् में अधिक अभिरुचि रही है। यूनान के विचारक श्रेणी-विभाजन और वर्गीकरण में बहुत सिद्धहस्त हो गए, अरस्तू ने 'ज्ञान' को भी विज्ञानों या शाखाओं में बाँट दिया; भारतीय दार्शनिकों की दृष्टि अभेद और समन्वय की ओर अधिक रही। यूनान दर्शन में, सुक़रात और अफ़लातून को छोड़ कर, जड़ और चेतन के बीच गहरी खाई नहीं खोदी गई, भारत में शरीर और आत्मा के द्वैत पर कुछ ज़्यादा ज़ोर दिया गया है।

आशावाद या निराशावाद?

भारतीय दर्शन को आशावादी कहना चाहिए या निराशावादी? प्रायः भारत के सभी दर्शन संसार को दुःखमय मानते हैं, दर्शनों का उपक्रम (आरंभ) इसी प्रकार होता है। दुःख से छूटना ही भारतीय दर्शनों का उद्देश्य है। इस विषय में प्रायः सभी विचारकों का एक मत है। यह 'दुःखवाद' भारतीय दर्शन की प्रमुख विशेषता बतलाई जाती है। तो क्या सचमुच ही भारतीय विचारक दुःखवादी थे? मेरा विचार तो ऐसा नहीं है। भारतीय दर्शन का दुःखवाद उन के चरित्र की दो विशेषताओं का फल है। एक तो भारत के निवासी सहृदय और कोमल वृत्ति वाले हैं। कोमलता, मधुरता और सौंदर्य-प्रियता भारतीय काव्य के विशेष गुण हैं। भारतीय दर्शन का हृदय भी कवि-हृदय है, वह दुःख को देख कर शीघ्र प्रभावित हो जाता है। भारत के दार्शनिक करुणामय ऋषि थे जो दिमाग़ी कसरत के लिए नहीं बल्कि लोक-कल्याण

के लिए दार्शनिक चिंतन करते थे। भारतीयों की दूसरी विशेषता अनंतता की चाह है, वे सीमाओं और बंधनों से घबराते हैं, असीम वायुमंडल में उड़ना ही उन्हें पसंद है। भारतवर्ष को कहानियों की जन्मभूमि बताया जाता है, यह यहां के लोगों के कल्पनाशील 'अथवा' भावजगत में विचरण करने वाले, होने का प्रमाण है। मुमकिन है कि कुछ आलोचकों को यह अत्युक्ति जान पड़े, संभव है कि वर्तमान दासता हमारे स्वातंत्र्य-प्रेम को उलटा सिद्ध करती हो। परंतु जिस स्वातंत्र्य को भारतीयों ने सदैव चाहा है वह आध्यात्मिक स्वतंत्रता है। भारत में स्वतंत्र विचारों के लिए शारीरिक दंड बहुत कम दिया गया है। सुक़रात, ईसा, गेलिलिओ जैसी कहानियां भारतीय इतिहास में प्रायः नहीं हैं। मुसलमानों के राजत्व-काल में भी भारतीयों ने अपनी धार्मिक और मानसिक स्वतंत्रता को अक्षुण्ण रक्खा। जिन मुसलमान बादशाहों ने उसे दबाया, उन का नाश कर दिया गया। मुस्लिम-राज्य के सारे इतिहास में हम भारतीयों को स्वतंत्रता के लिए लड़ते और प्रयत्न करते पाते हैं। राणा प्रताप, अमरसिंह, गुरुगोविंद सिंह और शिवाजी जैसे वीरों में यह प्रयत्न अधिक मूर्त और स्पष्ट हो उठते थे। अकबर के हिंदू सरदार मुग़ल राज्य को स्वीकार करके भी कम मानी नहीं थे। आज भी भारतीय युवक स्वतंत्रता के प्रति उदासीन नहीं है। परंतु जैसा कि हम ने ऊपर कहा, आर्थिक और राजनीतिक स्वतंत्रता से कहीं ज़्यादा भारतीयों को आध्यात्मिक स्वतंत्रता से प्रेम रहा है।

सीमित ऐश्वर्य भारत के असीम के प्रति पक्षपात को संतुष्ट नहीं कर सका। 'जो भूमा है, जो अनंत है, वही सुख है, अल्प में, ससीम में सुख नहीं है' यह उपनिषद् के ऋषि का अमर उद्गार है। इस को समझे बिना भारतीय दर्शन का 'दुःखवाद' समझ में नहीं आ सकता। भारतीय दर्शन को निराशावादी तो किसी प्रकार कह ही नहीं सकते। मोक्ष की धारणा भारतीय दर्शन की मौलिक धारणा है। हमारे अपने व्यक्तित्व में ही मोक्ष-स्वरूप आत्मा की ज्योति छिपी है, जिसे अभिव्यक्त करना ही परम पुरुषार्थ

है। 'कौन जीवित रह सकता, कौन साँस ले सकता, यदि यह आकाश आनंद (स्वरूप) न होता?' 'आनंद से ही भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं, आनंद से ही जीवित रहते हैं और आनंद में ही प्रविष्ट और लय होते हैं।' भारतीय तर्कशास्त्र में अच्छे दर्शन का एक यह भी लक्षण है कि उसे मानकर मोक्ष संभव हो सके। दार्शनिक प्रक्रिया निरुद्देश्य नहीं है, मोक्ष, दुःखाभाव, या आनंद की प्राप्ति उस का एकमात्र लक्ष्य है। मोक्ष-दशा की वास्तविकता में भारतीय दर्शन का दृढ़ विश्वास है। भारतीय दर्शन का दुःखवाद उस वियोगिनी के आँसुओं की तरह है जिसे अपने प्रियतम के आने का दृढ़ विश्वास है, परंतु जो वियोग की अवधि निश्चित रूप से नहीं जानती। यही नहीं भारत की दार्शनिक वियोगिनी यह भी जानती है कि वह अपने प्रयत्नों से धीरे-धीरे वियोग की घड़ियों को कम कर सकती है।

ज्ञान की महिमा

अज्ञान ही सारे दुःखों की जड़ है, यह भारतीय दर्शन में अनेक प्रकार से बतलाया गया है। 'ऋतेज्ञानान्न मुक्तिः' (ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं हो सकती) यह हमारे दर्शन का अटल वाक्य है। रामानुज की भक्ति भगवान् का ज्ञान-विशेष ही है। आज भी भारत की दुरवस्था का कारण यहां की जनता का अज्ञान है। हम अभी तक दोस्त और दुश्मन को ठीक-ठीक नहीं पहचानते। दुःख के बंधन के कारण का ठीक-ठीक ज्ञान किए बिना हम उस से मुक्ति नहीं पा सकते। अज्ञान को हटाना ही दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है, इस प्रकार दर्शनशास्त्र मोक्ष का अन्यतम साधन है।

मतभेद

परंतु तत्वज्ञान क्या है, इस विषय में तीव्र मतभेद है। किसी भी दार्शनिक समस्या पर संसार के दार्शनिकों का एकमत प्राप्त करना कठिन है। विचार-विभिन्नता ही दार्शनिक संप्रदायों की जननी है। दर्शनशास्त्र एक है, दार्शनिक उद्देश्य और प्रक्रिया एक है, परंतु 'दर्शन' बहुत हैं। भारतवर्ष ने कम से कम बारह

प्रसिद्ध दार्शनिक संप्रदायों को जन्म दिया है जिन के विषय में हम इस पुस्तक में पढ़ेंगे। यह मतभेद भारतीय मस्तिष्क की उर्वरता का परिचायक है। बिना मतभेद, आलोचना और प्रत्यालोचना के ज्ञान की किसी शाखा की उन्नति नहीं हो सकती। अंधविश्वास अथवा बिना विचार किए दूसरे की बात मान लेने का स्वभाव सब प्रकार की उन्नति का घातक है। किसी जाति या राष्ट्र की उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि उस का प्रत्येक सदस्य सतर्क रहे, अपने मस्तिष्क और बुद्धि को जागरूक रक्खे। जब भारत में यह जागरूकता और सतर्कता विद्यमान थी, तब ही भारत का स्वर्ण-युग था। भारत के पतन का एक बड़ा कारण यह भी हुआ कि कुछ काल बाद यहां के लोग स्वतंत्र विचार करना भूल कर 'विश्वासी' बन गए। विश्वास बुरी चीज़ नहीं है, पर केवल विश्वास आध्यात्मिक उन्नति में बाधक है। विचार या मनन करने का काम हमारे लिए कोई दूसरा नहीं कर सकता। यह संभव नहीं है कि विचार कोई दूसरा करे और दार्शनिक हम बन जायँ। 'मैं ब्रह्म हूं' कहने मात्र से कोई वेदांती नहीं बन सकता; महावाक्यों का अर्थ हृदयंगम करने के लिए लंबी तैयारी की ज़रूरत है। खेद की बात है कि आज भारतवर्ष में ऐसे अकर्मण्य वेदांती बहुत हैं। भगवद्गीता में कहा है—'उद्धरेदात्मनात्मानम्', अर्थात् आप अपना उद्धार करे, परंतु कुछ भोले लोगों का विचार है कि ऋषियों की शिक्षा में विश्वास कर लेना ही आत्म-कल्याण के लिए यथेष्ट है। यदि आप जीवित रहना चाहते हैं तो विचार-पूर्वक जीवित रहिए, विचार-शीलता ही जीवन है। आप के संप्रदाय के कोई आचार्य बहुत बड़े विद्वान थे, इस से यह सिद्ध नहीं होता कि आप भी विचार कर सकने योग्य हैं, इस से यह भी सिद्ध नहीं होता कि आप अपने आचार्य को ठीक-ठीक समझ भी सकते हैं। याद रखिए कि किसी भी आचार्य को बुद्धिहीन अनुयायी की अपेक्षा बुद्धिमान प्रतिपक्षी ज़्यादा प्रिय होगा।

फिर ऋषियों में विश्वास करने से काम भी तो नहीं चल सकता। ऋषियों में मतभेद है और आप को किसी न किसी ऋषि में अविश्वास करना ही पड़ेगा। आप सांख्य और वेदांत दोनों के एक साथ अनुयायी नहीं बन सकते, न आप नैयायिक और अद्वैतवादी ही एक साथ हो सकते हैं। सब आचार्यों का सम्मान करना चाहिए, सब ऊँचे दर्जे के विचारक थे, परंतु इस का अर्थ किसी के भी सिद्धांतों को अक्षरशः मान लेना नहीं है। आप को सत्य का भक्त बनना चाहिए न कि किसी ऋषि विशेष का। सत्य का ठेका किसी ने नहीं ले लिया है; यह आवश्यक नहीं है कि शंकराचार्य ही ठीक हों और रामानुज ग़लत हों। संप्रदायवादी प्रायः अपने आचार्य का अक्षर-अक्षर मानने को तैयार रहते हैं और दूसरे आचार्यों की प्रत्येक बात ग़लत समझते हैं। यह हठधर्मी और मूर्खता है। हमारा कर्तव्य यह है कि हम सब मतों का आदर-पूर्वक अध्ययन करें, और सब से जो संगत प्रतीत हों वह सिद्धांत ले लें। ठीक तो यही है कि हम विश्व भर के विद्वानों का आदर करें परंतु कम से कम अपने देश के विचारकों का अध्ययन करते समय उदारता और सहानुभूति से काम लेना चाहिए।

सचमुच ही वह देश अभागा कहा जायगा जिस में विचार-वैचित्र्य नहीं है। यदि भारतवर्ष ने अपने लंबे इतिहास में सिर्फ़ एक ही दार्शनिक संप्रदाय को जन्म दिया होता तो वह विचार शीलों का देश नहीं कहा जाता। जहां प्रत्येक व्यक्ति स्वतंत्र विचार करता है वहां संघर्ष अनिवार्य है। स्वतंत्रचेता विचारक तोते की तरह दूसरों की युक्तियों की आवृत्ति करके संतुष्ट नहीं रह सकते। विचारों की विभिन्नता किसी जाति के जीवित होने का चिह्न है। परंतु इस का अर्थ व्यावहारिक फूट नहीं है। व्यावहारिक बातों में एकमत होना कठिन नहीं है। संसार के सारे धर्म प्रायः एक-सी नैतिक शिक्षा देते हैं। चोरी और व्यभिचार को सब मतों ने बुरा कहा है और सत्य बोलने की प्रशंसा सभी ने मुक्त-कंठ से की है।

साधना की एकता

तत्त्व-दर्शन में गहरे भेद होने पर भी साधना के विषय में भारतीय दर्शनों का प्रायः एकमत है। इंद्रियों और मन का निग्रह, सत्य, अहिंसा, मैत्री, करुणा आदि का उपदेश सभी दर्शनों और आचार्यों ने किया है। प्राणायाम और यौगिक क्रियाओं के महत्त्व को सभी स्वीकार करते हैं। सभी पुनर्जन्म और कर्म-विपाक (जैसी करनी वैसी भरनी) में विश्वास रखते हैं। सभी का लक्ष्य मोक्ष है। भारत के अधिकांश दर्शन 'जीवन्मुक्ति' के आदर्श को मानते हैं। मोक्ष सिर्फ़ वाद-विवाद की वस्तु नहीं होनी चाहिए। ऐसा न हो कि साधक मरने के बाद कुछ भी प्राप्त न करे और अपनी साधना को व्यर्थ समझे। साधना फलवती तब है जब उस का फल प्रत्यक्ष हो, इसी जन्म में मिल सके। यदि दर्शनों के अध्ययन और चरम-तत्त्व के ज्ञान का इस लोक में कुछ भी प्रभाव नहीं होता तो परलोक में ही होगा, इस की क्या गारंटी है? हमारे ऋषियों और आचार्यों के जीवन ने उन की शिक्षा को व्यवहार में सत्य-सिद्ध कर दिखाया। उन सब का जीवन शांत, शुद्ध तथा छल-कपट और लोभ से मुक्त रहा है। इस जीवन की योरुपीय दार्शनिकों के जीवन से कोई तुलना नहीं की जा सकती। अनंत और असीम पर विचार करके भी योरुपीय विचारक अपने को तुच्छ संघर्षों से अलग रखने में असमर्थ रहे। जहां भारत के दार्शनिकों ने राजा और उस के ऐश्वर्य की कभी परवाह न की, जहां वे संसार के अधिकारों और संपत्ति से कहीं ऊँचे उठे रहे, वहां योरुप के विचारक अपने-अपने देशों की गवर्नमेंटों से डरते हुए दिखाई देते हैं। अफ़लातून, अरस्तू, हीगल, फ़िच्टे आदि सभी राजनीतिक संकीर्णता में लिप्त रहे। व्यक्तिगत चरित्र की दृष्टि से भारतीय दर्शनिकों की सार्वभौम गरिमा उन्हें योरुपीय विचारकों से कहीं ऊँचा स्थापित कर देती है। हमारे आचार्यों ने देश के मस्तिष्क को ही नहीं जीवन और चरित्र को भी प्रभावित किया है। उन की निस्स्वार्थता सत्य-परता, निर्लोभता, विद्वत्ता और वाग्मिता सभी अनुकरणीय रही हैं। आज

भी उन की सौम्य मूर्तियां हमारे देश की स्मृति को पवित्र बना रही हैं।

संगीत-मयता

भारतीय दर्शन की इस विशेपता का उल्लेख शायद कभी नहीं किया गया है। हमारे यहां श्लोक-रचना का गुण साधारण-सी बात थी। अपने मंगलाचरण या व्याख्या में कहीं भी भारतीय दार्शनिक अपने काव्य-गत पक्षपात का परिचय दे देते हैं। 'सांख्यकारिका' जैसी महत्त्वपूर्ण पुस्तकें पद्य में हैं। गीता दार्शनिक और धार्मिक ग्रंथ तो है ही, उस में सरस कविता भी है। हमारे पुराण दार्शनिक विचारों से भरे पड़े हैं। श्री शंकराचार्य ने विवेकचूड़ामणि जैसे ग्रंथों में अपने गूढ़ दार्शनिक विचारों का सरस प्रतिपादन किया है। विद्यारण्य की 'पंचदशी', सर्वज्ञात्म मुनि का संक्षेप 'शारीरक', सुरेश्वर की 'नैष्कर्म्य-सिद्धि' आदि पद्य-ग्रंथ हैं। विश्वनाथ की 'कारिकावली' न्याय की प्रसिद्ध पुस्तक है। पद्य में दार्शनिक रचनाएं भारत की एक स्पृहणीय विशेपता है। प्लेटो के संवादों तथा कुछ प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों को छोड़ कर, योरुपीय दर्शन में सरसता का पाया जाना कठिन है। विशेपतः जर्मनी के दार्शनिक सरल रीति से विचार करना जानते ही नहीं। कांट की और हीगल की पुस्तकें पढ़नेवालों के सिर में दर्द होने लगता है। कांट की 'क्रिटीक ऑफ़् प्योर रीज़न' को पढ़ते समय ऐसा प्रतीत होता है कि लिखते समय लेखक के कंधों पर कई-सौ मन का बोझ रक्खा था, जिस के कारण वह साफ़ बोल नहीं सकता था। कांट के 'ट्रांसेंडेंटल डिडक्शन' जैसे कठिन विषयों को भारतीय दार्शनिकों ने जैसे हँसते-हँसते व्यक्त कर डाला है। अभाग्य-वश नव्य-न्याय के प्रभाव ने हमारे दर्शन की स्वाभाविकता को भी नष्ट कर डाला। परंतु भारतीय दर्शन का भविष्य ऐसे नैयायिकों के हाथ में नहीं है। आइए, हम लोग कोशिश कर के फिर दर्शनशास्त्र को साधारण जनता की चीज़ बना दें।

शायद पाठकों को यह पुस्तक भी कहीं-कहीं रूखी और क्लिष्ट मालूम पड़े। इस के कई कारण हो सकते हैं। एक कारण लेखक का संक्षेप में

कहने का आग्रह है; अन्यथा पुस्तक का आकार और मूल्य बढ़ जाने का भय था। दूसरे हिंदी भाषा के दार्शनिक साहित्य का अभी शैशव-काल ही है। संस्कृत की जैसी सुंदर रचनाएं हिंदी में मिलना कठिन है। यदि पाठक इस पुस्तक की, विचारों की गंभीरता और भाषा की सुबोधता की दृष्टि से, हिंदी के अन्य दर्शन-ग्रंथों से तुलना करेंगे तो शायद लेखक को अधिक दोष न देकर उस के प्रयत्न को करुणा की दृष्टि से देखेंगे। फिर भी मैं मानता हूं कि नीरसता दोष क्षम्य नहीं है। नीरसता का एक कारण कभी-कभी लेखक का अपने जीवन के नीरस क्षणों में लिखने को बैठ जाना भी होता है। कोई चीज़ नीरस है या सरस, यह ग्रहणकर्ता की बुद्धि पर भी निर्भर रहता है। बचपन में जो मुझे नीरस लगता था वह अब सरस मालूम पड़ता है। पहले मैं संस्कृत के अनुष्टुभ् छंद को कम पसंद करता था, पर अब 'रघुवंश' का प्रथम सर्ग संगीत का आदर्श मालूम होता है। जीवन के संघर्ष में पड़ कर अर्थशास्त्र जैसा निर्मम विषय भी रोचक और सजीव प्रतीत होने लगता है। शायद पुस्तक के प्रथम भाग में नीरसता की शिकायत कम होगी, दूसरे भाग तक पहुँचते-पहुँचते पाठकों की दार्शनिक अभिरुचि कुछ बढ़ चुकी रहेगी।

हमारे यहां मंगलाचरण के साथ पुस्तक प्रारंभ करने का नियम था। नीचे हम प्राचीन मंगलाचरणों में से कुछ उद्धरण देकर भूमिका समाप्त करेंगे। यह उद्धरण भारतीय दर्शन के संगीतमय होने की साक्षी भी देंगे।

अनृतजडविरोधि रूपमंतत्रयमलबंधनदुःखताविरुद्धम्।
अतिनिकटमविक्रियं मुरारेः परमपदं प्रणयादभिष्टवीमि॥

(संक्षेप शारीरक)

अर्थ:—जो अनृत और जड़ से भिन्न अर्थात् सत्य और चैतन्य स्वरूप है, जो देश, काल और वस्तु के परिच्छेद (सीमा) से रहित है, जिस में दुःख और विकार नहीं है, मुरारि कृष्ण के उस परमपद को, जो सदैव पास ही वर्तमान है, मैं प्रेम-पूर्वक नमस्कार करता हूं।

निःश्वसितमस्य वेदा वीक्षितमेतस्य पञ्चभूतानि ।
स्मितमेतस्य चराचरमस्य च सुप्तं महाप्रलयः ॥

(वाचस्पति की भामती)

अर्थः—वेद उस का निःश्वास हैं; पाँच महाभूत उस की दृष्टि का विलास; यह चराचर जगत उस की मुसकान है; महाप्रलय उस की गहरी नींद है ।

लक्ष्मीकौस्तुभवक्षसं मुररिपुं शङ्खासिकौमोदकी
हस्तं पद्मपलाशताम्रनयनं पीताम्बरं शार्ङ्गिणम् ।
मेघश्याममुदारपीवरचतुर्बाहुं प्रधानात्परम्
श्रीवत्साङ्कमनाथनाथममृतं वन्दे मुकुंदं मुदा ॥

(शास्त्रदीपिका)

अर्थ:—जिन के वक्षःस्थल पर लक्ष्मी और कौस्तुभ मणि हैं, जो हाथों में शंख, खड्ग और गदा लिए हुए हैं, कमल के पत्तों जैसे रंग के जिन के नेत्र हैं, जो पीला वस्त्र पहने, मेघ के समान श्यामल और पुष्ट चार भुजाओं वाले हैं, जो श्रीवत्स-लांछन का धारण करते हैं, उन प्रधान (प्रकृति) से भी सूक्ष्म, अमृत-स्वरूप कृष्ण की मैं आनंद से वंदना करता हूं ।

नूतनजलधररुचये गोपवधूटीदुकूलचौराय ।
तस्मै कृष्णाय नमः संसारमहीरुहस्य बीजाय ॥

(कारिकावली)

अर्थः—नवीन मेघों के समान कांतिवाले, गोप-वधुओं के वस्त्रों के चोर, संसार-वृक्ष के बीज रूप-कृष्ण को मेरा नमस्कार हो ।

पहला अध्याय

ऋग्वेद

ऋग्वेद की ऋचाएं

ऋग्वेद विश्व-साहित्य की सब से प्राचीन रचना है। प्राचीनतम मनुष्य के मस्तिष्क तथा धार्मिक और दार्शनिक विचारों का मानव-भाषा में सब से पहला वर्णन ऋग्वेद में मिलता है। मनुष्य की आदिम दशा के और भी चिह्न पाए जाते हैं। मिश्र के पिरेमिड और क़ब्रें इस के उदाहरण हैं। लेकिन इन चिह्नों से जब कि मनुष्य के आदिम कला-कौशल पर काफ़ी प्रकाश पड़ता है, उस के विश्वासों और विचारों के विषय में अधिक जानकारी नहीं होती। अपनी प्राचीनता के कारण आज ऋग्वेद सिर्फ़ हिंदुओं या भारतीयों की चीज़ न रह कर विश्व-साहित्य का ग्रंथ और सारे संसार के ऐतिहासिकों तथा पुरातत्व-वेत्ताओं की अमूल्य संपत्ति बन गया है। चारों वेदों में ऋग्वेद का स्थान मुख्य है। उस के दो कारण हैं। एक यह कि ऋग्वेद अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। दूसरे, उस में अन्य वेदों की अपेक्षा अधिक विषयों का सन्निवेश है। यजुर्वेद और सामवेद में याज्ञिक मंत्रों की प्रधानता है। ऋग्वेद में वैदिक काल की सारी विशेषताओं के अधिक विशद और पूर्ण वर्णन मिल सकते हैं।

ऋग्वेद क्यों पढ़ें ?
तीन कारण

ऋग्वेद का अध्ययन क्यों आवश्यक है ? इस प्रश्न का उत्तर हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। ऋग्वेद की भाषा उत्तर-कालीन संस्कृत से बिल्कुल भिन्न है, इस लिए उस का पढ़ना और समझना परिश्रम-साध्य है। आजकल का कोई विद्वान इतना परिश्रम करना क्यों स्वीकार करे ? आज हम ऋग्वेद क्यों पढ़ें ? आज-कल के युवक के लिए विज्ञान तथा पश्चिमी साहित्य का पढ़ना आवश्यक है। ऋग्वेद पढ़ने से उसे क्या लाभ हो सकता है ? शायद कुछ लोग कहें

कि ऋग्वेद के मंत्रों में सुंदर कविता पाई जाती है, वह कविता जो हिमालय से निकलनेवाली गंगा नदी के समान ही पवित्र और नैसर्गिक है, जिस में कृत्रिमता नहीं है, भाव-भंगी नहीं है, अलंकार नहीं है। यह कुछ हद तक ठीक हो सकता है। लेकिन आज जब कि साहित्य के रसिकों को वाल्मीकि और कालिदास तक के पढ़ने का समय नहीं है, कविता के लिए ऋग्वेद को पढ़ने का प्रस्ताव हास्यास्पद मालूम होगा। दार्शनिक विचारों के लिए भी ऋग्वेद को पढ़ना अनावश्यक है। तर्क-जाल से सुरक्षित तेजस्वी षड्दर्शनों को छोड़ कर दार्शनिक सिद्धांत प्राप्त करने के लिए ऋग्वेद की तोतली वाणी किसे रुचिकर होगी? प्लेटो और अरस्तू, कांट और हीगल के स्पष्ट विश्लेषण को छोड़ कर ऋग्वेद की कविता-गर्भित फिलॉसफी से किसे संतोष होगा? कुछ लोगों का विचार है कि वेद ईश्वर की वाणी और ज्ञान के अक्षय भंडार हैं। सौभाग्य या दुर्भाग्यवश आजकल के स्वतंत्रचेता विचारक संसार की किसी पुस्तक को ईश्वर-कृत नहीं मानते। जो पुस्तक हिंदुओं के लिए पवित्र है और मुक्ति का मार्ग बताने वाली है वह ईसाइयों या मुसलमानों के लिए घृणा की चीज़ हो सकती है, इस लिए यदि हम वेदों के सार्वभौम अध्ययन के पक्षपाती हैं तो हमें ऊपर के प्रश्न का कोई और उत्तर सोचना पड़ेगा।

आधुनिक काल में ऋग्वेद का मान और उस के अध्ययन में रुचि बढ़ जाने के तीन मुख्य कारण हैं। पहले तो ऋग्वेद को ठीक से समझे बिना भारतवर्ष के बाद के धार्मिक और दार्शनिक इतिहास को ठीक-ठीक नहीं समझा जा सकता, इस लिए भारतीय सभ्यता और संस्कृति के प्रत्येक विद्यार्थी का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह वैदिक काल का ठीक अनुशीलन करे। हिंदू जाति और हिंदू सभ्यता की बहुत सी विशेषताएं ऋग्वेद के युग में बीज-रूप में पाई जाती हैं जिन का क्रमिक विकास ही हिंदू जाति का इतिहास है। दूसरे, जैसा कि हम ऊपर संकेत कर चुके हैं आदिम मनुष्य की मानसिक स्थिति समझने का ऋग्वेद से बढ़ कर दूसरा साधन

हमारे पास नहीं है। यदि हम मनुष्य को समझना चाहते हों, जो कि दर्शन-शास्त्र का ही नहीं ज्ञान-मात्र का उद्देश्य है, तो हमें उस के क्रमिक विकास का अध्ययन करना ही होगा। मनुष्य को किसी एक क्षण में पकड़ कर ही हम नहीं समझ सकते। मानव-बुद्धि और मानवी आकांक्षाओं की गति किस ओर है, मानव-जीवन अंततः किस ओर जा रहा है, इस को समझने के लिए मनुष्य के इतिहास का धैर्य-पूर्वक अध्ययन करना आवश्यक है। विकास-सिद्धांत आजकल के मनुष्य के रक्त में समा गया है। इस कारण आधुनिक विद्वान प्रत्येक शास्त्र और प्रत्येक संस्था का इतिहास खोजते हैं। पाठकों को याद रखना चाहिए कि योरुप के विद्वानों का भारतीय साहित्य की ओर आकृष्ट होने का सब से बड़ा कारण ऐतिहासिक अथवा विकासात्मक दृष्टिकोण ही है।

एक तीसरा कारण भी ऋग्वेद का अध्ययन बढ़ने का उत्पन्न हो गया है। यह कारण तुलनात्मक भाषा-विज्ञान (कंपरेटिव फ़ाइलालोजी) का आविष्कार है। संस्कृत संसार की सब से प्राचीन भाषाओं में है और उस का ग्रीक, लैटिन, फ़ारसी आदि दूसरी आर्यभाषाओं से अधिक घनिष्ठ संबंध है। वास्तव में तुलनात्मक भाषाविज्ञान की नींव तब तक ठीक से नहीं रक्खी गई थी जब तक कि योरुप में संस्कृत का प्रचार नहीं हुआ। संस्कृत साहित्य, विशेषतः वैदिक साहित्य, के ज्ञान ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान के सिद्धांतों पर प्रकाश की धारा-सी बहा दी। इन तीनों कारणों में सब से मुख्य कारण हमारे युग की ऐतिहासिक रुचि को ही समझना चाहिए।

ऋग्वेद का समय

ऋग्वेद के मंत्रों की रचना कब हुई, इस का निर्णयकरना बड़ा कठिन काम है। किंतु उन के अत्यंत प्राचीन होने में किसी को संदेह नहीं है। ऋग्वेद की प्राचीनता का अनु-मान कई प्रकार से किया जा सकता है। 'महाभारत' हिंदुओं का काफ़ी प्राचीन ग्रंथ है। डाक्टर बेल्वेल्कर का मत है कि महाभारत की मुख्य कथा बौद्धधर्म के प्रचार से पहले लिखी गई थी। बुद्ध जी का समय (५५७-

४७७ ई० पू०) है। महाभारत के कई संस्करण हुए हैं। ऐसा माना जाता है कि सब से पहले संस्करण का नाम 'जय' था जिस में कौरव-पांडवों के युद्ध का वर्णन था। दूसरा संस्करण 'भारत' कहलाया जिस में शायद २४००० श्लोक थे। उक्त डाक्टर के मत में महाभारत के यह दोनों संस्करण बौद्धधर्म से पहले के हैं। कुछ भी हो, महाभारत के मुख्य भागों का रचना-काल चौथी-पाँचवीं शताब्दी ई० पू० से बाद का नहीं माना जा सकता यद्यपि उस में कुछ न कुछ मिलावट तीसरी-चौथी शताब्दी ईस्वी तक होती रही। महाभारत से तथा बौद्धधर्म से भी उपनिषद् प्राचीन हैं और ब्राह्मण-ग्रंथ उपनिषदों से भी प्राचीन हैं। इस प्रकार वैदिक संहिताओं का समय, और उन में भी ऋग्वेद का समय, काफ़ी पीछे पहुँच जाता है। ऋग्वेद की प्राचीनता दूसरे प्रकार से भी सिद्ध होती है। महाभाष्यकार पतंजलि का समय दूसरी शताब्दी ई० पू० है। पाणिनि, जिन की अष्टाध्यायी पर 'महा-भाष्य' नाम की टीका लिखी गई थी, पतंजलि से प्राचीन हैं। यास्क, जिन्हों ने निरुक्त लिखा है, पाणिनि से कहीं अधिक प्राचीन हैं। यास्क ने 'निघंटु' पर टीका लिखी है जिसे निरुक्त कहते हैं। निघंटु को वैदिक शब्दों का कोष समझना चाहिए। निरुक्तकार सब शब्दों को धातु-मूलक मानते हैं। वर्तमान निरुक्त के लेखक यास्क ने प्राचीन निरुक्तकारों का उल्लेख किया है। इस का मतलब यह है कि वर्तमान निरुक्त लिखे जाने के समय तक अनेक निरुक्त-कार हो चुके थे। निरुक्त में एक कौत्स नामक प्रतिपक्षी का कहना है कि वेदमंत्र निरर्थक हैं। निरुक्तकार ने इस का खंडन किया है। इस विवाद से यह स्पष्ट हो जाता है कि निरुक्तकार के समय तक वेदमंत्रों की व्याख्या के विषय में बहुत मतभेद हो चुका था, यहां तक कि कुछ लोग वेदमंत्रों का अर्थ करने के ही विरुद्ध थे। उस समय तक वेदमंत्र काफ़ी पुराने हो चुके थे। वेदमंत्रों के किस प्रकार अनेक अर्थ होने लगे थे, यह निरुक्तकार यास्क ने उदाहरण देकर बतलाया है। एक जगह वे लिखते हैं:—

तत्को वृत्रः। मेघ इति नैरुक्ताः। त्वाष्ट्रोऽसुर इत्यैतिहासिकाः। अपाञ्च

ज्योतिषश्च मिश्रीभावकर्मणा वर्षकर्म जायते। तत्र उपमार्थेन युद्धवर्णा भवंति। अहिवत्तु खलु मंत्रवर्णाः ब्राह्मणवादाश्च। विवृद्ध्या शरीरस्य स्रोतांसि निवारयाञ्चकार। तस्मिन्हते प्रसस्यन्दिरे आपः।

ऋग्वेद में वर्णन मिलता है कि वृत्र को मारकर इंद्र ने जल बरसाया। "यह वृत्र कौन है? निरुक्तकारों का मत है कि वृत्र मेघ को कहते हैं। ऐतिहासिकों का मत है कि वृत्र नाम का त्वष्टा का पुत्र एक असुर था। जल और तेज (प्रकाश) के मिलने से वर्षा होती है जिस का युद्ध के रूपक में वर्णन करते हैं। मंत्र और ब्राह्मण वृत्र को सर्प वर्णित करते हैं। अपने शरीर को बढ़ा कर उस ने पानी को रोक दिया। उस के मारे जाने पर जल निकल पड़ा।"

आधुनिक काल में स्वामी दयानंद ने वेदों का अर्थ कुछ-कुछ निरुक्तकार की तरह करने की कोशिश की है। उन के मत में भी वेदों में ऐतिहासिक कथाएं नहीं हैं।

वेदों की प्राचीनता का इस प्रकार अनुमान कर लेने पर उन के ठीक समय का प्रश्न दार्शनिक दृष्टि से विशेष महत्व का नहीं है। हम पाठकों को दो-तीन विद्वानों का मत सुना कर संतोष करेंगे। लोकमान्य श्री बालगंगाधर तिलक ने अपने 'ओरायन' ग्रंथ में गणित द्वारा ऋग्वेद का समय ४५०० ई० पू० सिद्ध किया है। जर्मन विद्वान याकोबी भी ऋग्वेद का यही काल मानते हैं यद्यपि दूसरे कारणों से। कुछ भारतीय विद्वान ऋग्वेद का समय ३००० ई० पू० बतलाते हैं। सर राधाकृष्णन् का विचार है कि ऋग्वेद को पंद्रहवीं शताब्दी ई० पू० में रक्खा जाय तो उसे ज़्यादा प्राचीन बताने का आक्षेप न हो सकेगा। इन सम्मतियों के होते हुए पाठक स्वयं अपना मत निर्धारित कर लें।

ऋग्वेद का परिचय

१—ऋग्वेद का बाह्य आकार

वेद नाम एक पुस्तक का नहीं बल्कि पुस्तकों के समूह का है। वेद से मतलब पुस्तकों के एक कुटुंब से समझना चाहिए। वस्तुतः वेद संहिता-भाग को कहना चाहिए। कात्यायन के मत में मंत्रों और ब्राह्मणों की वेद संज्ञा है। इस का अर्थ यह हो

सकता है कि उपनिषद् वेद नहीं हैं। स्वामी दयानंद के मत में ब्राह्मण भी वेद नहीं हैं। वास्तव में ब्राह्मण-ग्रंथ वेदों की सब से प्राचीन व्याख्याएं या टीकाएं हैं। आधुनिक स्कालर भी संहिता-भाग को ही वेद नाम से पुकारते हैं। परंतु आस्तिक विचारकों के विश्वासानुसार वेद से मतलब संहिता अर्थात् मंत्र-भाग, उस का ब्राह्मण (एक या अनेक), उस से संबद्ध आरण्यक, और उपनिषद्—इन सब से है। ब्राह्मणों के अंतिम भाग को ही आरण्यक कहते हैं, और आरण्यकों के अंतिम भाग को उपनिषद्। संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् अपौरुषेय या ईश्वरकृत माने जाते हैं। प्रत्येक वैदिक संहिता की अनेक शाखाएं पाई जाती हैं। हर शाखा के मंत्र-पाठ और क्रमों में कुछ-कुछ भेद होता है। ऋग्वेद की पाँच शाखाएं उपलब्ध हैं अर्थात् शाकल, वाष्कल, आश्वलायन, कौषीतकी, या सांख्यायन और ऐतरेय। शुक्ल-यजुर्वेद की दो शाखाएं मिलती हैं, काण्व और माध्यन्दिन। इसी प्रकार कृष्ण-यजुर्वेद की पाँच, सामवेद की तीन और अथर्ववेद की दो शाखाएं उपलब्ध हैं। बहुत-सी शाखाएं नष्ट हो गईं। सिद्धांत में प्रत्येक शाखा का ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् होना चाहिए; प्रत्येक शाखा से संबद्ध श्रौत-सूत्र, धर्म-सूत्र और गृह्य-सूत्र होने चाहिए। छः अंगों अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष का होना भी आवश्यक है। श्रौतसूत्रों में सोमयाग, अश्वमेध आदि का वर्णन है। धर्मसूत्र वर्णाश्रम धर्म बतलाते हैं और गृह्यसूत्रों में उपनयन, विवाह आदि संस्कार करने की विधियां वर्णित हैं। शिक्षा नाम के वेदांग में शब्दों का उच्चारण सिखाया जाता है, कल्प में यज्ञों की विधियां। निरुक्त का वर्णन हम कर ही चुके हैं। व्याकरण, छंद-शास्त्र और ज्योतिष शास्त्र तो सभी जानते हैं। प्राचीन-काल में वेद कंठ में रक्खे जाते थे और गुरु-शिष्य-परंपरा से उन के स्वरूप की रक्षा होती थी। बाद को जब शिष्यों की बुद्धि मंद होने लगी तब उपदेश करते-करते थक कर (उपदेशाय ग्लायंतः) ऋषियों ने वेदों को लेखनी-बद्ध कर डाला।

वेद-मंत्रों का संकलन बड़े सुंदर और वैज्ञानिक ढंग से किया गया है। इस के आगे हम ऋग्वेद का ही विशेष वर्णन करेंगे। एक विषय के कुछ मंत्रों के समूह को सूक्त या स्तोत्र कहते हैं। ऋग्वेद इसी प्रकार के सूक्तों का संग्रह है। ऋग्वेद के कुल सूक्तों की संख्या लगभग १०२८ है। सब से बड़े सूक्त में १६४ मंत्र हैं और सब से छोटे में केवल दो। कुल मंत्रों की संख्या लगभग १०,००० है। संपूर्ण ऋग्वेद मंडलों, अनुवाकों, सूक्तों और मंत्रों में विभक्त है। ऋग्वेद में १० मंडल हैं। प्रत्येक मंडल में कई अनुवाक होते हैं, और हर अनुवाक में अनेक सूक्त। दूसरे प्रकार का विभाग भी है जिस में कुल ऋग्वेद को अष्टकों में, हर अष्टक को वर्गों में और हर वर्ग को सूक्तों में बाँटते हैं। परंतु पहला विभाग ही ज़्यादा प्रसिद्ध है। ऋग्वेद के अधिकांश मंडल एक-एक ऋषि और उस के कुटुंब से संबद्ध हैं। इस का अर्थ यह है कि किसी मंडल विशेष की रचना या ईश्वर से प्राप्ति एक विशेष ऋषि और उस के कुटुंबियों के द्वारा या माध्यम से हुई। आस्तिक हिंदू ऋषियों को मंत्र-द्रष्टा कहते हैं; मंत्र-रचयिता नहीं। ऋग्वेद का दूसरा, तीसरा, चौथा, पाँचवां, छठा, सातवां, आठवां मंडल क्रमशः गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वशिष्ठ और कण्व नाम के ऋषियों से संबद्ध है। शेष मंडलों में कई ऋषियों के नाम पाए जाते हैं। वेद को छः अंगों सहित पढ़ना चाहिए। किसी मंत्र को उस के ऋषि, छंद और देवता को बिना जाने पढ़ने से पाप होता है।

२—ऋग्वेद की विषय-वस्तु

ऋग्वेद के अधिकांश सूक्त देवताओं की स्तुति में लिखे गए हैं। इन सूक्तों का स्थान भी विशेष नियमों के अधीन है। आगे लिखा हुआ क्रम दूसरे से सातवें मंडल तक पाया जाता है। शेष मंडलों में ऐसा कोई नियम नहीं पाला गया है। सब से पहले अग्नि की स्तुति में लिखे हुए सूक्त आते हैं, फिर इंद्र के सूक्त। उस के बाद किसी भी देवता के स्तुति-विषयक सूक्त, जिन की संख्या सब से ज़्यादा हो, रक्खे जाते हैं। अगर दो सूक्तों में बराबर मंत्र हों तो

बड़े छंद वाला सूक्त पहले लिखा जायगा, अन्यथा ज़्यादा मंत्रों वाला सूक्त पहले लिखा जाता है। लगभग ७००-८०० सूक्तों का विषय देव-स्तुति है; बाक़ी २००-३०० सूक्तों में दूसरे विषय आ जाते हैं।

कुछ सूक्तों में शपथ, शाप, जादू, टोना आदि का वर्णन है। इन्हें 'अभिचार-सूक्त' कहते हैं। ऋग्वेद में इन की संख्या बहुत कम है; परंतु अथर्ववेद में इन का बाहुल्य है।

कुछ सूक्तों में विवाह, मृत्यु आदि संस्कारों का वर्णन है। दसवें मंडल में विवाह-संबंधी सुंदर गीत हैं। उपनयन संस्कार का नाम ऋग्वेद में नहीं है।

कुछ सूक्तों को पहेली-सूक्त कहा जा सकता है। 'वह कौन है जो अपनी माता का प्रेमी है, जो अपनी बहन का जार है?' उत्तर—'सूर्य'। द्युलोक के बालक होने के कारण उषा और सूर्य भाई-बहिन हैं जिन में प्रेम-संबंध है। सूर्य द्यौः (आकाश) का प्रेमी भी है। 'माता के प्रेमी से मैं ने प्रार्थना की, बहिन का जार मेरी प्रार्थना सुने; इंद्र का भाई और मेरा मित्र;' (मातुर्दिधिषुमब्रवम्, स्वसुर्जारः शृणोतु मे। भ्राता इंद्रस्य सखा मम), इत्यादि। गणित-संबंधी पहेलियां महत्वपूर्ण हैं।

ऋग्वेद में एक द्यूत-सूक्त है, एक सूक्त में मेढकों का वर्णन है, एक अरण्य-सूक्त या वन-सूक्त है। चौथे मंडल में घुड़दौड़ का ज़िक्र है। सरमा और पणियों की कहानी शायद नाटक की भाँति खेली जाती थी। सरमा एक कुतिया थी जो देवताओं के गायों की रक्षा करती थी। एक बार पणि लोग गायों को चुरा कर ले गए; सरमा को पता लगाने भेजा गया। सरमा ने गायों को खोज निकाला और इंद्र उन्हें छुड़ा लाए। ऋग्वेद में एक कवयित्री का वर्णन है जिस का नाम घोषा था। उस के शरीर में कुछ दोष थे जिन्हें उस ने अश्विनीकुमारों की प्रार्थना करके ठीक करा लिया। घोषा के अतिरिक्त विश्ववरा, वाक्, लोपामुद्रा आदि स्त्री-कवियों के नाम ऋग्वेद में आते हैं।

यज्ञों के अवसर पर ऋत्विक्-लोग देवताओं की स्तुतियां गाते थे। ऋग्वेद को जानने वाला ऋत्विक् 'होता', यजुर्वेद को जानने वाला 'अध्वर्यु', और सामवेद को जानने वाला 'उद्गाता' कहलाता था। अथर्ववेद के ऋत्विक् को 'ब्रह्मा' कहते थे।

वैदिक काल के लोग आशावादी थे, वे विजेता होकर भारतवर्ष में आए थे। जीवन का आनंद, जीवन का संभोग ही उन का ध्येय था। 'हम सौ वर्ष तक देखें, सौ वर्ष तक सुनें, और सौ वर्ष तक बलवान बन कर जीते रहें।' 'हमारे अच्छी संतान हो, हम संपत्तिवान् हों। हे अग्नि! हमें अच्छे रास्ते पर चलाओ ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिए (अग्ने नय सुपथा राये अस्मान्, विश्वानि देव वयुनानि विद्वान्)।' इस प्रकार की उन की प्रार्थना होती थी। मृत्यु पर विचार करना उन्हों ने शुरू नहीं किया था। उन का हृदय विजय के उल्लास से भरा रहता था। वे यज्ञ करते थे, दान करते थे और सोमपान करते थे। दुःख और निराशा की भावनाओं से उन का हृदय कलुषित नहीं होता था। उन की उषा प्रभात में सोना बखेरा करती थी, उन की अग्नि उन का संदेश देवताओं तक पहुँचाती थी। इंद्र युद्ध में उन की रक्षा करता था और पर्जन्य उन के खेतों को लहलहाता रखता था। उस समय की स्त्रियों को काफ़ी स्वतंत्रता थी; उन के बिना कोई यज्ञ, कोई उत्सव पूरा न हो सकता था। आर्य लोगों का विश्वास था कि वे मर कर अपने पितरों के पास पहुँच जायँगे। देवता लोग अमर हैं, सोमपान करके, यज्ञ करके हम भी अमर हो जायँ—यह उन की अभिलाषा और विश्वास था।

भारत के आर्यों की निरीक्षण-शक्ति तीव्र थी, उन के ज्योतिष-संबंधी आविष्कार इस का प्रमाण हैं। वे स्वभाव से ही प्रकृति-प्रेमी और सौंदर्य-उपासक थे। वे प्राकृतिक शक्तियों और समाज दोनों में नियमों की व्यापकता देखना चाहते थे। प्रकृति के नियमित गति-परिवर्तनों की व्याख्या कैसे की जाय? आर्यों ने कहा कि प्राकृतिक घटनाओं के पीछे अधिष्ठाता

देवताओं की शक्ति है। उन्हों ने प्राकृतिक पदार्थों में देव-भाव और मनुष्यत्व का आरोपण किया। प्राकृतिक घटनाओं और पदार्थों को देवताओं के नाम से संबोधन करते हुए भी आर्य लोग उन घटनाओं और पदार्थों के प्राकृतिक होने को नहीं भूले। देवताओं की उपासना में वे प्रकृति को न भुला सके। प्राकृतिक शक्तियों में उन का व्यक्तित्व का आरोपण अपूर्ण रहा। इस घटना के महत्त्वपूर्ण परिणाम पर हम बाद को दृष्टिपात करेंगे।

ऋग्वेद के देवताओं को विद्वानों ने तीन श्रेणियों में विभाजित किया है :—

ऋग्वेद के देवता

(१) आकाश या द्यौः के देवता—इस श्रेणी के देवता बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। द्यौः, वरुण, सौरमंडल के देवता (सूर्य, सविता, पूषन् और विष्णु) और उषा मुख्य हैं।

(२) अंतरिक्ष या वायुमंडल के देवता—जैसे इंद्र, मरुत् और पर्जन्य।

(३) पृथ्वी के देवता—जैसे अग्नि और सोम। इन के अतिरिक्त उत्तर काल में जब यज्ञों की महिमा कुछ ज़्यादा बढ़ गई, तब यज्ञ-पात्र मूसल आदि उपयोगी पदार्थ भी देवता होने लगे। कुछ भाव पदार्थ जैसे श्रद्धा, स्तुति आदि में भी देवत्व का आरोपण कर दिया गया। ब्रह्मणस्पति स्तुति का देवता है।

नीचे हम कुछ महत्त्वपूर्ण देवताओं का वर्णन देते हैं।

पाठकों को याद रखना चाहिए कि वैदिक देवताओं और हिंदू देवताओं में कुछ भेद है। वैदिक काल में जो देवता प्रसिद्ध थे वे धीरे-धीरे कम प्रसिद्ध होते गए। वैदिक काल में ब्रह्मा-विष्णु-महेश अपने वर्तमान रूप में सर्वथा अज्ञात थे। राम और कृष्ण का तो वेदों में ज़िक्र हो ही नहीं सकता, क्योंकि वे बाद के इतिहास के व्यक्ति हैं। वैदिक युग के प्रारंभिक दिनों का सब से प्रसिद्ध देवता वरुण है।

वरुण

वरुण वेदों का शांतिप्रिय देवता है। वह विश्व का नियंता और शासक है। अपने स्थान में गुप्तचरों से घिरे हुए बैठ कर वरुण जगत का शासन करता

है।[1] वरुण को प्रसन्न करने के लिए अपने नैतिक-जीवन को पवित्र बनाना आवश्यक है। वरुण का नाम धृत-व्रत है। वह प्राकृतिक और नैतिक नियमों का संरक्षक है। धर्म के विरुद्ध चलनेवालों को वरुण से दंड मिलता है। प्रकृति और नैतिक जीवन दोनों पर अखंड नियमों का आधिपत्य है। नियमों की व्यापकता को ऋग्वेद के ऋषियों ने 'ऋत' नाम से अभिहित किया है। ऋत से ही सारा संसार उत्पन्न होता है। वरुण ऋत का रक्षक है (गोपा ऋतस्य)। मनुष्यों के अच्छे-बुरे कर्म वरुण से छिपे नहीं रहते। वह सर्वज्ञ है। जो आकाश के उड़ने वाले पक्षियों का मार्ग जानता है, जो समुद्र में चलने वाली नावों को जानता है। जो वायु की गति को जानता है,[2] वह वरुण हमें सन्मार्ग पर चलाए। वरुण बारह मासों को जानता है और जो लौंद का महीना पैदा हो जाता है उसे भी जानता है।[3]

मित्र नामक सौर देवता वरुण के हमेशा साथ रहता है। वेद के कुछ सूक्त 'मित्रावरुण' की स्तुति में हैं। वरुण का धात्वर्थ है 'आच्छादित करने वाला'। वरुण तारों से भरे आकाश को आच्छादित करता है। इस प्रकार वरुण प्रकृति से संबद्ध हो जाता है।

सौर-मंडल के देवता

सौर-मंडल से संबद्ध देवता सूर्य, सविता, पूषन और विष्णु हैं। मित्र भी सौर देवताओं में सम्मिलित हैं। इन देवताओं में विष्णु सब से मुख्य हैं। भारत के उत्तरकालीन धार्मिक इतिहास में विष्णु सब से बड़े देवता बन जाते हैं, पर ऋग्वेद में विष्णुका स्थान इंद्र और वरुण से नीचे है। विष्णु की सब से बड़ी विशेषता उन के तीन चरण हैं। अपने पाद-क्षेपों में विष्णु अर्थात् सूर्य पृथ्वी आकाश और पाताल तीनों लोकों में घूम लेते हैं। वामनावतार की कथा का उद्गम ऋग्वेद के विष्णु-संबंधी तीन चरणों का यह वर्णन ही है। विष्णु

[1] ऋ० १। २५। १०

[2] ऋ० १। २५। ७, ९

[3] ऋ० १। २५। ८

को उरु क्रम या दूर जाने वाला कहा गया है। विष्णु 'उरुगाय'[1] हैं, उन की बहुत सी प्रशंसा होती है। विष्णु के तीन चरणों में समस्त संसार रहता रहता है, विष्णु के चरणों में मधु का निर्झर है।[2] विष्णु तीनों लोकों को धारण करते हैं। विष्णु का परम-पद ख़ूब भासमान (प्रकाशमय) रहता है। देवताओं के लिए यज्ञ करने वाले मनुष्य विष्णु के लोक में जाते हैं।

आकाश के देवताओं में उषा का एक विशेष स्थान है। उषा स्त्री-देवता है।

उषा

ऋग्वेद की दूसरी स्त्री-देवता अदिति है। जो आदित्यों की जननी है। ऋग्वेद के कुछ अत्यंत सुंदर सूक्त उषा की प्रशंसा में लिखे गए हैं। उषा सूर्य की प्रियतमा है। वह उसे अपना वक्षःस्थल दिखाती है। वह अचलयौवना तथा अमर है और अमरता का वरदान देनेवाली है। नित्य नई रहने वाली उषा मरणशील मनुष्यों के हृदय में कभी-कभी अस्तित्व-संबंधी गंभीर और करुण भाव उत्पन्न कर देती है। उषा स्वर्ग का दरवाज़ा खोल देती है। वह रात्रि की बहन है। नीचे हम अनेक सुंदर उषा-सूक्तों में से एक देते हैं। यह सूक्त ऋग्वेद के तीसरे मंडल का ६१ वां सूक्त है। ऋषि विश्वामित्र हैं; और छंद 'त्रिष्टुप' है। उत्तर-संस्कृत साहित्य के इंद्रवज्रा, उपेंद्रवज्रा आदि छंद इसी से निकले हैं।

हे उषे देवी यशस्विनि बुद्धि की बेला,
हे विभव-शालिनि हमारा हो स्तवन स्वीकार।
अहह प्राचीने तुम्हारा है अचल यौवन,
विश्व-कमनीया नियम से कर रहीं पद-चार।
स्वर्णमय रथ पर उदित होतीं अमर देवी,
मुक्त तुम करतीं विहंगों का सुरीला गान।
आशु-गति, ओजस्विनी रवि की कनक-वर्णो
रश्मियां करतीं वहन सुंदर तुम्हारा यान।

---

[1] ऋ० १।१५४।१
[2] ऋ० १।१५४।५

विश्व के सम्मुख अमरता की पताका-सी
ऊर्ध्व-नभ में नित्य तुम होतीं उषे शोभित।
अयि सदा नव-यौवने इस एक ही पथ में,
चक्र-सी घूमो निरंतर कर भुवन मोहित।
तिमिर का अंचल हटाती रवि-प्रिया सुंदर,
भूमि-नभ के बीच जब करती चरण-निक्षेप।
सुभग अंगों की प्रभा से विमल देवी के
जगत हो उठता प्रकाशित निमिष भर में एक।
सामने आभामयी के सब प्रणति के साथ,
ला धरो यज्ञान्न का, हवि का मधुर उपहार।
रोचना, रमणीय रूपा की मनोहर कांति,
ढालती आकाश में आलोक की मधु-धार।
दीखती जो पृथक् नभ से ज्योति से अपनी,
नियम-शीला जो दिखाती विविध रूप-विलास।
आ रही आलोक-शालिनि अब उषा वह ही,
अग्नि! जाकर माँग लो ऐश्वर्य उस के पास।
दिवस का आरंभ दिनकर है उषा जिस की,
अवनि-नभ के बीच देखो आ गया द्युतिमान।
वरुण को, आदित्य की ज्योतिर्मयी माया,
कर रही है अखिल जग में स्वर्ण-शोभा-दान।

ऋग्वेद के सूक्त एक ही समय में नहीं लिखे गए हैं। दस हज़ार से भी अधिक मंत्रों की रचना में अवश्य ही काफ़ी समय लगा होगा। जब तक आर्य शांति-पूर्वक रहे तब तक उन में वरुण का अधिक मान रहा। युद्धकी आवश्यकताओं ने वज्र और बिजली को धारण करनेवाले इंद्र को अधिक प्रसिद्ध कर दिया। इंद्र सौ प्रतिशत युद्ध का देवता है। 'जिस ने उत्पन्न होते ही यज्ञ

इंद्र

करके अपने को सब देवताओं के ऊपर बिठा दिया। जिस के भय से आकाश और पृथ्वी काँपते हैं, हे मनुष्यो, वह बलशाली इंद्र है। जिस ने काँपती हुई पृथ्वी को स्थिर किया, जिस ने कुपित पर्वतों को रोका, जो अंतरिक्ष और द्यौः को धारण करता है, वह इंद्र है।[1] जिस ने वृत्र नाम के सर्प को मार कर सात नदियों को बहाया, जिस ने पत्थरों को रगड़ कर अग्नि पैदा की, जो युद्ध में भयंकर है, हे मनुष्यो वह इंद्र है। इंद्र की सहायता के बिना कोई युद्ध में नहीं जीत सकता। युद्धस्थल में आर्त होकर लोग इंद्र को पुकारते हैं। सुदास नाम के आर्य सामंत को शत्रुओं ने घेर लिया पर वह इंद्र की पूजा करता था, इस लिए उस की जीत हुई।[2] इंद्र को पृथ्वी और आकाश नमस्कार करते हैं। उस के भय से पर्वत काँपते हैं। वह सोमपान करने वाला है। वह वज्र-बाहु है और वज्र-हस्त है। 'जो सोम का रस निकालता है, जो सोमरस को पकाता है, उसे इंद्र ऐश्वर्य देता है। हे इंद्र! हम तुम्हारे प्रिय भक्त हैं। हम वीर पुत्रों सहित तुम्हारी स्तुति करें।' इंद्र को ऋग्वेद में कहीं-कहीं अहल्या-जार कहा गया है। मरुद्गण इंद्र के सहचर हैं।

अंतरिक्ष के देवताओं में हम ने सिर्फ़ इंद्र का वर्णन किया है। पृथ्वी के देवताओं में अग्नि मुख्य है। हम कह चुके हैं कि ऋग्वेद के कुछ मंडलों में अग्नि-संबंधी सूक्त सब से पहले आते हैं। अग्नि यज्ञ का पुरोहित और देवता है। अग्नि वह दूत है जो पृथ्वी से आकाश तक घूमता है। अरणियों में उस का निवास-स्थान है। वह देवताओं तक यज्ञ का हवि पहुँचाता है। घृतमय उस के अंग हैं, मक्खन का उस का मुख है। ऋग्वेद में अग्नि की नाई से तुलना की गई है, जो पृथ्वी के मुख से घास-पात दूर कर देता है।

अग्नि

---

[1] ऋ० मं० २, सूक्त १२

[2] ऋ० मं० ७, सूक्त ८३

हमने विस्तार-भय से कुछ ही देवताओं का वर्णन किया है। आकाश के देवताओं में अश्विनीकुमारों का भी स्थान है। इन्हें हमेशा द्विवचन में संबोधित किया जाता है। मित्र और वरुण, तथा इंद्र और वरुण का भी कहीं-कहीं साथ-साथ वर्णन होता है। ऋग्वेद के अंतिम भागों में प्रजापति नामक देवता का महत्त्व बढ़ने लगता है; आगे चल कर यही प्रजापति ब्रह्मा बन जाते हैं। ऋग्वेद का "कस्मै देवाय" सूक्त प्रजापति पर लिखा गया है, यह भारतीय विद्वानों का मत है। सायण के अनुसार 'क' का अर्थ प्रजापति है। आधुनिक योरपीय विद्वान् 'कस्मै' का अर्थ "किस को' करते हैं। "हम किसे नमस्कार करें (कस्मै देवाय हविषा विधेम) ?" उन का कथन है कि यह सूक्त[1] इस बात का द्योतक है कि आर्यों के हृदय में ईश्वर की सत्ता के संबंध में संकल्प-विकल्प होने लगे थे।

एक देववाद की ओर

ऋग्वेद के प्रारंभिक ऋषियों ने जगत को आकाश, अंतरिक्ष और पृथ्वी-लोक में विभक्त करके उन में भिन्न-भिन्न देवताओं को प्रतिष्ठित कर डाला था। विश्व को इस प्रकार खंड-खंड कर डालना समीचीन नहीं है, यह तथ्य ऋग्वेद के ऋषियों से छिपा न रह सका। ऋग्वेद के मनीषी कवि बहुत से देवताओं से अधिक काल तक संतुष्ट न रह सके। हम पहले कह चुके हैं कि आर्यों का प्रकृति में व्यक्तित्व का आरोपण अपूर्ण रहा था। प्रकृति के सब पदार्थ और घट-नाएं एक-दूसरे से संबद्ध हैं, इस लिए उन के अधिष्ठाता देवताओं की शक्तियों को मिला कर एक महाशक्ति की कल्पना का उत्पन्न होना, स्वाभा-विक ही था। एक और प्रवृत्ति आर्य कवियों में थी जो उन्हें एक देव-वाद की ओर ले गई। किसी देवता की स्तुति करते समय कवि-भक्त अन्य देवताओं को भूल-सा जाता है और अपने तत्कालीन आराध्य-देवता को सब से बड़ा समझने और वर्णन करने लगता है। वैदिक कवियों की एक

---

[1] ऋ मं० १०, सूक्त १२१

देवता को सब देवताओं से बढ़ा देने की इस प्रवृत्ति को कुछ पश्चिमी विद्वानों ने (हेनोथीइज़्म) नाम दिया है। दूसरे विद्वानों ने इसे (अपारचूनिस्ट मानोथीइज़्म) कह कर पुकारा है। हिंदी में हम इस का अनुवाद 'अवसरिक एकदेववाद' कर सकते हैं। भक्ति के आवेश में अन्य देवताओं को भूल जाने का अवसर पाते ही वैदिक कवि एक का उपासक बन जाता है।

अवसरिक एकदेववाद से एकेश्वरवाद की ओर संक्रमण (ट्रानज़िशन) वैदिक ऋषियों के लिए कठिन बात न थी। ऋग्वेद के कई मंत्र इस बात की साक्षी देते हैं कि आर्यों में एक ईश्वर की भावना इतने प्राचीन काल में उत्पन्न हो गई थी। एक प्रसिद्ध मंत्र ईश्वर की भावना को इस प्रकार व्यक्त करता है—

एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति
अग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ।[1]

अर्थात् एक ही को विद्वान् लोग बहुत प्रकार से पुकारते हैं; कोई उसे अग्नि कहता है, कोई यम और कोई मातरिश्वा (वायु)। यह आर्यों का दार्शनिक एकदेववाद है। अवसरिक एकदेववाद को हम कावयिक अथवा साहित्यिक एकदेव-वाद कह सकते हैं।

नासदीय सूक्त

परंतु एक-ईश्वरवाद अथवा एकदेववाद ही दर्शनशास्त्र का अंतिम शब्द नहीं है। यदि जगत ईश्वर से सर्वथा भिन्न है तो उन दोनों में कोई आंतरिक संबंध नहीं हो सकता। यदि ईश्वर और जगत में विजातीयता है तो हम एक को दूसरे का नियंता कैसे कह सकते हैं? जगत के क्रम और नियमबद्धता के लिए एक जगत से बाहर का पदार्थ उत्तरदायी नहीं हो सकता। आश्चर्य तो यह है कि भारतीय विचारकों ने ईसा से हज़ारों वर्ष पहले दर्शनशास्त्र के इस अत्यंत गूढ़ सिद्धांत का अन्वेषण कर डाला था। ऋग्वेद के 'नासदीय सूक्त' की गणना विश्व-साहित्य के 'आश्चर्यों' में होनी चाहिए। ऋग्वेद के बाद के

[1] ऋग्वेद, १। १४४। ४६

तीन चार हज़ार वर्षों में सृष्टि और प्रलय की रहस्य-भावना से आकुल होकर पूर्व या पश्चिम के किसी कवि ने नासदीय सूक्त से अधिक सुंदर या उतनी सुंदर भी कविता की रचना की हो, यह मुझे ज्ञात नहीं है। काव्य और दर्शन दोनों की ऊँची से ऊँची उड़ानें इस सूक्त में अभिव्यक्त हुई हैं। यदि आज भारतवासी अपने वेदों और उन के दार्शनिक सिद्धांतों पर गर्व करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

इस भावाकुल रहस्यपूर्ण सूक्त का अनुवाद करने की चेष्टा अनेक लेखकों और कवियों ने की है। अंग्रेज़ी में इस के कई पद्यानुवाद हैं। सूक्त के कुछ पद तो सचमुच अपने गहन संकेतों से मस्तिष्क को निगूढ़ भाव-जाल में फँसा देते हैं। क्योंकि मूल सूक्त तक बहुत से पाठकों की पहुँच न हो सकेगी, इस लिए हम नीचे उक्त सूक्त[1] का भावानुवाद देने का दुस्साहस करते हैं।

न सत् था न असत् उस काल था
न रज थी न गगन का शून्य था
ढक रहा था क्या? किस को? कहां,
सलिल के किस गहरे गर्भ में,
मृत्यु थी न अमरता थी कहीं
दिन न था, न कहीं पर थी निशा
"एक" वह लेता बस साँस था
पवन थी न कहीं कुछ और था।
तिमिर था तम से आच्छन्न हां!
सलिल से यह सब कुछ था ढका
बीज लघु था गुप्त पड़ा कहीं
तपस् से जो संवर्द्धित हुआ।
जग उठी उस में द्रुत वासना
(था मनोभव-बीज यही अहो)

[1] ऋ०, मंडल १०, सूक्त २९

सत् असत् का है बंधन यही
बस यही कोविद कवि कह सके !
किरण जो तिरछी प्रसरित हुई
वह कहां थी ? ऊपर या तले ?
महिम रेतस् का आधार था
उपरि था संकल्प, स्वधा तले !
कौन जाने, कौन बता सके
कहां से यह सृष्टि उदित हुई
देवगण आए सब बाद ही
कह सके फिर कौन रहस्य यह ?
सृष्टि यह किस से निःसृत हुई,
कब बनी ? अथवा न कभी बनी ?
ऊर्ध्व - नभ - वासी अध्यक्ष भी
जानता इस को, कि न जानता !!

इस सूक्त में विश्व की एकता की भावना हम स्पष्ट-रूप में व्यक्त हुई पाते हैं। आरंभ की छः पंक्तियों में वैदिक कवि कहता है कि आरंभ में कुछ भी नहीं था अथवा, जो कुछ था उसे सत् असत् आदि नामों से नहीं पुकारा जा सकता। परंतु 'कुछ नहीं' से तो 'कुछ' की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कवि कहता है कि उस समय वह "एक" था जो बिना हवा के अपनी शक्ति से साँस ले रहा था। उस समय अंधकार अंधकार में लीन था। मानो सब चीज़ें पानी के गर्भ में थीं। न जाने कैसे उस एक में काम-बीज का उद्भव हुआ जिस से सारे संसार की सृष्टि हुई। यह सृष्टि कब और कहां से उत्थित हो पड़ी, इसे कौन बता सकता है ? ऊँचे आकाश में जो जगत का अध्यक्ष है वह भी, इस सृष्टि-रहस्य को जानता है या नहीं, कौन कहे ?

एकदेववाद और एकेश्वरवाद से भी असंतुष्ट होकर वैदिक ऋषियों ने

विश्व की अनेकता में एकता को देखा। एक ही सूत्र (धागे) में संसार की सारी वस्तुएं पिरोई हुई हैं। विभिन्न घटनाएं नियमों के अधीन हैं और वे नियम एक दूसरे से संबद्ध हैं। यह वैदिक अद्वैतवाद या एकात्मवाद उपनिषदों में और भी स्पष्ट रूप में पुष्पित और पल्लवित हुआ। वैदिक अद्वैत के विषय में पॉल डासन[1] नामक विद्वान कहते हैं है कि भारत के विचारक दार्शनिक मार्ग से विश्व की एकता के सिद्धांत पर पहुँचे। मैक्समूलर की सम्मति में ऋग्वेद के मंत्रों के संग्रह से पहले ही आर्यों की यह धारणा बन चुकी थी कि विश्व-ब्रह्मांड में एक ही अंतिम तत्त्व है।

ऋग्वेद के एक सूक्त का वर्णन हम और करेंगे। ऋग्वेद का 'पुरुष-सूक्त'[2] नासदीय सूक्त से ही कम प्रसिद्ध है। इस सूक्त में पुरुष के बलिदान से संसार की सृष्टि बताई गई है। एक आदिम तत्त्व की भावना यहां भी प्रबल है। यज्ञ करने की इच्छावाले देवताओं ने पुरुष पशु को बाँध दिया (देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्)। उस पुरुष से विराट् उत्पन्न हुआ और विराट् से पुरुष; दोनों ने एक दूसरे को उत्पन्न किया।

पुरुष का वर्णन बड़ा कवित्वपूर्ण है। पुरुष के हज़ारों सिर हैं, हज़ारों आँखें और हज़ारों चरण, वह पृथ्वी को चारों ओर से छूकर (व्याप्त करके) भी दस अंगुल ऊँचा रहा। पुरुष के एक चरण में सारा ब्रह्मांड समाया हुआ है और उस के तीन अमृत-भरे चरण ऊपर द्यु-लोक में स्थित हैं। भाव यह है कि पुरुष की व्यापकता विश्व-ब्रह्मांड में ही समाप्त नहीं हो जाती। जो हुआ है और जो होगा वह सब पुरुष ही है (पुरुष एवेदं सर्वं यद् भूतं यच्च भव्यम्)। ऐसी पुरुष की महिमा है, पुरुष इस से भी अधिक है। ऋग्वेद के पुरुष का वर्णन पढ़ते समय गीता के विश्वरूप का वर्णन याद आ जाता है। ब्रह्मांड की सारी उल्लेखनीय व्यक्तियां (एंटिटीज़)

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० १९६

[2] यह सूक्त यजुर्वेद में भी पाया जाता है। देखिए ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ९० और यजुर्वेद, अध्याय ३१

पुरुष से उत्पन्न हुई हैं। 'चंद्रमा उस के मन से उत्पन्न हुआ, सूर्य उस की आँख से, उस के मुख से इंद्र और अग्नि, उस की साँस से वायु। उस की नाभि से अंतरिक्ष उत्पन्न हुआ, उस के सिर से आकाश, उस के चरणों से पृथ्वी, और उस के कानों से दिशाएं।' सामाजिक संस्थाओं का स्रोत भी पुरुष ही है। 'ब्राह्मण उस का मुख था, क्षत्रिय उस की बाहें, वैश्य उस के ऊरु या जाँघें; शूद्र उस के चरणों से उत्पन्न हुए। उसी पुरुष से ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद की उत्पत्ति हुई; उसी से छंद (अथर्ववेद?) उत्पन्न हुए (ऋचः सामानि जज्ञिरे, छंदांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्माद्-जायत)।

वैदिक काल के लोगों के विषय में एक बात और कह कर हम यह प्रकरण समाप्त करेंगे। वैदिक ऋषियों ने क्रुद्ध स्वर में कुछ अपव्रत लोगों का वर्णन किया है। 'अपव्रत' का अर्थ है 'सिद्धांत-हीन' या 'नास्तिक'। वे ऐसे व्यक्तियों के लिए 'ब्रह्म-द्विष' (वेदों से घृणा करने वाले) और 'देवनिद्' (देवताओं की निंदा करने वाले) विशेषणों का प्रयोग भी करते हैं। एक इंद्र-सूक्त का हर मंत्र, 'हे मनुष्यों, उसे इंद्र समझो' इस प्रकार समाप्त होता है। सूक्त के प्रारंभ में कहा गया है—जिस के विषय में लोग पूछते हैं "वह कहां है?" इस से मालूम होता है कि इंद्र की सत्ता को न मानने वाले नास्तिक भी उस समय मौजूद थे। यह वैदिक काल के लोगों के स्वतंत्र-चेता और निर्भय विचारक होने का प्रमाण है।

अध्याय २

उपनिषदों की ओर

जब हम वैदिक काल से उपनिषत्काल की ओर संक्रमण करते हैं तब हमें एक ऐसे प्रदेश में होकर जाना पड़ता है जहां के वायुमंडल में कविता और दर्शन दोनो की गंध फीकी पड़ जाती है। ऋग्वेद के बाद यजुर्वेद और सामवेद में ही यज्ञों को महिमा बढ़ने लगती है। इन वेदों के बहुत से मंत्र ऋग्वेद से लिए गए हैं, यद्यपि उन के स्वरों और क्रमों में भेद कर दिया गया है। नए मंत्र भी ऋग्वेद की ऋचाओं के समान सुंदर और महत्व-पूर्ण नहीं हैं। यजुर्वेद के समय में यज्ञ-संबंधी कृत्रिमता बढ़ने लगती है। देवताओं से छोटी-छोटी मांगों की बार-बार आवृत्ति की जाती है और हरेक मांग या प्रार्थना के साथ कोई याज्ञिक क्रिया लगा दी जाती है। यजुर्वेद और सामवेद के लेखकों में भक्ति कम है और लोभ ज़्यादा। अथर्ववेद वास्तव में मौलिक ग्रंथ है लेकिन उस में आर्यों की अपेक्षा अनार्यों अर्थात् भारतवर्ष के आदिम निवासियों की सभ्यता और विश्वासों का ही ज़्यादा वर्णन है। अथर्ववेद के मंत्रों में जादू-टोने और मंत्र-तंत्र की बातों का बाहुल्य है परंतु यहां भी आर्यों का प्रभाव स्पष्ट है।[1] बुरे जादू की निंदा और अच्छे प्रयोगों की प्रशंसा की गई है। अनेक क्रियाएं कुटुंब और गांव में शांति फैलाने वाली हैं। इस वेद में वैद्यक-शास्त्र की भी अनेक बातें हैं जिन के आधार पर भारतीय चिकित्सा-शास्त्र का विकास हुआ। अथर्ववेद के समय में आर्य लोग अनार्य लोगों को उन के विश्वासों और धार्मिक भावनाओं सहित आत्मसात् करने की चेष्टा कर रहे थे। इस काल में भूत-

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ११९—१२२। अथर्ववेद के विषय में ऐसी सम्मति हम ने आधुनिक विद्वानों के आधार पर दी है। हमें स्वयं उक्त वेद को पढ़ने का अवसर नहीं मिला है।

प्रेतों, वृक्षों और पर्वतों की पूजा आर्य लोगों में शुरू होने लगी। कुछ प्रसिद्ध हिंदू देवताओं की उत्पत्ति आर्य और अनार्य धर्मों के सांकर्य (मेल) से हुई है। भयंकर रुद्र जो बाद को मंगलमय शिव हो गए और उन के पुत्र गणपति इसी प्रकार हिंदू देव-वर्ग (हिंदू पैंथिआन) में प्रविष्ट हुए। जैसा कि श्री राधाकृष्णन् ने लिखा है हिंदू धर्म आरंभ से ही विस्तार-शील, वर्द्धिष्णु, और परमतसहिष्णु रहा है। भारत के दार्शनिक इतिहास में अथर्व-वेद का विशेष स्थान नहीं है, यद्यपि कोई धार्मिक इतिहासकार उक्त वेद की उपेक्षा नहीं कर सकता।

ब्राह्मण-युग

ब्राह्मण-युग के ऋषियों को हम मंत्र-द्रष्टा या मंत्र-रचयिता कुछ भी नहीं कह सकते। उन्हें हम संहिता-भाग का एक-विशेष दृष्टिकोण से व्याख्याता कह सकते हैं। मंत्र-रचना का युग समाप्त हो चुका था। इस काल के आर्यों ने धार्मिक विधानों की ओर ध्यान देना प्रारंभ कर दिया था। "अब इस बात की आवश्य-कता हुई कि प्राचीन मंत्रों और ऋचाओं का धार्मिक विधानों से संबंध-स्थापित किया जाय।........इस उद्देश्य से प्रत्येक वेद के ब्राह्मण की रचना प्रारंभ हुई। यह सब गद्य में लिखे गए हैं, पर इन की लेखन-शैली में मधुरता, स्वच्छंदता और सुंदरता नहीं है। वेदों और ब्राह्मणों में मुख्य अंतर यह है कि वेदों की भाषा काव्यमय और पद्यात्मक है पर ब्राह्मणों की भाषा काव्यगुण-हीन और गद्यमय है।" (श्यामसुंदरदास)

ऋग्वेद के समय का भक्तिभाव कम हो चला था। दर्शन और धर्म दोनों से छूट कर आर्यों की रुचि कर्मकांड में बढ़ने लगी थी। ब्राह्मण ग्रंथ यज्ञों की स्तुति से भरे पड़े हैं। याज्ञिक विधानों की छोटी-छोटी बातों को ठीक-ठीक पूरा करना ही आर्य-जीवन का लक्ष्य बनने लगा था। यज्ञकर्ता आर्य और उन के पुरोहित[1] देवताओं की चिंता नहीं करते थे, उन में आत्म-

---

[1] ब्राह्मण-युग में पुरोहितों की अलग जाति बन चुकी थी और यह जाति जन्म पर निर्भर हो गई थी।

जिज्ञासा की भावना भी नहीं थी और न उन्हें मोक्ष को ही परवाह थी। याज्ञिक क्रियाओं को ठीक-ठीक अनुष्ठित करके इस लोक में ऐश्वर्य और अंत में स्वर्ग पा जाना, यही उन का परम उद्देश्य था।

कर्म-सिद्धांत

ठीक-ठीक किए हुए अनुष्ठानों का फल मिलता है, इस में इस काल के आर्यों का उतना ही विश्वास था जितना कि किसी आधुनिक वैज्ञानिक का प्रकृति के अटल नियमों में होता है। ब्राह्मण-काल के पुरोहितों की दृष्टि में विश्व की रचना यज्ञों के अनुष्ठान और उन की फल-प्राप्ति, इन दो बातों के लिए ही हुई थी। यज्ञ-क्रियाओं का फल अनिवार्य है, इस विश्वास का अधिक विस्तृत रूप ही कर्म-सिद्धांत है, यह प्रोफ़ेसर सुरेंद्रनाथ दासगुप्त का मत है। यदि यज्ञ-कर्म का फल निश्चित है तो प्रत्येक कर्म का फल निश्चित या अनिवार्य होना चाहिए। उक्त विद्वान् के मतानुसार कर्मविपाक और पुन-र्जन्म के सिद्धांतों को, जिन्हों ने भारतीय मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला है, उत्पत्ति इसी प्रकार हुई।[1]

वर्णाश्रम धर्म

यज्ञों के इस व्यापारिक धर्म के साथ-साथ ही ब्राह्मण-काल में हिंदू धर्म के कुछ महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों का भी आविष्कार हुआ। हिंदू-जीवन के आधार-भूत वर्णाश्रम धर्म का स्रोत यही समय है। प्रसिद्ध तीन ऋणों की धारणा इसी समय उत्पन्न हुई। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है कि वह ऋषियों, देवताओं और पितरों का ऋण चुकाए। अध्ययन और अध्यापन से प्राचीन संस्कृति की रक्षा करके ऋषियों का ऋण चुकाना चाहिए, यज्ञ करके देवताओं के ऋण से मुक्त होना चाहिए, और संतानोत्पत्ति करके पितरों से उऋण होना चाहिए। प्रत्येक वर्णवाले को अपने कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, इस विषय में ब्राह्मणों के आदेश-वाक्य काफ़ी कठोर हैं। वेदों को न पढ़ने-वाला ब्राह्मण

[1] 'इंडियन आइडियलिज़्म,' पृ० ३

उसी प्रकार क्षण भर में नष्ट हो जाता है जैसे आग पर तिनका। ब्राह्मण को चाहिए कि सांसारिक आदर और ऐश्वर्य को विष के समान त्याज्य समझे। प्रत्येक आश्रम-वासी को अपने कर्त्तव्य ठीक-ठीक पूरे करने चाहिए। ब्रह्मचारियों को इंद्रिय-निग्रह और गुरु की सेवा करनी चाहिए; उन्हें भीख माँग कर भोजन प्राप्त करना चाहिए। गृहस्थ को लोभ से बचना, सत्य बोलना और पवित्र रहना चाहिए। किसी आश्रम वाले को कर्त्तव्य-विमुख होने का अधिकार नहीं है। जीवन कर्त्तव्यों का क्षेत्र है। इस युग के द्विजों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्यों में ऊँच-नीच का भाव नहीं था।

इस युग में वैदिक काल के देवताओं की महत्ता का ह्रास होने लगा था। यज्ञों के साथ ही अग्नि का महत्त्व बढ़ने लगा था। लेकिन इस काल का सब से बड़ा देवता प्रजापति है। 'तैंतीस देवता हैं, चौंतीसवें प्रजापति हैं; प्रजापति में सारे देवता सन्निविष्ट हैं"। शतपथ में (जो कि यजुर्वेद का ब्राह्मण है) यज्ञ को विष्णु-रूप बताया गया है (यज्ञो वै विष्णुः)। नारायण का नाम भी पाया जाता है। कहीं-कहीं विश्वकर्मा और प्रजापति को एक करके बताया गया है।

राधाकृष्णन् ने इस युग की व्यापारिक यज्ञ-प्रवृत्ति का अत्यंत कड़े शब्दों में वर्णन किया है। वे लिखते हैं कि "इस युग में वेदों के सरल और भक्तिमय धर्म की जगह एक कठोर, हृदयघाती, व्यापारिक धर्म ने ले ली, जोकि एक प्रकार के ठेके पर अवलंबित था।"[1] आर्यों के पुरोहित मानों देवताओं से कहते थे 'तुम हमें इच्छित फल दो, इस लिए नहीं कि तुम में हमारी भक्ति है, परंतु इस लिए कि हम गणित की क्रियाओं की तरह यज्ञ-विधानों का ठीक क्रम से अनुष्ठान करते हैं।' कुछ यज्ञ ऐसे थे जिन का अनुष्ठाता सदेह (सर्वतनुः) स्वर्ग को चला जा सकता था। स्वर्ग-प्राप्ति और अमरता यज्ञ-विधानों का फल थी, न कि भक्ति-भावना का।

[1] भाग १, पृ० १२५

"ब्राह्मण-काल में यज्ञों की जटिलता इतनी बढ़ गई थी और यज्ञ-संबंधी साहित्य इतना अधिक हो गया था कि सब का कंठस्थ रखना और यज्ञों के अवसर पर ठीक-ठीक उपयोग करना बहुत कठिन हो गया था।" इस लिए यज्ञ-विधियों का सूक्त-रूप में संग्रह या संग्रथन करने की आवश्यकता पड़ी और सूत्र-काल का आरंभ हुआ। यह सूत्र भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है। विश्व-साहित्य में भारतीय सूत्र-ग्रंथों के जोड़ के ग्रंथ कहीं नहीं हैं। श्रौत, धर्म और गृह्यसूत्रों के अतिरिक्त भारतीय आर्यों ने व्याकरण, दर्शन, छंद-शास्त्र आदि विषयों पर भी सूत्र-ग्रंथों की रचना की। इन में से दार्शनिक सूत्रों के विषय में हम आगे लिखेंगे।

अध्याय ३

उपनिषद्

यद्यपि उपनिषदों को ब्राह्मणों का अंतिम भाग बताया जाता है, तथापि दोनों में कोई वास्तविक संबंध नहीं है। ब्राह्मणों और उपनिषदों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक है। ऋग्वेद से भी उपनिषदों में विशेष सादृश्य नहीं है। ऋग्वेद के ऋषि अपेक्षाकृत बाह्य-दर्शी थे। वे बहुदेववादी थे। उन की भावनाएं और आकांक्षाएं स्पष्ट थीं। वे आशावादी थे। इस के विपरीत उपनिषद् के ऋषियों की दृष्टि भीतर की ओर ज़्यादा जाती है। विश्व-ब्रह्मांड की एकता में उन का अखंड विश्वास है। संसार के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति वे उदासीन दिखाई देते हैं। उन के विचारों पर एक अस्पष्ट वेदना की छाया है। वे संसार के परिमित पदार्थों से अपने को संतुष्ट न कर सके। सांत का अनंत के प्रति अनुराग सब से पहले उपनिषदों की रहस्यपूर्ण वाणी में अभिव्यक्त हुआ है। उपनिषदों की श्रुतियां रहस्यवाद के सब से प्रथम गीत हैं। ब्राह्मणों की तरह उपनिषद् कर्मकांड में रुचि नहीं दिखलाते। जब मनुष्य के मस्तिष्क पर विचारों का बोझ पड़ता है, तो वह बहुत सी गति और वेग खो बैठता है। उपनिषद् कर्म पर नहीं ज्ञान पर, जीवन-संग्राम पर नहीं, जीवन-संबंधी चिंतन पर ज़ोर देते हैं। ऋग्वेद के आर्य ऐहिक ऐश्वर्य की खोज करते थे, वे विजय चाहते थे। ब्राह्मण-युग के यज्ञकर्ता स्वर्ग के अभिलाषी थे। उपनिषद्-काल के साधक दोनों के प्रति उदासीन हैं, उन का लक्ष्य मुक्ति है। वे सब प्रकार के बंधनों, सब प्रकार की सीमाओं से मुक्त होकर अनंत में लीन हो जाना चाहते थे। ऋग्वेद के दो-चार दार्शनिक सूक्तों को छोड़ कर उपनिषदों की तुलना उन से पहले के किसी साहित्य से नहीं की जा सकती। भारतवर्ष

में ब्राह्मण-युग के बाद उपनिषदों का समय आया, यह इस बात का प्रमाण है कि मनुष्य केवल सतत गतिशील प्राकृतिक तत्वों से ही संबद्ध नहीं है, बल्कि उस का विश्व के किसी स्थिर तत्व से भी संबंध है। इस से यह भी सिद्ध होता है कि विश्व की समस्याओं पर विचार और मनन करना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है, जिसे कर्म और संघर्ष की प्रवृत्तियां हमेशा के लिए दबा कर नहीं रख सकतीं।

उपनिषद् गद्य और पद्य दोनों में हैं लेकिन उन की भाषा सब जगह काव्यमयी है। वे काव्य-सुलभ संकेतों से भरे पड़े हैं। फिर वे एक व्यक्ति के लिखे हुए भी नहीं हैं। एक ही उपनिषद् में कई शिक्षकों का नाम आता है जिस का अर्थ यह है कि एक उपनिषद् का एक लेखक की कृति होना आवश्यक नहीं है। इन्हीं दो बातों के कारण उपनिषदों के व्याख्याताओं में काफ़ी मतभेद रहा है। हिंदुओं का विश्वास है कि सब उपनिषद् ईश्वर-प्रदत्त हैं और इस लिए एक ही सच्चे मत का प्रतिपादन करते हैं। बादरायण ने वेदांतसूत्र लिख कर यह दिखाने की चेष्टा की थी कि सब उपनिषदों का विश्व की समस्याओं पर एक मत है; सब उपनिषदों की शिक्षा का वेदांत के पक्ष में समन्वय हो सकता है। आजकल के विद्वान् इस सरल विश्वास का समर्थन करने में अपने को असमर्थ पाते हैं। वास्तव में उपनिषदों में अनेक प्रकार के सिद्धांतों के पोषक वाक्य पाए जाते हैं। यही कारण है कि वेदांत के विभिन्न संप्रदायों का हरेक आचार्य अपने मत की पुष्टि करनेवाली श्रुतियां उद्धृत कर डालता है।

उपनिषदों का परिचय

यों तो उपलब्ध उपनिषदों की संख्या सवा-सौ से भी अधिक है जिन में एक अल्लोपनिषद् (मुसलमानों के अल्लाह के विषय में) भी सम्मिलित है, तथापि सर्वमान्य और महत्वपूर्ण उपनिषदों की संख्या अधिक नहीं है। श्री शंकराचार्य ने ईशादि दस उपनिषदों पर ही भाष्य किया है। निम्न-लिखित श्लोक में दस उपनिषद् गिनाए गए हैं:

ईश-केन-कठ-प्रश्न-मुंड-मांडूक्य-तित्तिरिः
ऐतरेयञ्च छांदोग्यं बृहदारण्यकन्तथा।

अर्थात् दस मुख्य उपनिषद् ईश, केन, कठ, प्रश्न, मुंडक, मांडूक्य, ऐतरेय, तैत्तिरीय, छांदोग्य और बृहदारण्यक हैं। इस सूची में कौषीतकी, मैत्री (मैत्रायणी) और श्वेताश्वेतर का नाम जोड़ देने पर तेरह मुख्य उपनिषदों की संख्या पूरी हो जाती है। श्लोक में जो उपनिषदों का क्रम है वह केवल पद्य-रचना की सुविधा के अनुसार है। कौन से उपनिषद् किन उपनिषदों से ज़्यादा प्राचीन हैं, इस विषय में तीव्र मतभेद है। प्रोफ़ेसर डासन के मत में गद्य में लिखे उपनिषद् अधिक प्राचीन हैं। परंतु इस मत का पोषक कोई प्रमाण नहीं है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'ए कंस्ट्रक्टिव सर्वे आफ़ उपनिषदिक फ़िलासफ़ी' में प्रोफ़ेसर रामचंद्र दत्तात्रेय रानडे ने डासन के मत का खंडन किया है। उन की सम्मति में उपनिषदों का आपेक्षिक समय-विभाग इस प्रकार होना चाहिए :—१—बृहदारण्यक और छांदोग्य; २—ईश और केन; ३—ऐतरेय, तैत्तिरीय और कौषीतकी; ४—कठ, मुंडक और श्वेताश्वेतर; ५—प्रश्न, मैत्री और मांडूक्य।

इन समूहों को उत्तरोत्तर अर्वाचीन समझना चाहिए, अर्थात् पहला समूह सब से प्राचीन और अंतिम सब से बाद का है। श्री बेल्वेल्कर का मत है कि एक ही उपनिषद् में भिन्न कालों की रचनाएं पाई जाती हैं। एक ही उपनिषद् के कुछ भाग उस के दूसरे भागों की अपेक्षा प्राचीन या अर्वाचीन हो सकते हैं। श्री राधाकृष्णन् के मतानुसार उपनिषदों का रचना-काल वैदिक मंत्रों के बाद से आरंभ होकर छठवीं शताब्दी ई० पू० तक माना जा सकता है। संभव है कि उक्त तेरह में से कुछ उपनिषद् बौद्ध-मत के प्रचार के बाद बने हों। अलग-अलग उपनिषदों के रचना-काल का निर्णय करना सर्वथा असंभव है। प्राचीनतम उपनिषदों में दार्शनिक चिंतन अधिक है; बाद के उपनिषदों में धर्म और भक्ति के भाव आने लगते हैं।

उपनिषद्-साहित्य में दर्जनों दार्शनिकों, शिक्षकों या विचारकों के नाम पाए जाते हैं। इन में से कुछ नाम यह हैं[1]—

उपनिषदों के लेखक या विचारक

शांडिल्य, दध्यीच, सनत्कुमार, आरुणि, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, रैक्व, प्रतर्दन, अजातशत्रु, जनक, पिप्पलाद, वरुण, गार्गी, मैत्रेयी इत्यादि। उपनिषदों के ऋषियों के विषय में एक रोचक और दर्शनीय बात यह है कि उन में से बहुत विवाहित गृहस्थ हैं। याज्ञवल्क्य के दो स्त्रियां थीं। आरुणि के श्वेतकेतु नाम का पुत्र था जिसे उन्हों ने ब्रह्मज्ञान सिखाया। इसी प्रकार भृगु वरुण के पुत्र थे। उपनिषदों के अधिकांश भाग संवाद-रूप में हैं और कहीं-कहीं पति-पत्नी एवं पिता-पुत्र के संवाद बड़े रोचक जान पड़ते हैं।

उपनिषदों की प्रसिद्धि

अपने रचना-काल से ही भारत के दार्शनिक साहित्य में उपनिषदों का मान होता आया है। उपनिषदों की भाषा बड़ी मनोहर और प्रसाद-गुण-संपन्न है। उपनिषदों के ऋषियों की वाणी निष्कपट, सरल बालकों के बोलने के समान हृदय को आकर्षित करने वाली है। यही कारण है कि जो कोई भी उपनिषदों को पढ़ता है, मोहित हो जाता है। सन् १६५६—५७ ई० में दाराशिकोह (औरंगज़ेब के भाई और शाहजहां के पुत्र) ने उपनिषदों का अनुवाद फ़ारसी में कराया।[2] उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में उन का फ़ारसी से लेटिन में अनुवाद हुआ और वे शीघ्र ही योरुप में प्रसिद्ध हो गए। जर्मनी का प्रसिद्ध दार्शनिक शोपेनहार उपनिषदों पर ऐसे ही मोहित हो गया था जैसे कि महाकवि गेटे 'शकुंतला-नाटक' पर। कहते हैं कि शयन करने से पहले उक्त दार्शनिक उपनिषदों का पाठ किया करता था। अंग्रेज़ी में उपनिषदों के अनेक अनुवाद हैं, जिन में ह्यूम, मैक्समूलर, डाक्टर गंगा-

[1] 'सर्वे आफ़ उपनिषदिक फिलासोफ़ी', पृ० १६

[2] सर्वे आफ़ उपनिषदिक फिलासोफ़ी, पृ० ४२४

नाथ झा आदि के अनुवाद उल्लेखनीय हैं। प्राय: भारत की सभी भाषाओं में उपनिषदों के अनेक अनुवाद पाए जाते हैं।

नीचे हम कुछ महत्वपूर्ण उपनिषदों का संक्षिप्त परिचय देते हैं, आशा है इस से पाठकों को उपनिषद्-दर्शन की विविधता के समझने में कुछ सहायता मिलेगी।

१-बृहदारण्यक

यह उपनिषद् सब से प्राचीन है और सब से अधिक महत्व का भी है। संपूर्ण उपनिषद् में छः अध्याय हैं। पहले अध्याय में पुरुष को यज्ञ का अश्व मान कर वर्णित किया गया है। "इस पवित्र अश्व का उषा सिर है; सूर्य, चक्षु; वायु, प्राण; अग्नि, मुख; और संवत्सर, आत्मा। द्युलोक उस की पीठ है; अंतरिक्ष, उदर; पृथ्वी, चरण इत्यादि।" कुछ आगे चल कर इसी अध्याय में वर्णन है कि प्रारंभ में आत्मा अकेला था, पुरुष के आकार का (पुरुषविधः)। अकेले वह डरा, इसी लिए अब भी एकांत में लोग डरते हैं। फिर उस ने सोचा, अकेले मैं किस से डरूं? दूसरे से ही भय होता है (द्वितीयाद्वै भयं भवति)। अकेले उस का जी नहीं लगा, उस ने अपने को दो में बाँट लिया, एक स्त्री और एक पुरुष। इस प्रकार मनुष्यों की सृष्टि हुई। फिर उन में से एक बैल बन गया, दूसरा गाय। इस प्रकार पशु-पक्षियों की सृष्टि हुई।

दूसरा अध्याय। गार्ग्य नाम का अभिमानी ब्राह्मण काशी के राजा अजातशत्रु के पास गया। 'हे राजन्, आदित्य में जो पुरुष है उस की मैं उपासना करता हूं, चंद्रमा में जो पुरुष है, विद्युत् में, आकाश में, अग्नि में, वायु में, जल में जो पुरुष है, उस की मैं उपासना करता हूं।' अजातशत्रु ने कहा—'तुम ब्रह्म को नहीं जानते।' और उस ने स्वयं गार्ग्य को ब्रह्म का स्वरूप समझाया। इसी अध्याय में याज्ञवल्क्य को अपनी प्रिय पत्नी मैत्रेयी से संवाद करते हुए दिखलाया गया है। उन्हों ने मैत्रेयी से प्रस्ताव किया—'लाओ मैं तुम्हारे और कात्यायनी के बीच में

धन का विभाग कर दूं।' मैत्रेयी ने कहा, 'यदि यह सारी पृथ्वी धन से पूर्ण हो तो क्या मैं अमर हो जाऊँगी?' याज्ञवल्क्य ने उत्तर दिया कि 'धन से अमरता की आशा नहीं की जा सकती।' 'हे भगवन्, जिस से मैं अमर नहीं होऊँगी, उस का क्या करूँगी। मैं जिस से अमर होऊं वही आप बतलाएं।' याज्ञवल्क्य बोले, 'तुम मेरी प्रिय पत्नी हो, प्यारे वचन बोलती हो। सच जानो कि पति के लिए पति प्रिय नहीं होता, आत्मा के लिए पति प्रिय होता है। स्त्री के लिए स्त्री प्रिय नहीं होती, आत्मा के लिए स्त्री प्रिय होती है' इत्यादि। उपनिषद्-दर्शन के कुछ बहुत ही सुंदर विचार इस अध्याय में पाए जाते हैं जिन का वर्णन हम आगे करेंगे।

तीसरे अध्याय में जनक जानना चाहते हैं कि सब से बड़ा ब्रह्मवेत्ता कौन है जिसे गउएं दान दी जायँ। याज्ञवल्क्य गउएं लेने के लिए प्रस्तुत हो जाते हैं। उत्तरकालीन शंकर के अनुयायी वेदांतियों जैसा वैराग्य याज्ञवल्क्य में नहीं है। जनक की सभा के सारे पंडित क्रुद्ध होकर परीक्षा करने के लिए याज्ञवल्क्य से प्रश्न करते हैं और याज्ञवल्क्य उत्तर देते है। वचक्नु (वाचाल) की बेटी गार्गी याज्ञवल्क्य से पूछती है—'हे याज्ञवल्क्य! आप कहते हैं कि यह सब जल में ओतप्रोत है, फिर जल कहां ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य—वायु में

गार्गी—वायु किस में ओतप्रोत है?

याज्ञवल्क्य—अंतरिक्ष-लोक में, गार्गी।

गार्गी इसी प्रकार प्रश्न करती जाती है कि अंतरिक्ष किस में ओतप्रोत है, इत्यादि। अंत में याज्ञवल्क्य क्रोधित होकर बोले—'गार्गी! अगर तू ज़्यादा प्रश्न करेगी तो तेरा सिर गिर जायगा।' आगे चल कर याज्ञवल्क्य बताते हैं कि सब अक्षर में ओतप्रोत है।

चौथे अध्याय में याज्ञवल्क्य और जनक का संवाद है। पाँचवें अध्याय में फुटकर दार्शनिक विचारों का संग्रह है। छठवें अध्याय में श्वेतकेतु और

जैवलि प्रवाहण के नाम आते हैं। जैवलि प्रवाहण पांचाल देश का राजा था, अभिमानी श्वेतकेतु उस से शास्त्रार्थ करने गया। इस अध्याय में कुछ कामशास्त्र-संबंधी विचार पाए जाते हैं। इच्छित संतान उत्पन्न करने आदि की विधियां भी लिखी हैं।

२—छांदोग्य

इस उपनिषद् में आठ अध्याय हैं। पहले दो अध्यायों में उद्गीथ ओंकार का वर्णन है। इन्हीं में शौव-(श्वान-संबंधी) उद्गीथ भी पाया जाता है जिस में कुत्तों के मुख से मंत्र गवाए गए हैं। तीसरे अध्याय में सूर्य को मधुमक्खियों का छत्ता बना कर वर्णन किया गया है। इसी अध्याय में कृष्ण का नाम भी आता है। देवकी के पुत्र कृष्ण को 'घोर आंगिरस्' नामक ऋषि ने शिक्षा दी। चौथे अध्याय में सत्यकाम जाबाल और उस की माता की कथा है। सत्यकाम जाबाल हरिद्रुमान् के पुत्र गोतम के पास शिक्षा प्राप्त करने गया। उन्हों ने उस का वंश-परिचय पूछा। सत्यकाम ने उत्तर दिया—'मैं नहीं जानता। माता से पूछ कर बताऊँगा।' वह अपनी माता के पास गया। मा ने उत्तर दिया—'पुत्र, यौवन-काल में सेवा करती हुई मैं इधर-उधर घूमती रहती थी। मुझे पता नहीं कि मैं ने तुम्हें कैसे पाया? मैं तेरा गोत्र नहीं बता सकती।'

सत्यकाम ने ठीक ऐसे ही जाकर ऋषि से कह दिया। ऋषि ने कहा, 'तू ने सत्य-सत्य बात कही है, इस लिए तू अवश्य ब्राह्मण है। मैं तुझे अवश्य शिक्षा दूँगा।'

पाँचवें अध्याय में बृहदारण्यक के श्वेतकेतु और प्रवाहण जैवलि का संवाद है। इसी अध्याय में अश्वपति कैकेय का नाम भी आता है।

छठवां अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है। इस में आरुणि ने अपने पुत्र श्वेतकेतु को ब्रह्मविद्या की शिक्षा दी है, 'हे श्वेतकेतु वह ब्रह्म तू ही है।' शतपथ ब्राह्मण में लिखा है कि आरुणि याज्ञवल्क्य के गुरु थे।[1] त्रिवृत्करण

[1] 'सर्वे अव् उपनिषदिक फिलासोफी', पृष्ठ २३

का सिद्धांत पहली बार यहीं समझाया गया है। सातवें अध्याय में नारद ने सनत्कुमार से ज्ञान सीखा है। अंतिम अध्याय में इंद्र और विरोचन के प्रजापति के पास जाकर आत्म-जिज्ञासा करने की कथा है। इन में कुछ कथाओं का वर्णन आगे आएगा।

३.४—ईश और केन

ईशोपनिषद् में सिर्फ़ अठारह मंत्र हैं। इस उपनिषद् में ज्ञान-कर्म-समुच्चय-वाद का बीज पाया जाता है। आत्मिक कल्याण के लिए ज्ञान और कर्म दोनों आवश्यक हैं। गीता के निष्काम धर्म का मूल भी यही उपनिषद् है। केनोपनिषद् में ब्रह्म की महिमा का वर्णन है। वाणी और मन उसे नहीं जान सकते। देवताओं की विजय वास्तव में ब्रह्म की ही विजय है। बिना ब्रह्म की शक्ति के एक तिनके को भी अग्नि जला नहीं सकती और वायु उड़ा नहीं सकती।

५—ऐतरेय

आरंभ में केवल एक आत्मा थी। उस ने इच्छा की कि लोकों की सृष्टि करूं। दूसरे अध्याय में तीन प्रकार के जन्मों का वर्णन है। जब मा के गर्भ में जाता है तब बालक का प्रथम जन्म होता है। गर्भाशय से बाहर आना दूसरा जन्म है। अपना घर पुत्रों को सौंप कर वृद्धावस्था में जब मरता है तो मनुष्य का तीसरा जन्म होता है। तीसरे अध्याय में प्रज्ञान की महिमा का वर्णन है। बहुत से मनोविज्ञान के शब्द इस अध्याय में पाए जाते हैं। संज्ञान, विज्ञान, मेधा, धृति, मति, स्मृति, संकल्प आदि मानसिक क्रियाएं प्रज्ञान के ही रूपांतर हैं। यहां 'रेशनल साइकालोजी' का बीज वर्तमान है। प्रज्ञान में सब कुछ प्रतिष्ठित है, प्रज्ञान ब्रह्म है।

६—तैत्तिरीय

पहला अध्याय शिक्षा अध्याय है। आचार्य अपने शिष्य को सिखलाता है—'सत्य बोला कर, धर्माचरण किया कर, स्वाध्याय से प्रमाद मत करना, इत्यादि।' 'जो हमारे अच्छे कर्म हैं उन्हीं का अनुकरण करना, बुरों का नहीं।' दूसरी

ब्रह्मानंदवल्ली में बतलाया गया है कि जो ब्रह्म को आनंदस्वरूप जानता है, वह किसी से नहीं डरता। 'वह रसस्वरूप है, उसी को पाकर आनन्दी होता है।' इसी अध्याय में मनुष्यों, गंधर्वों, पितरों आदि के आनंद का वर्णन है। ब्रह्म का आनंद पार्थिव सुखों से करोड़ों गुना बड़ा है। वासना-हीन श्रोत्रिय को भी उतना ही आनंद मिलता है। तीसरी भृगु-वल्ली में ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति बताई गई है और पंचकोशों का वर्णन है।

७—कौषीतकी

पहले अध्याय में देवयान और पितृयान मार्गों का वर्णन है। अंतिम या चतुर्थ में बालाकि और अजातशत्रु की कथा की आवृत्ति है। दूसरे अध्याय में कौषीतकी, पैंगय प्रतर्दन और शुष्क भृंगार ऋषियों के सिद्धांतों का वर्णन है। तृतीय अध्याय में इंद्र प्रतर्दन से कहते हैं कि मुझे (इंद्र को) जानने से ही मनुष्य का कल्याण हो सकता है।

८-१०—कठ, मुंडक और श्वेताश्वेतर

कठोपनिषद् बहुत प्रसिद्ध है। इस के अंग्रेज़ी में कई अनुवाद निकल चुके हैं। कठ की कथा और कविता दोनों रोचक हैं। नचिकेता नामक बालक पिता की आज्ञा से यम (मृत्यु) के यहां (अतिथि बन कर) गया और यम की अनुपस्थिति के कारण तीन दिन तक भूखा रहा। वापिस आने पर यम को बड़ा खेद हुआ और उन्हों ने नचिकेता से तीन वरदान माँगने को कहा। दो इच्छित वर पा जाने पर तीसरे वर में नचिकेता ने 'मरे हुए पुरुष का क्या होता है' इस प्रश्न का उत्तर माँगा। यमाचार्य ने कहा—'तुम धन और ऐश्वर्य माँग लो, सुंदर स्त्रियां माँग लो, लंबी आयु माँग लो, मगर इस प्रश्न का उत्तर मत माँगो।' परंतु नचिकेता ने अपना हठ नहीं छोड़ा और यम को नचिकेता के प्रश्न का उत्तर देना पड़ा। आत्मा की दुर्ज्ञेयता, अमरता आदि पर इस उपनिषद् में बड़े सुंदर विचार पाए जाते हैं।

कठ और मुंडक दोनों की कविता पर रहस्यवाद की छाया है। मुंडक-

उपनिषद् में सप्रपंच ब्रह्म का बड़ा सुंदर वर्णन है। 'वहां न सूर्य चमकता है, न चंद्रमा, न तारे, न यह बिजलियां; फिर इस अग्नि का तो कहना ही क्या? उस की ज्योति से ही यह सारा जगत् भासमान है। ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे है, ब्रह्म ही दक्षिण और उत्तर में है, ब्रह्म ऊपर और नीचे है।'[1]

श्वेताश्वेतर के पहले अध्याय में तत्कालीन अनेक दार्शनिक सिद्धांतों की आलोचना है। उस समय में 'स्वभाववाद' 'कालवाद' 'यदृच्छावाद' आदि अनेक वाद चल पड़े थे। इस उपनिषद् में शैवमत और सांख्य-संबंधी विचारों का बाहुल्य है। किंतु श्वेताश्वेतर का सांख्य निरीश्वरवादी नहीं है। प्रकृति माया है और महेश्वर मायी (माया के स्वामी या अध्यक्ष)। माया शब्द का प्रयोग करते हुए भी श्वेताश्वेतर में जगत् के मिथ्या होने की कल्पना नहीं है। कुछ समय के बाद सृष्टि और प्रलय होने का विचार भी इस में वर्तमान है।

भगवद्गीता के विचारों का आधार बहुत कुछ यही तीन उपनिषद् हैं।

प्रश्नोपनिषद् की शैली वैज्ञानिक और आधुनिक मालूम होती है।

११-१३—प्रश्न, मैत्रो, और मांडूक्य

सुकेशा, सत्यकाम, सौर्यायणी, कौसल्य, वैदर्भी और कबंधी—यह छः जिज्ञासु महर्षि पिप्पलाद के पास जाकर अपने-अपने प्रश्न रखते हैं जिन का ऋषि क्रमशः समाधान करते हैं।

कबंधी कात्यायन (कात्यायन गोत्र का नाम है) ने पूछा—'भगवन् यह प्रजाएं कहां से उत्पन्न होती हैं?'

भार्गव वैदर्भी ने पूछा—'भगवान्! कितने देवता प्रजा का धारण करते हैं? कौन देवता उन्हें प्रकाशित करते हैं? इन देवताओं में सर्वश्रेष्ठ कौन है?'

---

[1] मुंडकोपनिषद् में परा और अपरा विद्या का महत्वपूर्ण भेद समझाया गया है। 'कठ' में श्रेय और 'प्रेय' का भेद भी कुछ ऐसा ही है।

उत्तर—'प्राण'

आश्वलायन कौसल्य ने पूछा—'भगवन्, यह प्राण कहां से उत्पन्न होता है, इस शरीर में कैसे आता है और कैसे निकल जाता है?

सौर्यायणी गार्ग्य ने प्रश्न किया—'भगवन्, इस पुरुष में क्या सोता है, और क्या जागता रहता है; कौन स्वप्न देखता है; किसे सुख होता है?'

शैब्य सत्यकाम ने पूछा—'भगवन्! मरते समय ओंकार के ध्यान से कौन लोक मिलता है?'

सुकेशा भारद्वाज ने पूछा—'पुरुष क्या है?'

इन प्रश्नों से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीन भारत में दर्शन-संबंधी जिज्ञासा बड़ी प्रबल थी। दार्शनिक विषयों पर तरह-तरह से विचार किए जाते थे; कहीं शास्त्रार्थ के रूप में, कहीं शिष्यों को शिक्षा के रूप में।

मैत्री उपनिषद् पर सांख्य और बौद्धधर्म का प्रभाव दिखाई देता है। राजा बृहद्रथ का दुःख और निराशावाद उपनिषदों की 'स्पिरिट' के अनुकूल नहीं है। राजा बृहद्रथ शाक्यायन के पास दार्शनिक जिज्ञासा लेकर जाता है। अंतिम तीन अध्यायों में शनि, राहु, केतु जैसे नाम पाए जाते हैं जिन से उस काल की खगोल-विद्या का कुछ अनुमान होता है। इस उपनिषद् में षडंग-योग का वर्णन भी है।

मांडूक्योपनिषद् सब से छोटा उपनिषद् है। इस की मौलिकता जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति और तुरीय नामक चार अवस्थाओं का वर्णन है। विश्व-ब्रह्मांड में ओंकार के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। अतीत, वर्तमान और भविष्य की सारी सत्ताएं ओंकार का व्याख्यान-मात्र हैं। जागृति अवस्था में चेतना बहिर्मुखी होती है; स्वप्नावस्था में अंतर्मुखी; सुषुप्ति में आत्मा प्रज्ञान-घन और आनंदमय होता है। इन तीनों अवस्थाओं में क्रमशः आत्मा का नाम वैश्वानर, तैजस् और प्राज्ञ होता है। तुरीयावस्था में यह कुछ भी नहीं होता। वहां ज्ञातृ-भाव और ज्ञेय भाव दोनों लुप्त हो

जाते हैं। यही मुक्ति की अवस्था है। इस अवस्था का लक्षण या वर्णन नहीं हो सकता। यह अचिंत्य, शांत, अद्वैतावस्था है। इस अवस्था-प्राप्त को ही 'आत्मा' कहते हैं। मांडूक्य पर श्री शंकराचार्य के शिक्षक के गुरुदेव श्री गौड़पादाचार्य ने कारिकाएं लिखी हैं जो वेदांत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध हैं।

उपनिषद्-दर्शन

उपनिषदों में ब्राह्मण-युग के विरुद्ध प्रतिक्रिया दिखाई पड़ती है। कर्मकांड की जटिलता पर उपनिषद् के ऋषियों को अकसर क्रोध आ जाता है। मुंडकोपनिषद् कहता है:—

परविद्या या ब्रह्मविद्या उस के साधन

प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म।
एतच्छ्रेयो येऽभिनन्दन्ति मूढा जरा मृत्युन्ते पुनरेवापि यन्ति ॥१।२।७

अर्थात् यह यज्ञ रूप नौकाएं जिन में अठारह प्रकार का ज्ञान-वर्जित कर्म बतलाया गया है, बहुत ही निर्बल हैं। जो मूढ़ लोग इन्हें श्रेय कहकर अभिनंदन करते हैं, वे बारबार वृद्धावस्था और मृत्यु को प्राप्त होते हैं। यम ने नचिकेता से कहा कि एक रास्ता 'श्रेय' की ओर जाता है, दूसरा 'प्रेय' की ओर। सांसारिक ऐश्वर्य प्राप्ति का मार्ग एक है और मोक्ष-प्राप्ति का मार्ग दूसरा। इन दोनों के द्वंद्व को उपनिषदों ने अनेक प्रकार समझाया है। श्रेय और प्रेय की साधनभूत विद्याएं भी दो प्रकार की हैं। 'परा' विद्या से श्रेय की प्राप्ति होती है और 'अपरा' से प्रेय की। 'दो विद्याएं जाननी चाहिए, परा और अपरा। उन में ऋग्वेद, यजुर्वेद सामवेद इत्यादि अपरा विद्या हैं। परा विद्या वह है जिस से उस अक्षर का ज्ञान होता है।'[१] नारद जी ने सनत्कुमार के पास जाकर कहा 'भगवन् मुझे शिक्षा दो।' सनत्कुमार ने कहा—'तुम ने कहां तक पढ़ा है, जिसके आगे मैं बताऊं?' नारद ने कहा—'भगवन् मैं ने ऋग्वेद पढ़ा है, यजुर्वेद पढ़ा

[१] मुंडक० १।१।४-५

है, अन्य वेद भी पढ़े हैं; मैं ने देवविद्या, ब्रह्मविद्या, भूत-विद्या, क्षत्रविद्या, नक्षत्रविद्या......आदि भी पढ़ी हैं। इस प्रकार हे भगवन् मैं अभी मंत्रवित् ही हूं, आत्मवित् नहीं इस लिए शोच करता हूं। आप मुझे शोक के पार पहुँचाएं।'[1] इस उद्धरण से उस समय क्या-क्या पढ़ा जाता था इस का अनुमान हो सकता है। साथ ही उस काल में ब्रह्मविद्या या आत्मविद्या कितनी ऊँची और पवित्र समझी जाती थी, यह भी मालूम हो जाता है। इंद्रियां, मन और तर्क आत्म-प्राप्ति के मार्ग या साधन नहीं हैं, ऐसा उपनिषद् के ऋषियों का विश्वास है। कठ में लिखा है:—

पराञ्चि खानि व्यतृणात्स्वयंभू स्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद्धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षत्, आवृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥२।४।१

'विधाता ने इंद्रियों को बाह्यदर्शी बनाया है, इसी लिए मनुष्य भीतर की चीज़ें नहीं देख सकता; कोई धीर पुरुष ही अपनी दृष्टि को अंतर्मुखी कर के प्रत्यगात्मा को देखता है।' कठ में भी कहा है:—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम् ।१।२।२३

तथा—

नैषा तर्केण मतिरापनेया, प्रोक्तान्येनैव सुज्ञानाय प्रेष्ठ ॥१।२।९

अर्थात् यह आत्मा वाद-विवाद (प्रवचन) से नहीं मिल सकता, न बुद्धि से, न बहुत सुनने से। यह आत्मा जिस को वरण कर लेता है उसी को प्राप्त होता है, उसी पर यह अपना स्वरूप प्रकट करता है। तर्क से भी आत्म-ज्ञान नहीं होता; आचार्य के सिखाने से ही बोध होता है।'

यहां गुरु और भगवत्कृपा दोनों पर ज़ोर दिया गया है। आत्मज्ञान अथवा आत्म-प्राप्ति के लिए नैतिक गुणों का होना भी आवश्यक है। 'जो दुष्कर्मों से विरत नहीं हुआ है, जो अशांत और असमाहित चित्त वाला

---

[1] छांदोग्य० ७।१।२-३

है, जिस का मन चंचल है, वह ब्रह्म को नहीं पा सकता' (कठ० १।२।२४) 'यह आत्मा सत्य से मिलने योग्य है, तप से प्राप्य है, सम्यक् ज्ञान और ब्रह्मचर्य से लभ्य है, निर्दोष यती ज्योतिर्मय, निर्मल आत्मा को अपने भीतर देखते हैं' (मुंडक ३।१।५)।

उत्तर काल के वेदांती जिसे अनुभव (इंटीग्रल एक्सपीरियंस) कहते हैं, उसी से आत्मसत्ता तक पहुँच हो सकती है, केवल तर्क या वाद-विवाद से नहीं। निदिध्यासन का भी यही अर्थ है।

जिज्ञासु कौन है ?

आत्मसत्ता के जिज्ञासु में कुछ विशेष गुण होने चाहिए। मैत्रेयी और नचिकेता की तरह जिन्हें संसार के ऐश्वर्य और सुख नहीं लुभा सकते, भारतीय ऋषियों के मत में वे ही वस्तुतः आत्म-विषयक् जिज्ञासा के अधिकारी हैं। दर्शन-शास्त्र या अध्यात्म-विद्या के वास्तविक विद्यार्थी संसार की छोटी-छोटी चोज़ों के पीछे नहीं दौड़ते। 'जो भूमा है, जो असीम और अनंत है, वही सुख है, उसी की प्राप्ति में आनंद है; अल्प में, शांत या सीमित में, सुख नहीं है।' 'जहां एक के अतिरिक्त कुछ भी नहीं देखता, कुछ भी नहीं सुनता और जानता, वह भूमा है।' भूमा में मिल जाना ही जीवन का परम उद्देश्य है। भूमा का प्रेमी क्षुद्रसांसारिक ऐश्वर्यों और भोगों में कैसे फँस सकता है ?

चरम तत्व की खोज

उपनिषदों के ऋषियों की सब से बड़ी अभिलाषा विश्व के तत्व-पदार्थ को जान लेने की थी। संसार की विभिन्नताओं को एकता के सूत्र में बाँधने वाली कौन वस्तु है ? ऐसी कोई वस्तु है भी या नहीं; यदि है तो उस तक हमारी पहुँच कैसे हो ? हम विश्व-तत्व को कहां खोजें ? विश्व के बाह्य पदार्थों तक हमारी पहुँच सीधी (डाइरेक्ट) न हो कर इंद्रियों के माध्यम से है। अपनी सत्ता का ही हम प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं; इस लिए विश्व-तत्व की खोज हमें अपने में ही करनी चाहिए। कुछ काल तक

इधर-उधर घूम-फिर कर उपनिषदों के ऋषि इसी निर्णय पर पहुँचे। अपनी इस यात्रा में वे कभी-कभी वायु, जल, अग्नि, आकाश, असत्, प्राण आदि पर रुके भी, पर अंत में उन की जिज्ञासा उन्हें आत्म-तत्त्व तक ले गई। उपनिषद् के ऋषियों ने अंत में अपने अंदर झाँक कर ही विश्व-तत्त्व का स्वरूप निर्णय किया। इस के पश्चात् उन्हों ने फिर बाह्य जगत पर दृष्टि-पात किया। उन की क्रांत-दर्शिनी दृष्टि को बाह्य जगत् और अंतर्जगत दोनों के पीछे छिपे हुए तत्त्वों में कोई भेद दिखाई नहीं दिया। यहां हम पाठकों को छांदोग्य की एक कथा सुनाते हैं।[1]

इंद्र और विरोचन दोनों ने प्रजापति के पास जाकर पूछा कि 'आत्मा का स्वरूप क्या है?' इंद्र देवताओं की और विरोचन असुरों की ओर से गए थे। प्रजापति—ने कहा 'यह जो आँख में पुरुष दिखाई देता है, यह आत्मा है। यह जो जल में और दर्पण में दिखाई देता है, यही आत्मा है।' प्रजापति ने दोनों को अच्छे-अच्छे कपड़े पहन कर आने को कहा। जब वह सज-धज कर आए तो प्रजापति ने उन्हें जलभरे मिट्टी के पात्र में झाँकने की आज्ञा दी और पूछा कि क्या देखते हो? दोनों ने उत्तर दिया—'सुंदर वस्त्र पहने अपने को।' प्रजापति ने कहा—'यही आत्मा है, यह ब्रह्म है, जो जरा-मृत्यु हीन है, शोक-रहित है, और सत्य-संकल्प है।' विरोचन संतुष्ट होकर चला गया पर इंद्र को संदेह बना रहा। 'भगवन्! यह आत्मा तो शरीर के अच्छे होने पर अच्छा लगेगा, परिष्कृत होने पर परिष्कृत प्रतीत होगा, अंधे होने पर अंधा, इत्यादि। यह जरा-मरण-शून्य आत्मा कैसे हो सकता है?' प्रजापति ने दूसरी परिभाषा दी—'जो आनंद सहित स्वप्नों में घूमता है, वह आत्मा है।' इंद्र को फिर भी संतोष न हुआ। उस ने लौट आकर कहा—'भगवन्! स्वप्न में सुख-दुख दोनों ही होते हैं, इस लिए स्वप्न देखने वाला आत्मा नहीं हो सकता।' सदा बदलने वाली मानसिक दशाओं को आत्मा मानना संतोष-जनक नहीं है। प्रजा-

---

[1] छांदोग्य० ८। ७। १२

पति ने समझाया कि गहरी नींद में जो संपूर्ण सुख में सोता है और स्वप्न नहीं देखता वह आत्मा है। इंद्र का अब भी समाधान न हुआ, उस ने कहा—'इस में मुझे कोई भलाई नहीं दीखती। ऐसा जान पड़ता है कि सुषुप्ति-दशा में आत्मा विनाश को ही प्राप्त हो जाता है।' प्रजापति ने समझाने की चेष्टा की; 'हे मघवन्! शरीर की ही मृत्यु होती है, आत्मा की नहीं। इस अमृतमय, अशरीर आत्मा को प्रिय और अप्रिय नहीं छूते।'

यहां प्रजापति का अभिप्राय जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं के आधार या अधिष्ठान-रूप आत्मा की ओर इंगित करना है जो कि किसी एक अवस्था से समीकृत नहीं किया जा सकता। आधुनिक काल में जान स्टुअर्ट मिल ने अपने तर्कशास्त्र में बतलाया है कि किसी पदार्थ का स्वरूप उस की अनेक अवस्थाओं में अध्ययन करने से मालूम हो सकता है। ज्ञेय पदार्थ की परीक्षा उस की विभिन्न दशाओं में करनी चाहिए, इस तथ्य को आर्य दार्शनिकों ने उपनिषत्काल में ही जान लिया था। जगह-जगह स्वप्नादि अवस्थाओं का उल्लेख इस का प्रमाण है।

अपने में विश्वतत्व का आभास पा लेने पर उस की सत्ता में दृढ़ विश्वास हो जाता है। यदि विश्व-तत्व मुझ में वर्तमान है तो मैं उस की सत्ता में संदेह नहीं कर सकता, क्योंकि अपनी सत्ता में संशय करना संभव नहीं है। जिस तत्व को इन ऋषियों ने अपने में देखा, वही तत्व उन्हें बाह्य जगत में भी स्पंदमान दिखाई दिया, उन्हों ने देखा कि यह आत्म-तत्व अमर है। 'जीवापेतं वाव किलेदं म्रियते न जीवो म्रियत इति'[१] अर्थात् जीव से वियुक्त होने पर यह मरता है, जीव नहीं मरता। आत्मा के विषय में कठोपनिषद् में लिखा है:—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥२।१८

---

१ छां० ६।११।३

अर्थात्—'यह न कभी उत्पन्न होता है, न कभी मरता है। यह चैतन्य स्वरूप कभी, कहीं से नहीं आया। यह अज है, नित्य है, शाश्वत है, प्राचीन है; शरीर के मारे जाने पर यह नहीं मरता।' तत्व-पदार्थ का अर्थ ही यह है कि वह अनित्यों में नित्य रूप से अवस्थित रहे और बहुतों में एक हो।

विश्व-तत्व की बाह्य जगत् में खोज का सब से अच्छा उदाहरण छांदोग्य में है। आरुणि और उन के पुत्र श्वेतकेतु में ब्रह्मविद्या-विषयक संवाद हो रहा है[1] :—

'पुत्र, न्यग्रोध (वटवृक्ष) का एक फल यहां लाओ।'

'यह ले आया, भगवन्।'

'इसे तोड़ो।'

श्वेतकेतु ने उसे तोड़ डाला। आरुणि ने पूछा—

'क्या देखते हो ?'

'छोटे-छोटे दाने।'

'इन में से एक को तो तोड़ो।'

'तोड़ लिया, भगवन्!'

'क्या देखते हो ?'

'कुछ भी नहीं।'

तब आरुणि बोले—'हे सोम्य जिस अणिमा को तुम नहीं देखते, उसी में से यह महान् वट-वृक्ष निकला है। सोम्य, श्रद्धा, करो।

यह जो अणिमा (अणु या सूक्ष्म वस्तु) है, एतदात्मक ही यह सब संसार है। यह अणिमा ही सत्य है। वही हे श्वेतकेतु! तुम हो (तत्वमसि श्वेतकेतो)।'

वही सूक्ष्म सत्ता जो जगत् की आत्मा है, श्वेतकेतु में भी आत्म-रूप में वर्तमान है; जो पिंड में है, वही ब्रह्मांड में है। जागृत, स्वप्न आदि

---

[1] छांदोग्य० ६।१२

अवस्थाओं का विश्लेषण करके ऋषि जिस तत्व पर पहुँचे थे, वही तत्व वट-वृक्ष के बीज में भी अदृश्य रूप में वर्तमान है। उपनिषदों में अंतर्जगत् के तत्व-पदार्थ को आत्मा और बाह्य-जगत् के तत्व को ब्रह्म नाम से पुकारा गया है। उन का यह निश्चित मत है कि यह आत्मा-ब्रह्म ही है (अयमात्मा ब्रह्म)।

छांदोग्य के ही छठवें अध्याय में हम पढ़ते हैं :—

सदेव सोम्येदमग्र आसीदेकमेवाद्वितीयम्।

'हे सोम्य! आरंभ में यह एकमात्र अद्वितीय सत् ही वर्तमान था।' कुछ लोग कहते हैं कि आदि में एक अद्वितीय असत् ही था जिस से सब उत्पन्न हुआ, परंतु ऐसा कैसे हो सकता है? असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। इस लिए सृष्टि के आदि में एक अद्वितीय सत्पदार्थ ही अस्तित्ववान् था, ऐसा निश्चय करना चाहिए।'[1]

'हे सोम्य जैसे एक ही मिट्टी के पिंड को जान लेने पर मिट्टी की सारी चीज़ें जान ली जाती हैं क्योंकि मिट्टी के सब कार्य वाणी का आलंबन या नाम-मात्र हैं, वैसे ही ब्रह्म को जान लेने पर कुछ जानने को शेष नहीं रहता।'[2] यह उद्धरण वेदांत-साहित्य में बहुत प्रसिद्ध है। ब्रह्म के ज्ञान से सब का ज्ञान हो जाता है, इस का यही अर्थ है कि सब कुछ ब्रह्म का कार्य है।

तैत्तिरीय उपनिषद् में सृष्टि का वर्णन इस प्रकार है। 'उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ, आकाश से वायु, वायु से अग्नि, अग्नि से जल, जल से पृथ्वी, पृथ्वी से वनस्पतियां, वनस्पतियों से अन्न और अन्न से पुरुष।'

'जिस से यह भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न हो कर जिस में जीवित रहते हैं, जिस की ओर यह जाते हैं, जिस में प्रवेश करते हैं, उस की जिज्ञासा करो; वह ब्रह्म है।' 'आनंद से ही सब भूतवर्ग उत्पन्न होते हैं;

---

१ छांदोग्य० ६।२।१।४

२ वही ६।१।४

उत्पन्न हो कर आनंद में ही जीवित रहते हैं।' 'कौन साँस ले सकता, कौन जीवित रह सकता, यदि यह आकाश आनंदमय न होता।'

'अन्न को ब्रह्म समझना चाहिए; प्राण को ब्रह्म समझना चाहिए; मन को ब्रह्म समझना चाहिए; विज्ञान को ब्रह्म समझना चाहिए; आनंद को ब्रह्म समझना चाहिए।'

वेदांतियों का मत है कि इस प्रकरण (भृगुवल्ली, २—६) में पंच-कोशों का वर्णन है। सर राधाकृष्णन् के मत में अन्न का अर्थ जड़-तत्त्व है। प्रारंभिक विचारक जड़-तत्त्व को ही चरम वस्तु समझते हैं। इस प्रकार परमाणुवाद की नींव पड़ती है। लेकिन यदि परमाणु-पुंज ही अंतिम तत्त्व हैं, तो जीवन की व्याख्या किस प्रकार की जायगी? जड़ से चेतन की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस लिए प्राण अर्थात् जीवन की कल्पना करनी पड़ती है। ज्ञान या दर्शन-क्रिया सिर्फ़ जीवन से ऊँची चीज़ है, इस लिए मन ही अंतिम तत्त्व है, ऐसा विचार उत्पन्न होता है। विज्ञान या बुद्धि-तत्त्व चक्षु, मन आदि इंद्रियों से उच्चतर पदार्थ है, परंतु उपनिषद् के ऋषि उस से भी संतुष्ट नहीं हुए। उन्हों ने विश्व की व्याख्या के लिए आनंद-मय आत्मतत्त्व का आह्वान कर के ही विश्राम लिया। तैत्तिरीय में आत्मा को सत्य, ज्ञान और अनंत वर्णित किया गया है।

सप्रपंच और निष्प्रपंच ब्रह्म

उपनिषदों में ब्रह्म या विश्व-तत्त्व का वर्णन दो प्रकार का पाया जाता है। वे ब्रह्म को सगुण और निर्गुण दोनों तरह का बतलाते हैं। एक निर्गुण तत्त्व से इस विचित्र ब्रह्मांड की उत्पत्ति नहीं हो सकती, इस लिए स्थान-स्थान पर जगत् का वर्णन विराट् सत्ता का अंग कह कर किया जाता है। जो ब्रह्म जगत् से सहचरित है, जो अर्णनाभि (मकड़ी) की तरह विश्व को अपने से ही उत्पन्न करके उस में व्याप्त होता है, उसे सप्रपंच ब्रह्म कहते हैं। प्रपंच का अर्थ है विश्व का विस्तार। उपनिषदों में सप्रपंच ब्रह्म का वर्णन बड़ा काव्यमय है। नीचे हम कुछ श्लोक उद्धृत करते हैं:—

यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अंतरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमंतरो यमयति, एष त आत्माऽन्तर्याम्यमृतः।

बृहदारण्यक० ६।३

अर्थः--जो पृथ्वी में स्थित है और पृथ्वी का अंतर है; जिसे पृथ्वी नहीं जानती; जिस का पृथ्वी शरीर है; पृथ्वी के अंदर बैठ कर जो उस का नियमन या नियंत्रण करता है, वह अंतर्यामी अमृतमय तेरा आत्मा है। इसी प्रकार आत्मा जल में, अग्नि में, अंतरिक्ष आदि सब में अंतर्यामी-रूप से विराजमान है।

एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचंद्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः—बृहदारण्यक० ३।८।६

अर्थः—हे गार्गी! इसी अक्षर के शासन में सूर्य और चंद्रमा धारण किए हुए स्थित हैं। इसी के शासन में द्यावापृथिवी, निमेष, मुहूर्त आदि धारण किए जाकर स्थित हैं।

यतश्चोदेति सूर्योऽस्तमत्र च गच्छति
तं देवाः सर्वेऽर्पिता स्तदु नात्येति कश्चन एतद्वैतत्। कठ० २।६

अर्थः—जहां से सूर्य उदित होता है और जहां अस्त होता है, जिस में सब देवता अर्पित हैं, जिस का कोई अतिक्रमण नहीं कर सकता, यह वही है।

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो
रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव
एकस्तथा सर्व भूतान्तरात्मा
रूपं रूपं प्रतिरूपो बहिश्च। (कठ २।५।६)

अर्थः—जैसे अग्नि भुवन में प्रवेश कर के अनेकों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है, उसी प्रकार एक ही सब भूतों का अंतरात्मा प्रत्येक रूप (शक्ल) में आसमान है; इस के बाहर भी यही आत्मा है।

यस्मिन्द्यौः पृथिवी चांतरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः ।
तमेवैकं जानथ आत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः ॥
(मुं० २ । २ । ५)

अर्थः—जिस में द्युलोक, पृथिवी और अंतरिक्ष पिरोए हुए हैं, जिस में प्राणों सहित मन पिरोया हुआ है, इसी एक को आत्मा जानो; दूसरी बातें छोड़ दो । यह अमृत (अमरता) का सेतु है ।

अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चंद्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः ।
वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथ्वी ह्येष सर्वभूतांतरात्मा ॥
(मुं० २ । १ । ४)

अर्थः—अग्नि उस का सिर है, चंद्रमा और सूर्य नेत्र हैं और दिशा कान । उस की वाणी से वेद निकले हैं । वायु उस का प्राण है; विश्व उस का हृदय है; पृथ्वी उस के चरणों से उद्भूत हुई है; वह सब का अंतरात्मा है ।

अतः समुद्रा गिरयश्च सर्वेऽस्मात् स्यंदंते सिंधवः सर्वरूपाः ।
अतश्च सर्वा ओषधयो रसाश्च येनैष भूतैस्तिष्ठते ह्यंतरात्मा ॥
(मुं० २ । १ । ९)

अर्थः—इसी से सब समुद्र और पर्वत उत्पन्न हुए हैं; इसी से अनेक रूपों की नदियां बहती हैं; समस्त ओषधियां और रस इसी से निकले हैं; सब भूतों से परिवेष्टित होकर यह अंतरात्मा स्थित है ।

मनोमयः प्राणशरीरनेता प्रतिष्ठितोऽन्ने हृदयं सन्निधाय ।
तद्विज्ञानेन परिपश्यंति धीरा आनंदरूपममृतं यद्विभाति ॥
(मुं० २ । २ । ७)

अर्थः—यह आत्मा मनोमय है, मन की वृत्तियों से जाना जाता है; प्राण और शरीर का नेता है; हृदय में सन्निहित है, और अन्न में प्रतिष्ठित है । धीर लोग शास्त्र-द्वारा उसे जानते हैं और उस की आनंदमय अमृत-स्वरूप भासमान सत्ता का दर्शन करते हैं ।

सप्रपंच ब्रह्म के इस कवित्वमय वर्णन के बाद हम निष्प्रपंच ब्रह्म के वर्णन में कुछ उद्धरण देते हैं। बृहदारण्यक (३। ८। ८) में याज्ञवल्क्य गार्गी को अक्षर का स्वरूप समझाते हैं :—

"हे गार्गी! इस अक्षर का विद्वान लोग इस प्रकार वर्णन करते हैं। यह स्थूल नहीं है, अणु नहीं है, ह्रस्व नहीं है, दीर्घ नहीं है, रक्तवर्ण नहीं है, चिकना नहीं है; यह छाया से भिन्न है, अंधकार से पृथक् है, वायु और आकाश से अलग है; यह असंग है; यह रस-हीन और गंधहीन है; यह चक्षु का विषय नहीं है, श्रोत्र का विषय नहीं है, वाणी और मन का विषय नहीं है; इस का तेज से कोई संबंध नहीं है, प्राण और मुख से भी कोई संबंध नहीं है; इस का कोई परिमाण नहीं है; यह न अंदर है, न बाहर; यह कुछ नहीं खाता, इस को कोई नहीं खा सकता।"

केनोपनिषद् में लिखा है :—

अन्यदेव तद् विदितादथो अविदितादधिइति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे। (१। ४)

अर्थात् जो जाना जाता है उस से ब्रह्म भिन्न है, जो नहीं जाना जाता उस से भी भिन्न है, ऐसा हम ने प्राचीन विद्वानों के मुख से सुना है।

यद् वाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते। (केन० १। ५)

जिसे वाणी नहीं कह सकती, जिस की शक्ति से वाणी बोलती है, उसी को तुम ब्रह्म जानो, यह नहीं जिस की तुम उपासना करते हो।

मन जिस के विषय में नहीं सोच सकता, जिस की शक्ति से मन सोचता है, उसी को तुम ब्रह्म जानो; उसे नहीं, जिस की उपासना करते हो।

नचिकेता यम से कहता है :—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्माद् अन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद। (कठ, २। १४)

अर्थः—हे यमाचार्य! जो धर्म से अलग है और अधर्म से भी अलग

है; जो कृत (किए हुए) और अकृत (न किए हुए) दोनों से भिन्न हैं; जो अतीत और भावी दोनों से पृथक् तुम देखते हो, वह मुझे समझाओ।

अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगन्धवच्च यत्।
अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवंनिचाय्य तन्मृत्यु मुखात्प्रमुच्यते।
(कठ, १ । १५)

अर्थः—ब्रह्म शब्द, स्पर्श और रूप से रहित है, अव्यय है, रस-रहित और सदा गंध-हीन है; वह अनादि है, अनंत है, बुद्धितत्व से परे है और ध्रुव है। उसी का अन्वेषण करके मनुष्य मृत्यु के मुख से छूटता है।

नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।
अस्तीति ब्रुवतोऽन्यत्र कथं तदुपलभ्यते। (कठ, ६ । १२)

अर्थः—वह वाणी से प्राप्त नहीं किया जा सकता, मन और चक्षु—इंद्रियों—द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता। 'वह है' यह कहने के अतिरिक्त उस की प्राप्ति कैसे हो सकती है?

ऊपर के उद्धरणों से पाठक स्वयं देख सकते हैं कि उपनिषदों में सप्रपंच अथवा सगुण और निष्प्रपंच अथवा निर्गुण ब्रह्म दोनों का ही सुंदर और सजीव भाषा में वर्णन है। वेदांतियों का मत है कि ब्रह्म वास्तव में निर्गुण ही है और उस का सगुण रूप में वर्णन मंद-बुद्धि जिज्ञासुओं के बोध के लिए है। श्री रामानुजाचार्य के मत में ब्रह्म सगुण और निर्गुण दोनों ही है। वह अशेष कल्याणमय गुणों का भंडार है और संसार के सारे दुर्गुणों से मुक्त है।

उपनिषद् और मायावाद

यदि ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण और प्रपंच-शून्य है तो उस से जगत की उत्पत्ति कैसे होती है? यदि एकता ही सत्य है तो अनेकता की प्रतीति का क्या कारण है? वेदांती इस का कारण माया को बताते हैं। इस समय हमारे सामने प्रश्न यह है कि—क्या माया का सिद्धांत उपनिषदों में पाया जाता है?

'माया' शब्द भारतीय साहित्य में बहुत प्राचीन काल से प्रयुक्त होता

चला आया है। ऋग्वेद में वर्णन है कि इंद्र अपनी माया से बहुरूप (अनेक रूपवाला) हो गया है।[1] यही पंक्ति बृहदारण्यक में भी पाई जाती है।[2] बृहदारण्यक के भाष्य में उक्त पंक्ति (अर्थात् इंद्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते) पर टीका करते हुए श्री शंकराचार्य लिखते हैं :—

इंद्रः परमेश्वरो मायाभिः प्रज्ञाभिः नामरूपकृत मिथ्याभिमानैर्वा न तु परमार्थतः पुरुरूपो बहुरूप ईयते गम्यते।

अर्थात् इंद्र या परमेश्वर नामरूप कृत मिथ्याभिमान से अनेक रूपों वाला दिखलाई देता है, वास्तव में उस के बहुत रूप नहीं होते।

इस प्रकार श्री शंकराचार्य के मत में यहां मायावाद की शिक्षा है। 'जहां द्वैत जैसा (इव) होता है, वहां इतर इतर को देखता है, सुनता है, और जानता है; एक-दूसरे से बात-चीत करता है।'.........जब इस के लिए सब कुछ आत्मा ही हो जाता है तो किसे किस से देखे, किसे किस से सूँघे, किसे किस से सुने ?[3] यहां 'इव' शब्द के प्रयोग से वेदांतियों की सम्मति में मायावाद की पुष्टि होती है। 'मृत्तिका के सारे कार्य नाम-रूप-मात्र हैं, मिट्टी ही सत्य है' छांदोग्य का यह वाक्य भी जगत् के नाम-रूप-मात्र होने की घोषणा करता है। श्वेताश्वेतर में लिखा है:—

अस्मान्मायी सृजते विश्वमेतत् (४। ६)

मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम् (४। १०)

अर्थात्, वह मायावी इस से सारे जगत् की सृष्टि करता है। प्रकृति को माया समझना चाहिए और महेश्वर या शिव को मायी या माया का स्वामी।

इन उद्धरणों के बल पर शंकर के अनुयायी वेदांतियों का कहना कि उपनिषद् मायावाद की शिक्षा देते हैं। उन के कुछ विरोधियों का कथन है

---

[1] ऋ० ६। ४७। १८ [2] बृ० २। ५। १९

[3] बृ० २। ४। १४

कि उपनिषदों में माया—सिद्धांत का लेश भी नहीं है और यह सिद्धांत बौद्धों से प्रभावित हुए शंकराचार्य की अपनी कल्पना है। पद्मपुराण में शंकर को इसी कारण प्रच्छन्न बौद्ध (छिपा हुआ शून्यवादी) कहा गया है।

वास्तव में इन दोनों मतों में अतिरंजना का दोष है। वस्तुतः उपनिषदों में जगत् के मिथ्या होने का विचार नहीं पाया जाता। कठोपनिषत् में लिखा है—

यदेवेह तदमुत्र यदमुत्र तदन्विह मृत्योः स मृत्यु माप्नोति य इह नानेव पश्यति। (२। ११)

अर्थात्, जो यहां है वह वहां है और जो वहां है वह यहां है। वह एक मृत्यु से दूसरी मृत्यु को प्राप्त होता है जो यहां अनेकता देखता है।

इस मंत्र से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि उपनिषद् ब्रह्म और जगत् की सत्यता में भेद नहीं करते। जब छांदोग्य में आरुणि पूछते हैं, 'कथमसतः सज्जायेत'—असत् से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है?—तब वे स्पष्ट शब्दों में जगत् का सत् होना स्वीकार कर लेते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि उपनिषद् जगत् को मिथ्या नहीं बताते। ऋग्वेद की पंक्ति में माया का अर्थ 'आश्चर्यजनक शक्ति' समझना चाहिए। श्वेताश्वेतर की माया तो प्रकृति ही है जिस के अध्यक्ष शिव हैं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि एकता से अनेकता की उत्पत्ति के रहस्य को उपनिषद् के ऋषियों ने स्पष्ट नहीं किया है, और कहीं-कहीं उन की भाषा किसी 'माया' जैसी रहस्यपूर्ण शक्ति की ओर संकेत करती है। जैसा कि थिबो ने भी स्वीकार किया है, उपनिषदों में से शंकर वेदांत का विकास स्वाभाविक ही हुआ है। शंकर का मायावाद उपनिषदों की भूमि में आकर विजातीय नहीं मालूम होता।

उपनिषदों का मनोविज्ञान

मानसशास्त्र या मनोविज्ञान की परिभाषा मानव-इतिहास के विभिन्न युगों में विभिन्न प्रकार की होती आई है। वास्तव में मनोविज्ञान आजकल की चीज़ है। उन्नीसवीं शताब्दी में योरुप के देशों में उस का जन्म और विकास हुआ है।

प्राचीन काल में यूनान या ग्रीस के दार्शनिक अरस्तू ने मनोविज्ञान की नींव डाली थी। भारतवर्ष में उपनिषत्काल में हम मानसिक व्यापारों के विषय में जिज्ञासा और विचार पाते हैं। प्राचीन काल के सभी विचारक आत्मा की सत्ता में विश्वास करते थे। ग्रीक भाषा से गृहीत 'साइकॉलोजी' शब्द का अर्थ आत्मविज्ञान या आत्म-विषयक चर्चा है। उन्नीसवीं शताब्दी में मनोविज्ञान का अर्थ 'आत्मा की दशाओं का अध्ययन' किया जाता था। बाद को 'आत्मा' शब्द का प्रयोग छोड़ दिया गया और मानस-शास्त्र का काम मानसिक दशाओं का अध्ययन समझा जाने लगा। आधुनिक काल के कुछ मनोवैज्ञानिक तो शारीरिक दशाओं से भिन्न मानसिक दशाओं की सत्ता में भी संदेह करने लगे हैं। अमेरिका के 'बिहेवियेरिज़्म' नामक स्कूल की गति घोर जड़वाद की ओर है।

आधुनिक विचारकों की भाँति उपनिषद् के ऋषि मानसिक और शारीरिक दशाओं में घनिष्ट संबंध मानते हैं। इस संबंध पर विचार करने के लिए आजकल एक स्वतंत्र शास्त्र है, जिसे 'फ़िज़ियॉलोजिकल साइकॉलोजी' कहते हैं। छांदोग्य में लिखा है—अन्नमयं हि सोम्य मनः[1]—अर्थात् मन अन्नमय या अन्न का बना हुआ है। अन्न का ही सूक्ष्म भाग मन में परिवर्त्तित हो जाता है। छांदोग्य में ही अन्यत्र कहा है—आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः, सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः[2]—अर्थात् शुद्ध सात्त्विक आहार करने से मस्तिष्क शुद्ध होता है और मस्तिष्क शुद्ध होने से स्मरणशक्ति तीव्र होती है।

उपनिषदों के मनोविज्ञान को हम 'रेशनल साइकॉलोजी' कह सकते हैं। मानसिक जीवन की व्याख्या के लिए आत्मसत्ता को मानना आवश्यक है। इस आत्मा का स्थान कहाँ है? उपनिषदों के कुछ स्थलों में आत्मा को सीमित कर के वर्णित किया गया है। कठ में लिखा है :—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति। (४।१२) अर्थात् अँगूठे के बराबर पुरुष आत्मा (शरीर या हृदय) के बीच में स्थित है। छांदोग्य

---

[1] छां० ६।५।४ [2] छां० ७।६।२

में भी वर्णन है कि आत्मा पुंडरीक (कमल) के आकार के दहराकाश या हृदयाकाश में स्थित है । फ्रेंच दार्शनिक डेकार्ट ने आत्मा का स्थान मस्तक की ग्रंथि विशेष बतलाई थी ।

लेकिन उपनिषद् के ऋषि आत्मा को परिवर्तनशील मानसिक दशाओं से एक करके नहीं मानते । आत्मा अविकारी है । कठोपनिषत् के अनुसार 'इंद्रियों से उन के विषय सूक्ष्म हैं, विषयों से मन सूक्ष्म है, मन से बुद्धि सूक्ष्म है, बुद्धि से अव्यक्त अथवा प्रकृति और प्रकृति से भी पुरुष । पुरुष से सूक्ष्म कुछ नहीं है; वह सूक्ष्मता की सीमा है; वह परम गति है ।' आत्मा जागृत, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं से परे है । शरीर, प्राण, मन और बुद्धि यह सब आत्मा के ऊपर आवरण से हैं । शंकर के मत में तो आनंद भी आत्मा का अपना स्वरूप नहीं है, वह भी एक 'कोश' है । परंतु शंकर की यह व्याख्या उपनिषदों और वेदांत-सूत्रों दोनों के आंतरिक अभिप्राय के विरुद्ध है । इस के विषय में हम आगे लिखेंगे ।

आजकल के मनोवैज्ञानिक सारी मानसिक दशाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त करते हैं, संवेदन, ('फ़ीलिंग') संकल्प, ('वालिशन') और विकल्प अथवा विचार ('थॉट')।

मानसिक दशाओं का वर्णन

ऐतरेय के एक स्थल में लगभग एक दर्जन मानसिक दशाओं के नाम हैं अर्थात् संज्ञान, अज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम और वश । उपनिषद् (ऐ० ३ । २) कहता है कि यह सब प्रज्ञान के ही नाम हैं ।

इस एक उद्धरण से ही पता चल जाता है कि उस समय का मनोवैज्ञानिक शब्दकोष कितना संपन्न था । हम पाठकों का ध्यान मनोविज्ञान का एक सुंदर कोष बनाने की आवश्यकता की ओर आकर्षित करना चाहते हैं । यह काम संस्कृत के दार्शनिक साहित्य की सहायता से बिना कठिनाई के पूरा हो सकता है, परंतु इस के लिए कई व्यक्तियों का सहयोग अपेक्षित है । इस काम को पूरा किए बिना योरुप के बढ़ते हुए मानसशास्त्र-संबंधी

साहित्य का हिंदी में अनुवाद भी नहीं किया जा सकता।

इसी प्रकार छांदोग्य में एक स्थान पर[1] 'संकल्प' की प्रशंसा की गई है। मानसिक दशाओं में संकल्प ही प्रधान है, यह मत जर्मन दार्शनिक शोपेनहार के सिद्धांतों से मिलता है। आजकल कुछ मनोवैज्ञानिक बुद्धि को प्रधानता देते हैं, कुछ संकल्प को और कुछ संवेदनाओं या मनोवेगों को। छांदोग्य में ही संकल्प की महिमा बताने के कुछ बाद कहा है, 'अथवा चित्त संकल्प से ऊपर है' (चित्तं वाव संकल्पाद् भूयः)[2] मैत्री उपनिषद् में लिखा है 'मनुष्य मन से ही देखता है, मन से ही सुनता है, काम, संकल्प, विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा......सब मन ही हैं।'[3] यहां इंद्रियों पर मन की प्रधानता बताई गई है और विभिन्न मानसिक दशाओं को मन का विकार कहा गया है।

निद्रा के विषय में बृहदारण्यक में लिखा है—'जैसे पक्षी थक कर घोंसले में घुस जाता है, वैसे ही यह पुरुष श्रांत होकर अपने भीतर लय हो जाता है।'[4] छांदोग्य में एक स्थल में लिखा है कि सोते समय पुरुष नाड़ियों में प्रवेश कर जाता है और स्वप्न नहीं देखता।[5]

स्वप्नों के विषय में उपनिषदों के विचार महत्त्वपूर्ण हैं। वे पुरुष में स्वप्न-दशा में सृजन करने की शक्ति का वर्तमान होना मानते हैं। 'वहां न रथ होते हैं न रथ के रास्ते; रथों और उन के मार्गों का यह सृजन करता है।......बहती हुई झीलों का, तड़ागों का, इत्यादि' (बृ० ४।३।१०)।

उपनिषत्कार जीव की अमरता या 'मृत्यु के बाद जीवन' की शिक्षा के पक्षपाती हैं। आजकल की 'साइकिकल रिसर्च' की (परिषदें) इस प्राचीन सत्य को स्वीकार और सिद्ध कर रही हैं।

---

[1] छां० ७।४।२ [2] छां० ७।५।१
[3] मैत्री ४।३० [4] बृ० ४।३।१९
[5] छां० ८।६।३

व्यवहार-शास्त्र, व्यवहार-दर्शन अथवा आचार-शास्त्र में, समाज में रह कर मनुष्य को किन-किन कर्तव्यों का पालन करना चाहिए, इस का वर्णन रहता है। शास्त्र और समाज जिन्हें हमारे कर्तव्य बतलाते हैं, वे युक्तिसंगत या बुद्धि के अनुकूल हैं या नहीं? कौन-सा आचार या क्रिया वर्जनीय है और कौन ग्रहण करने योग्य है, इस का वैज्ञानिक विवेचन व्यवहार-शास्त्र का काम है। मनुष्य जिस भाँति रह रहे हैं और अपने साथियों के चरित्र को देख कर अच्छे-बुरे का निर्णय कर रहे हैं, उस पर विचार कर के क्या हम किन्हीं सार्वभौम, वैज्ञानिक सिद्धांतों पर पहुँच सकते हैं? क्या मानव-व्यवहार के, उस व्यवहार के जिसे हम नैतिक दृष्टि से ग्राह्य कहते हैं, कुछ ऐसे नियम हैं जो देश-काल की सीमा से परे हैं? सामाजिक और नैतिक संस्थाओं के इतिहास का अध्ययन कर के क्या हम उन के परिवर्तन और विकास के नियमों को जान सकते हैं? इस विकास की क्या कोई नियमित गति है? व्यवहार-दर्शन ऐसे ही प्रश्नों के उत्तर खोजता है।

उपनिषदों का व्यवहार-दर्शन

योरुप के विद्वान बार-बार यह आक्षेप करते हैं कि भारतीय विचारकों ने व्यवहार-दर्शन में विशेष अभिरुचि या दिलचस्पी नहीं दिखलाई है। उन के इस शास्त्र-संबंधी सिद्धांत या विचार वैज्ञानिक विश्लेषण से प्राप्त नहीं किए गए हैं। शायद कुछ हद तक यह आक्षेप ठीक हो। वस्तुतः भारतवर्ष में व्यवहार-शास्त्र अपने को श्रुतियों, स्मृतियों तथा अन्य धार्मिक ग्रंथों के प्रभाव से मुक्त न कर सका। ग्रीस में अरस्तू ने जो काम इतने प्राचीन समय में अपनी 'एथिक्स' लिख कर किया, वह भारत के विचारक आज तक न कर सके। लेकिन इस का अर्थ यही नहीं है कि भारतीय विचारकों की व्यावहारिक प्रश्नों में अभिरुचि नहीं थी। इस के विषय में अधिक हम आगे लिखेंगे।

यह ठीक है कि उपनिषद् के ऋषि व्यवहारिक समस्याओं पर उतना ध्यान नहीं देते जितना कि आत्मा-परमात्मा-संबंधी विचारों पर। लेकिन जैसा

कि भूमिका में कह चुके हैं, भारतवर्ष में सारी दार्शनिक खोज का उद्देश्य व्यावहारिक था। भारत के दार्शनिक एक विशेष लक्ष्य तक पहुँचना चाहते थे जिस के उपायों की खोज ही उन की दृष्टि में दार्शनिक प्रक्रिया थी।

उपनिषदों में व्यवहारिक शिक्षाएं जगह-जगह बिखरी हुई पाई जाती हैं। वे सत्य पर विशेष ज़ोर देते हैं। सत्यकाम जाबाल की कथा में सत्य बोलने का महत्व दिखाया गया है। प्रश्नोपनिषद् में लिखा है, 'समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति'[1] अर्थात् वह पुरुष जड़-सहित नष्ट हो जाता है जो झूठ बोलता है। मुंडकोपनिषद् कहता है, 'सत्यमेव जयते नानृतम् सत्येन पन्था विततो देवयानः।' (३ । १ । ६)

अर्थात् 'सत्य की ही जय होती है, झूठ की नहीं। सत्य से देवयान (देवमार्ग) विस्तृत या प्रशस्त होता है।' तैत्तिरीय उपनिषद् में आचार्य ने जो शिष्य को शिक्षा दी है उस का हम कुछ आभास दे चुके हैं। वहां दान के विषय में लिखा है—'श्रद्धया देयम्; अश्रद्धया अदेयम्; श्रिया देयम्; ह्रिया देयम्; भिया देयम्।'[2] अर्थात् 'दान श्रद्धा से देना चाहिए, अश्रद्धा से नहीं। धन का दान करना चाहिए; लज्जा से दान करना चाहिए, भय से दान करना चाहिए।'

देव और पितरों के कार्य से प्रमाद नहीं करना चाहिए। माता को देवता समझना चाहिए, पिता को देवता समझना चाहिए। इंद्रिय-निग्रह की शिक्षा तो उपनिषदों में जगह-जगह पाई जाती है। इंद्रियों की घोड़ों से उपमा दी गई है, मन को उन्हें बाँधनेवाली रस्सियों से और बुद्धि को सारथि से। उस पुरुष का ही कल्याण होता है जिस की बुद्धि मन और इंद्रियों को वश में रखती है।

कर्ता की स्वतंत्रता

कर्म करने में हम स्वतंत्र हैं या नहीं? यदि हम स्वतंत्र नहीं हैं, यदि ईश्वर ही अच्छे-बुरे कर्म कराता है, अथवा यदि भाग्य के वश में होकर हम भले-बुरे कर्म करते

[1] प्रश्न, ६। १

[2] तै० १। ११

हैं, तो हमें कर्मों का फल नहीं मिलना चाहिए। जिस के करने में मेरा हाथ नहीं है, उस के लिए मैं उत्तरदायी नहीं हो सकता। उपनिषद् कर्म-सिद्धांत और पुनर्जन्म को मानते हैं, इस लिए वे कर्ता की स्वतंत्रता को भी मानते हैं। कठ में लिखा है :—

योनिमन्ये प्रपद्यंते शरीरत्वाय देहिनः
स्थाणुमन्येऽनु संयंति यथाकर्म, यथा श्रुतम्। (५ । ७)

अर्थात् अपने-अपने कर्मों के अनुसार जीवधारी पशु-पक्षियों या वनस्पतियों की योनि को प्राप्त होते हैं। मुक्तिकोपनिषद् कहता है :—

शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना सरित्
पौरुषेण प्रयत्नेन योजनीया शुभे पथि। (२ । ५)

अर्थात् 'वासना की नदी अच्छे और बुरे दो रास्तों से बहती है, मनुष्य को चाहिए कि उसे अपने प्रयत्न से सन्मार्ग में प्रवाहित करे।' यहां स्पष्ट ही पुरुषार्थ पर ज़ोर दिया गया है। कहीं-कहीं कर्ता की स्वतंत्रता के विरुद्ध भी वाक्य पाए जाते हैं। 'जिन्हें वह ऊँचे लोकों में पहुँचाना चाहता है, उन से अच्छे कर्म कराता है'[1] परंतु उपनिषदों का हृदय कर्तृ-स्वातंत्र्य के पक्ष में है। अन्यथा 'आत्मा वा अरे श्रोतव्यो मंतव्यो निदिध्यासितव्यः' अर्थात् आत्मा का ही श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए, इत्यादि उपदेश-वाक्य व्यर्थ हो जायँगे।

कर्म और संन्यास

जैसा कि हम पहले इंगित कर चुके हैं जीवन के भोगों और ऐश्वर्यों के प्रति उपनिषदों का भाव उदासीनता का है। बाद के—कठ आदि—उपनिषदों में संन्यास के लिए प्रबल आकर्षण पाया जाता है। याज्ञवल्क्य जैसे गउओं की कामना करनेवाले विचारक कम होते जाते हैं। श्रेय और प्रेय के बीच में तेज़ रेखा खींच दी जाती है और दार्शनिकों को त्याग और तपश्चर्या का जीवन आकर्षित करने लगता है। ईशोपनिषद् में ज्ञान और कर्म दोनों के समुच्चय

[1] कौषीतकी०, ३। ९

की शिक्षा है। 'जो अविद्या की ही उपासना करते हैं वे घोर अंधकार में घुसते हैं, जो विद्या (ज्ञानमार्ग) के उपासक हैं वे उस से भी गहरे अंधकार में जाते हैं। जो केवल विद्या और अविद्या दोनों को साथ-साथ जानता है, वह अविद्या से मृत्यु को पार करके विद्या से अमृतत्व या अमरता लाभ करता है।'[1] 'कर्म करते हुए ही सौ साल तक जीने की इच्छा करे। इस प्रकार ही मनुष्य कर्मों में लिप्त होने से बच सकता है; दूसरा कोई रास्ता नहीं है।'[2]

इस समुच्चयवाद की शिक्षा का महत्त्व लोग दिन पर दिन भूलते गए। ज्ञान और संन्यास पर ज़्यादा ज़ोर दिया जाने लगा। भारतीयों के पतन का एक कारण यह भी हुआ कि यहां के बड़े-बड़े विचारक नेता समाज के प्रति उदासीनता का भाव धारण करके अपने व्यक्तिगत मोक्ष की कामना करते रहे। आधुनिक विद्वानों का विश्वास है कि सारी मानव-जाति की मुक्ति एक साथ ही होगी।[3] अपने को समाज से अलग करके व्यक्ति उन्नति नहीं कर सक्ता। व्यक्ति को समाज से अलग कर देने पर उस की सत्ता ही नहीं रहती। मनुष्य सामाजिक प्राणी है, समाज में रह कर ही वह अपना कल्याण कर सकता है।

उपनिषदों का, और भारत के अन्य दर्शनों का भी, ध्येय मुक्ति पाना था। मोक्ष के लिए ही आत्मसत्ता पर मनन और उसके ध्यान की शिक्षा दी गई है। आत्म-प्राप्ति के लिए तत्पर होकर उपाय करने की इस शिक्षा अर्थात् श्रवण, मनन और निदध्यासन[4] को श्री रानाडे के शब्दों में, हम आध्यात्मिक कर्म-

मोक्ष

[1] ईश० ९।११ [2] ई० २

[3] प्रसिद्ध वेदांती अप्पय दीक्षित का भी यही मत है।

[4] श्रवण का अर्थ है गुरुमुख से आत्म-विषयक उपदेश सुनना। मनन का आशय सुने हुए पर तर्कबुद्धि से विचार करना समझना चाहिए। निदिध्यासन का अर्थ ध्यान, उपासना या आत्मप्रत्यक्ष की प्रक्रिया है।

वाद कह सकते हैं। यहां कर्मवाद का मतलब ब्राह्मणों के यज्ञ-विधान नहीं समझना चाहिए। वास्तव में याज्ञिक कर्मों और उन फलभूत स्वर्ग आदि को उपनिषद् नीची दृष्टि से देखते हैं। इसी लिए कहा गया है कि उपनिषदों का लक्ष्य अर्थात् मोक्ष व्यावहारिक जीवन और बौद्धिक जीवन दोनों को अतिक्रमण करता है। भारतीय दर्शनों का लक्ष्य व्यवहारशास्त्र और तर्कशास्त्र दोनों के परे है। इस का अर्थ यही है कि मोक्ष-प्राप्ति के लिए नैतिक पवित्रता और सूक्ष्म चिंतन अथवा मनन ही काफ़ी नहीं हैं, यद्यपि यह दोनों ही आवश्यक हैं।[1] ब्रह्म को उपनिषद् तर्क-बुद्धि से परे और कर्मों से न बढ़ने-घटने वाला ('न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्') बतलाते हैं। ब्रह्म धर्म और अधर्म, ज्ञात और अज्ञात से भिन्न है। मोक्ष का स्वरूप भी ब्रह्मभाव ही है।

उपनिषदों में रहस्यवाद

ब्रह्म के वर्णन में उपनिषद् कभी-कभी बड़ी रहस्यपूर्ण भाषा का आश्रय लेते हैं। जैसा कि हम कह चुके हैं भारतीय रहस्यवाद का स्रोत उपनिषद् ही हैं। ईशोपनिषद् कहता है, 'वह ब्रह्म चलता है, वह नहीं चलता, वह दूर है, वह पास भी है; वह सब के अंदर है, वह सब के बाहर है।' अपने आराध्य के विषय में इस प्रकार की अनिश्चित भाषा का प्रयोग रहस्यवाद का बाह्य लक्षण है। ध्यान-मग्न साधक अपने प्रेमास्पद का, अनंत ज्योतिर्मय आत्म-तत्त्व का, साक्षात्कार करता है। मानव-स्वभाव से प्रेरित होकर वह उस साक्षात्कार की अनुभूति को वाणी में प्रकट करना चाहता है। परंतु सीमित भाषा असीम का वर्णन कैसे कर सकती है? अनंत प्रेम, अनंत सौंदर्य और अपार आनंद को प्रकट करने के लिए मानव-भाषा में शब्द नहीं हैं। प्रियतम को देखने और आत्मसात् करने का जो असीम उल्लास है, उस की रूपशिखा के प्रत्यक्ष का जो अपरिमित आश्चर्य है, वह सीमित और व्यवहारिक मस्तिष्कों से निकली हुई भाषा से परे है। यही रहस्यवादियों

[1] तुलना कीजिए 'नाविरतो दुश्चरितात्' और 'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'।

की चिरकालिक कठिनाई है, यही कारण है कि हमें कबीर जैसे कवियों की वाणी अटपटी और अद्भुत प्रतीत होती है। इसी कारण उपनिषदों की भाषा सीधी और सरल होते हुए भी कहीं-कहीं दुरूह हो जाती है।

'उस में स्पंदन नहीं है (अनेजत्) लेकिन वह मन से भी अधिक वेगमान् है। देवता उस तक नहीं पहुँच सके, पर वह देवताओं तक पहले से ही पहुँचा हुआ है। वह सब दौड़ते हुओं को अतिक्रमण कर जाता है, यद्यपि स्वयं एक ही जगह स्थिर रहता है। उस के भीतर रह कर ही वायु जल को धारण करता है।' यमाचार्य कहते हैं:—

आसीनो दूरं व्रजति शयानो याति सर्वतः
कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातु मर्हति। (२ । २१)

"बैठा हुआ वह दूर चला जाता है, सोता हुआ वह सर्वत्र पहुँच जाता है। उस हर्ष और अहर्ष (शोक) सहित विरुद्ध धर्मवाले देवता को मेरे सिवाय कौन जान सकता है?"

इस ब्रह्म को जानने में मन और इंद्रियां असमर्थ हैं। बृहदारण्यक में लिखा है:—

तस्माद् ब्राह्मणः पाडित्यं निर्विद्यबाल्येन तिष्ठासेत्।
(३ । ५ । १)

अर्थात् 'इस लिए ब्राह्मण को चाहिए कि पांडित्य को छोड़ कर बालकपन का आश्रय ले।' बालक के समान सरल बने बिना ब्रह्म-प्राप्ति नहीं हो सकती। मुण्डकोपनिषद् का उपदेश है:—

प्रणवो धनुः शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत्तन्मयो भवेत्॥ (२ । २ । ४)

"प्रणव को धनुष समझना चाहिए और आत्मा को बाण; ब्रह्म ही लक्ष्य है। प्रमाद-हीन होकर इस प्रकार वेधना चाहिए कि आत्मा ब्रह्म में, लक्ष्य में तीर की तरह, तन्मय होकर मिल जाय।"

उपनिषदों में भारतीय दर्शनों का मूल

हम पहले कह चुके हैं कि उपनिषद् अनेक लेखकों की कृतियां हैं और उन में अनेक विचारधाराएं पाई जाती हैं। हम ने अब तक उपनिषदों के विचारों का वर्णन कुछ इस प्रकार किया है मानों उन में आंतरिक भेद नहीं हैं। लेकिन उपनिषदों के आधार पर अनेक आचार्यों और दार्शनिक संप्रदायों ने अपने मत की पुष्टि की है, यही इस बात का प्रमाण है कि उपनिषदों में विभिन्न विचार पाए जाते हैं।

न्याय और वैशेषिक

न्याय और वैशेषिक दर्शनों का मूल उपनिषदों में प्रायः नहीं है, इसी लिए वेदांतियों को 'तार्किकों' से 'विशेष चिढ़ है। नैयायिकों ने उपनिषदों से सिर्फ़ एक बात ली है, वह यह कि आत्मा निद्रावस्था में पुरीतत् नाड़ी में शयन करता है। मोक्ष और आत्माओं के बहुत्व तथा व्यापकता की धारणाएं भी उपनि-षदों की चीज़ मानी जा सकती हैं। परमाणुवाद और नैयायिकों का ईश्वर उपनिषदों में पाना कठिन है।

सांख्य का मूल

कठोपनिषद् में पुरुष को अव्यक्त से और अव्यक्त को महत्तत्व से परे या सूक्ष्म बतलाया गया है। इस प्रकार सांख्य के प्रकृति, बुद्धि और पुरुष का वर्णन यहां मिल जाता है।[1] किंतु सांख्य का मुख्य स्रोत श्वेताश्वेतर उपनिषद् है। इस उपनिषद् में कपिल का नाम आता है।[2] किंतु वेदांती लोग वहां कपिल का अर्थ वर्णविशेष करके उसे हिरण्यगर्भ का विशेषण बतलाते हैं। श्वेताश्वेतर में एक प्रसिद्ध श्लोक है।

अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम् बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगा भजोऽन्यः।
(४।५)

[1] कठ, १।३।१०, ११

[2] श्वेता० ५।२

अर्थात्, "एक बहुत सी सदृश प्रजाओं को उत्पन्न करनेवाली लाल, सफ़ेद और काले वर्ण की अजा (बकरी या कभी उत्पन्न न होनेवाली प्रकृति) है। एक अज (बकरा या बद्ध जीव) उस के साथ रमण करता है, दूसरा अज (मुक्त पुरुष या बकरा) उस भोग की हुई को छोड़ देता है।" यहां सांख्यों के अनुसार तीन गुणों वाली प्रकृति का वर्णन है।

किंतु श्वेताश्वेतर का सांख्य, जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं निरीश्वर सांख्य नहीं है। वहां प्रकृति ईश्वर की माया या शक्ति ही रहती है। प्रश्नोपनिषद् में पुरुष को सोलह कलाओंवाला कहा गया है जिन से छूट कर पुरुष मुक्त हो जाता है।[1] इन कलाओं का वर्णन लिंग-शरीर से कुछ समता रखता है।

योग का मूल

योग की महिमा अनेक उपनिषदों में गाई गई है। कठ में लिखा है—

यदा पंचावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह ।
बुद्धिश्च न विचेष्टते तामाहुः परमां गतिम् ।
तां योगमिति मन्यन्ते स्थिरामिन्द्रिय-धारणाम् ।

(२ । ६ । १०--११)

अर्थात्, जिस अवस्था में पाँचों ज्ञानेंद्रियां और मन अपने विषयों से उपरत हो जाते हैं और बुद्धि भी चेष्टा करना छोड़ देती है, उसे परम गति कहते हैं। इंद्रियों की उस स्थिर धारणा का ही नाम योग है। श्वेताश्वेतर (२ । ८—१४) में योग-प्रक्रिया का विस्तृत वर्णन है। योग के भौतिक पहलुओं पर कौषीतकी और मैत्री उपनिषद् में प्रकाश डाला गया है।

मीमांसा

वस्तुतः मीमांसा के यज्ञ-विधानों के महत्व का उद्गम ब्राह्मण-युग का साहित्य है। ब्राह्मण-काल और सूत्र-काल, जो कि उपनिषदों के ठीक बाद आता है, का वर्णन हम कर चुके

---
[1] प्र० ६ । ५

हैं। ईशोपनिषद् में ज्ञान और कर्म दोनों के प्रति न्याय करने की कोशिश की गई है।

शैवमत और उपनिषद्

श्वेताश्वेतर में ईश्वर की पदवी रुद्र या शिव को मिल जाती है।

एको हि रुद्रो न द्वितीयाय तस्थुः, य इमान्
लोकान् ईशत ईशनीभिः। ३। २

अर्थात् 'एक अद्वितीय शिव जगत् का अपनी शक्ति से शासन करते हैं।'

ज्ञात्वा शिवं सर्वभूतेषु गूढम् मुच्यते सर्वपाशैः। ४। १६

अर्थात् शिव जी सब भूतों में व्याप्त हैं, उन्हें जान कर सब बंधनों से छूट जाता है।

गीता का मूल

तीन उपनिषद् अर्थात् कठ, मुंडक और श्वेताश्वेतर भगवद्गीता का आधार हैं। कठ के कुछ श्लोक तो गीता में ज्यों के त्यों पाए जाते हैं, या थोड़े परिवर्तित रूप में। 'न जायते म्रियते वा विपश्चित्' 'हन्ता चेन्मन्यते हन्तुं हतश्चेन्मन्यते हतम्, उभौ तौ नो विजानीतो', 'आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य श्रोता' इत्यादि श्लोक उदाहरण में उद्धृत किए जा सकते हैं। निष्काम कर्म अथवा कर्मयोग का मूल ईशोपनिषत् में मिलता है। 'कर्म करते हुए ही सौ वर्ष तक जीने की इच्छा करे' (कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः)। विश्वरूप-वर्णन मुंडक में वर्तमान है। कठ में प्रसिद्ध अश्वत्थ का वर्णन है जिस की जड़ ऊपर और शाखाएं नीचे हैं। श्वेताश्वेतर की भाँति गीता में भी सांख्य की प्रशंसा की गई है।

श्रीरामानुज-दर्शन

वेदांत-सूत्रों पर भाष्य करनेवाले श्रीरामानुजाचार्य, श्रीशंकराचार्य के मुख्य प्रतिपक्षी हैं। यह मानना ही पड़ेगा कि रामानुज की अपेक्षा शांकर वेदांत की पुष्टि उपनिषदों में अधिक स्पष्ट रूप में होती है। रामानुज के मत में जीव

असंख्य हैं और उन का परिमाण अणु है। प्रकृति की भी अपनी (स्वतंत्र) सत्ता है। ईश्वर सगुण है, जीव और प्रकृति उस के विशेषण (विभूतियां) हैं। कोई पदार्थ निर्गुण नहीं हो सकता। उपनिषदों की शिक्षा स्पष्ट रूप में जगत् की एकता का प्रतिपादन करती है—'नेह नानास्ति किंचन', कहीं नानात्व नहीं है। फिर भी रामानुज के मत की पोषक श्रुतियों का अभाव नहीं है। नीचे हम कुछ उद्धरण देते हैं।

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।
(मुं० ३।१।१)

अर्थः—दो पक्षी एक ही वृक्ष पर बैठे हैं, उन में से एक फलों का स्वाद लेता है, दूसरा केवल देखता रहता है। यहां ईश्वर और जीव का भेद-कथन है। यह श्रुति मध्वाचार्य के द्वैत की भी पोषक है।

भोक्ता भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।
(श्वे० १।१२)

अर्थात्—भोक्ता (जीव), भोग्य (प्रकृति) और प्रेरक (ईश्वर) भेद से ब्रह्म तीन प्रकार का कहा गया है।

यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णम् कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्
तदा विद्वान् पुण्यपापे विधूय निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।
(मुं० ३।१।३)

अर्थात्—'विश्व के कर्ता रुक्म-वर्ण ब्रह्म का दर्शन करके विद्वान् पाप-पुण्य से छूट कर निर्विकार ब्रह्म के परम दृश्य को प्राप्त होता है।' मुक्त पुरुष ब्रह्म से भिन्न रहता है, सिर्फ ब्रह्म के समान हो जाता है, यह सिद्धांत रामानुज का है। यह मंत्र शंकराचार्य के विरुद्ध पड़ता है, क्योंकि उन के अनुसार मुक्त पुरुष ब्रह्म में लय या ब्रह्म ही हो जाता है।

वेदांत विज्ञान सुनिश्चितार्थाः संन्यास योगाद्यतयः शुद्धसत्वाः
ते ब्रह्मलोकेषु परांतकाले परामृताः परिमुच्यन्ति सर्वे।
(मुं० ३।२।६)

अर्थात्—'वेदांत के ज्ञाता शुद्ध-हृदय यती मरने के बाद ब्रह्मलोक को प्राप्त होकर प्रलय-काल में मुक्त हो जाते हैं।' यहां क्रममुक्ति का वर्णन है जो शांकर अद्वैत के विरुद्ध है। शंकर के अनुसार ज्ञानी मर कर तुरंत मुक्त हो जाता है।

रामानुज-दर्शन भी अद्वैतवादी होने का दावा करता है। रामानुज का दर्शन 'विशिष्टाद्वैत' कहलाता है। उस के विषय में हम दूसरे भाग में पढ़ेंगे।

शांकर वेदांत

अपने एक अंश में शांकर वेदांत उपनिषदों का प्रतिपाद्य विषय ही मालूम पड़ता है। परंतु शंकर का मायावाद उपनिषदों में स्पष्ट प्रतिपादित नहीं है। 'जिस को जानने से बिना सुना हुआ सुना हो जाता है, बिना जाना हुआ जान लिया जाता है', जैसे ऊर्णनाभि सृजन करती और ग्रहण कर लेती है', 'पुरुष ही यह सब कुछ है' (पुरुष एवेदं सर्वम्), 'ब्रह्म को जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है' (ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति), इत्यादि पचासों श्रुतियां शंकर के पक्ष में उद्धृत की जा सकती हैं। इसी अध्याय में पाठकों को बहुत से उद्धरण विश्व की एकता के पोषक मिल चुके हैं।

परंतु इस का यह अर्थ नहीं है कि उन श्रुतियों के अर्थ में जो द्वैत का का साफ़ प्रतिपादन करती हैं, खींचातानी की जाय। वास्तव में उपनिषदों की शिक्षा में बहुत ज्यादा एकता की आशा करना कठिनाई में डाल देता है। दर्जनों विचारकों के मत में सौ प्रतिशत समता और सामंजस्य पाया जाना कठिन है। 'उपनिषदों में एक ही सिद्धांत का प्रतिपादन है' इस हठधर्मी ने विभिन्न टीकाकारों को मंत्रों के सीधे-सादे अर्थों का अनर्थ करने को लाचार कर दिया। यह अर्थों की खींचातानी भारतीय दार्शनिकों का एक जातीय पाप रहा है। हम चाहते हैं कि हमारे पाठक इस संकीर्णता और पक्षपात को सदा के लिए हृदय से निकाल डालें। इस प्रकार वे विभिन्न आचार्यों के सिद्धांतों का उचित सम्मान कर सकेंगे।

चौथा अध्याय

विच्छेद और समन्वय—भगवद्गीता

उपनिषदों के बाद की शताब्दियां

हम देख चुके हैं कि उपनिषदों में अनेक प्रकार के विचार पाए जाते हैं। उपनिषत्-काल के बाद विचारों की विभिन्नता और भी बढ़ गई। उपनिषद्-युग के बाद की दो शताब्दियों पर दृष्टिपात करने से प्रतीत होता है कि मानो तरह-तरह के 'वादों' और 'सिद्धांतों' की बाढ़-सी आ गई हो। इस काल का अध्ययन करने के लिए सामग्री यथेष्ट है, पर अभी तक उस का ठीक-ठीक उपयोग नहीं किया गया है। श्वेताश्वेतर और मैत्री जैसे उपनिषदों में अनेक मतों का उल्लेख है जैसे कापालिक-दर्शन, बृहस्पति-दर्शन, कालवाद, स्वभाव-वाद, नियतिवाद, यदृच्छावाद आदि। पांचरात्र संप्रदाय की 'अहिर्बुध्न्य संहिता' में बत्तीस तंत्रों का ज़िक्र है—जैसे ब्रह्मतंत्र, पुरुष-तंत्र, शक्ति-तंत्र, नियति-तंत्र, काल-तंत्र, गुण-तंत्र, अक्षर-तंत्र, प्राण-तंत्र, कर्तृ-तंत्र, ज्ञान-तंत्र, क्रिया-तंत्र, भूत-तंत्र इत्यादि। जैन-ग्रंथों में वर्णन है कि महावीर जी ३६३ दार्शनिक सिद्धांतों से परिचित थे। बौद्धों के 'ब्रह्मजालसुत्त' में ६२ बौद्धेतर मतों का उल्लेख है जो गोतम-बुद्ध के समय में प्रचलित थे।[1] महाभारत से भी इस काल की दार्शनिक अवस्था पर काफ़ी प्रकाश मिल सकता है। ऐसा मालूम होता है कि भारतीय इतिहास का यह समय ख़ास तौर से दार्शनिक प्रयोगों (फ़िलसॉफ़िकल एक्सपेरीमेंट्स्) का युग था। आस्तिक और नास्तिक दोनों विचार-क्षेत्रों में सनसनी फैली हुई थी। पहले हम आस्तिक विचार-धाराओं का उल्लेख करेंगे।

---

[1] 'हिस्टरी आफ़् इंडियन फ़िलासफ़ी', (बेल्वेल्कर और रानाडे-कृत), भाग २, पृ० ४४८-५०

महाभारत में सप्रपंच और निष्प्रपंच, सगुण और निर्गुण दोनों ही प्रकार के ब्रह्म-विषयक वर्णन पाए जाते हैं। तथापि सगुण-ब्रह्म-संबंधी विचारों की प्रधानता है। एकेश्वरवाद की धारणा परिपक्व हो चुकी थी। वैदिक काल के इंद्र, वरुण आदि देवताओं का स्थान ब्राह्मण-काल में प्रजापति ने ले लिया था। प्रजापति बाद को ब्रह्मा कहलाने लगे। इस के बाद श्वेताश्वेतर के समय में रुद्र या शिव की प्रधानता होने लगी। इसी युग में विष्णु की महिमा भी बढ़ी। महाभारत में विष्णु सर्वप्रधान देवता बन जाते हैं। यही समय भागवत धर्म के अभ्युदय का भी था जिस ने वासुदेव-कृष्ण का महत्त्व बढ़ा दिया। महाभारत से पता चलता है कि कृष्ण की ईश्वरता को बिना विरोध के नहीं मान लिया गया। युधिष्ठिर के यज्ञ में शिशुपाल-द्वारा कृष्ण के अपमानित किए जाने की कथा काफ़ी प्रसिद्ध है।

१—आस्तिक विचार-धाराएं

इसी समय दर्शन-शास्त्रों के अंकुर भी भारत की मस्तिष्क-भूमि में निकलने लगे थे। यह समझना भूल होगी कि भगवद्गीता के समय तक कोई दर्शन अपने आधुनिक प्रौढ़ रूप में वर्तमान था। इस समय के वायुमंडल में सांख्य के विचारों की प्रधानता थी। महाभारत में सृष्टि का वर्णन बहुत कुछ सांख्य-सिद्धांतों के अनुकूल है। श्वेताश्वेतर और गीता भी 'सांख्य' शब्द का प्रयोग करते हैं।

व्यावहारिक मतभेद

व्यावहारिक क्षेत्र में भी अनेक प्रकार के सिद्धांत विकसित हो रहे थे। उपनिषदों के निर्गुण ब्रह्म और कोरे ज्ञान से ऊब कर लोग फिर ब्राह्मण-काल की ओर लौटने लगे थे। कर्मवाद या क्रियावाद का महत्त्व बढ़ने लगा था, पर साथ ही उस का स्वरूप भी बदलने लगा था। यज्ञादि कर्म स्वर्ग का साधन न रह कर चित्त-शुद्धि का साधन बनने लगे थे।[1] महाभारत के एक अध्याय का शीर्षक है 'यज्ञ-निंदा' उस में याज्ञिक हिंसा की कड़ी आलोचना की

[1] हिरियन्ना, पृ० ९२

गई है। जैसे ही एक ब्राह्मण ने पशु का वध किया, उस का यज्ञ करने का सारा फल नष्ट हो गया और पशु ने जो कि वास्तव में धर्मराज थे, अपना स्वरूप धारण करके अहिंसा का उपदेश किया। अहिंसा ही संपूर्ण धर्म है (अहिंसा सकलो धर्मः)। ज्ञान से ही मुक्ति होती है, इस के पक्षपाती उपनिषदों के शिक्षक भी मौजूद थे। ज्ञान और कर्म के अतिरिक्त लोगों की भक्ति-मार्ग में रुचि बढ़ रही थी। महाभारत के नारायणीय उपाख्यान में हम भक्ति-प्रतिपादक साहित्य का प्रथम बार दर्शन करते हैं। उस के पश्चात् भक्ति की शिक्षा सब से पहले भगवद्गीता में मिलती है। शांडिल्य और नारद के भक्ति-सूत्र बाद की चीज़ें हैं।[1] यौगिक क्रियाओं का महत्त्व भी बढ़ रहा था। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस समय के विभिन्न विचारक जीवन का लक्ष्य प्राप्त करने के लिए कर्ममार्ग, ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग और योगमार्ग का उपदेश कर रहे थे।

२—नास्तिक विचारक

आस्तिक विचारों के सिद्धांतों में इस प्रकार विभिन्नता और मतभेद देख कर लोगों में नास्तिकता और अविश्वास की भावनाएं भी जन्म लेने लगीं। यदि सत्य एक है तो उस को पालेने का दंभ करनेवालों में इतना वैषम्य, इतनी अराजकता क्यों? श्रुति के अनुयायियों में आपस में फूट क्यों? विश्वतत्त्व का स्वरूप क्या है और हमारा धर्म क्या है? इस विषय में संसार के विचारकों का एक निश्चय कभी नहीं हो सकता। बृहस्पति नामक विद्वान् ने अपने नास्तिक विचारों का प्रचार करने के लिए एक ग्रंथ सूत्रों में लिखा जो कि अब कहीं उपलब्ध नहीं है। बृहस्पति के शिष्य चार्वाक ने वेदों और वैदिक-स्मार्त धर्म के समर्थकों का कड़ी भाषा में तर्कपूर्ण खंडन किया।

चार्वाक के मत में प्रत्यक्ष ही एकमात्र विश्वसनीय प्रमाण है। आत्मा और परमात्मा के विषय में सब प्रकार के अनुमान रोचक कहानियों से बढ़

[1] पाणिनि ने 'भक्ति' शब्द की सिद्धि के लिए एक अलग सूत्र की रचना की है, अर्थात् ४। ३। ९५वां सूत्र।

कर नहीं हैं। धर्म और अधर्म का भेद कल्पनामात्र है। आत्मा की अमरता और परलोक में विश्वास केवल भ्रम है। पाँच तत्वों अर्थात् पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश के तरह-तरह मेल होने से संसार के सारे पदार्थ बन जाते हैं। जैसे कुछ चीज़ों को विशेष प्रकार से मिलाने से शराब बन जाती है और उस में मादकता का गुण पैदा हो जाता है, वैसे ही पंच भूतों के मेल से शरीर में चैतन्य की स्फूर्ति होने लगती है। यदि मरने के बाद कोई जीव नाम की चीज़ बाक़ी रह जाती है, तो उसे अपने संबंधियों का रुदन सुन कर लौट आना चाहिए। यदि यज्ञ में बलिदान करने से पशु स्वर्ग को जाता है, तो यजमान अपने पिता का ही बलिदान क्यों नहीं कर डालता? अगर मरे हुए पितरों को पिंड पहुँच सकता है तो परदेश की यात्रा करने वालों के साथ पाथेय बाँधना व्यर्थ है।

चार्वाक-दर्शन[1]

वेदों के रचयिता तीन हैं, भांड, धूर्त और निशाचर (चोर या राक्षस)। जब तक जीवे, सुख से जीवे; क़र्ज़ करके भी घी (शराब?) पीना चाहिए।

चार्वाक-दर्शन और लोकायत-दर्शन एक ही बात है। यह घोर जड़-वादी दर्शन है। आत्मा नाम की वस्तु है ही नहीं। सोचना, विचारना, महसूस करना यह सब जड़-तत्व के गुण हैं।

बृहस्पति और चार्वाक के अतिरिक्त और भी जड़वादी तथा नास्तिक विचारक वर्तमान थे।[2] पुराण कश्यप के मत में पाप-पुण्य का भेद कल्पित है। झूठ, कपट, चोरी, व्यभिचार किसी में दोष नहीं है। यदि कोई तलवार हाथ में लेकर संसार के सारे प्राणियों को काट डाले तो भी उसे कोई पाप नहीं होगा। इसी

पुराण कश्यप

[1] देखिए 'सर्वदर्शन-संग्रह', प्रथमाध्याय।

[2] इन विचारकों के मत के लिए देखिए 'बेल्वेल्कर और रानाडे', पृ० ४५१—५८

प्रकार शम, दम, तप, दान, परोपकार आदि में कोई गुण नहीं है। पाप और पुण्य दोनों की धारणा भ्रम है।

अजितकेशकंबली

शायद यह दार्शनिक बालों के कपड़े पहनता था; उस के अनुयायी भी थे। उस का सिद्धांत था कि अच्छे-बुरे कर्मों का कोई फल नहीं होता। मरने पर मनुष्य का शरीर चार तत्वों (पृथ्वी, जल, वायु, तेज) में मिल जाता है। फिर भोगने वाला कौन शेष रहता है? जीव की अमरता मूर्खों का सिद्धांत है।

पकुध कात्त्यायन

इस दार्शनिक का मत 'शाश्वतवाद' कहलाता है। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, सुख, दुःख और आत्मा इन सात का स्रष्टा कोई नहीं है। यह सब शाश्वत (नित्य) पदार्थ हैं। इस लिए न कोई हंता (मारने वाला) है न कोई मारा जाने वाला। जीवहत्या में कोई दोष नहीं है।

संजय बेलट्ठपुत्त

यह बड़ा तार्किक और संदेहवादी था। 'यदि तुम मुझ से पूछो कि परलोक है, तो अगर मैं सचमुच सोचता कि 'है', मैं 'हां' कह कर उत्तर देता। लेकिन मैं ऐसा नहीं कहता। मैं 'नहीं' भी नहीं कहता। क्योंकि इस प्रकार का विश्वास मुझे नहीं है। न मैं इनकार करता हूं। 'यह ऐसा है' इस प्रकार का वाक्य आप मुझ से नहीं सुनेंगे।'

मक्खली गोसाल

प्राणियों की अवनति का कोई कारण नहीं है; बिना हेतु के जीवों का अधःपतन होता है। प्राणियों की उन्नति का भी कोई कारण नहीं है; बिना हेतु के जीव-वर्ग उन्नति करते हैं। चौरासी लाख योनियों के बाद जीवों का दुःख स्वयं दूर हो जायगा। नियति, स्वभाव या यदृच्छा से सब कुछ होता है। मानव-प्रयत्न और मानव-पुरुषार्थ बिलकुल व्यर्थ हैं। यज्ञ, दान, तप यह सब निष्फल हैं।

उपर्युक्त दार्शनिकों के अनुयायी उस समय अनेक शिक्षक थे। वे

कर्तव्याकर्तव्य के भेद को मिटाना चाहते थे और इन प्रकार सामाजिक जीवन की जड़ ही काट देने को तैयार थे। डाक्टर बेल्वेल्कर ने इन विचारकों की तुलना ग्रीस (यूनान) के सोफ़िस्ट लोगों से की है। उन की अपील जनता के लिए थी। दर्शनशास्त्र को जनता की वस्तु बनाने में उन का काफ़ी हाथ रहा। आस्तिक दार्शनिकों को अपने विचार सुबोध और व्यावहारिक बनाने की आवश्यकता प्रतीत होने लगी। हिंदू-धर्म और हिंदू विचारों के लिए यह संकट का समय था। उस समय भगवद्गीता के लेखक ने विभिन्न आस्तिक विचारधाराओं का समन्वय और नास्तिक विचारों की तीव्र भाषा में निंदा करके वैदिक धर्म के विरोधियों के विरुद्ध उस के पक्षपातियों के सम्मिलित युद्ध की घोषणा कर दी।

महाभारत और गीता

वर्त्तमान गीता महाभारत के भीष्म-पर्व का एक भाग है। युद्ध आरंभ होने से कुछ पहले दोनों ओर की सेनाओं को देख कर अर्जुन के हृदय में मोह उत्पन्न हुआ—मैं अपने गुरुजनों को कैसे मारूँ? उसी समय भगवान् कृष्ण ने गीता का उपदेश किया। हम ऊपर कह चुके हैं कि महाभारत की कम से कम तीन आवृत्तियां हुई हैं। सब से पहली आवृति का नाम, जिस में शायद कुरु-पांडवों के युद्ध का वर्णन मात्र था, 'जय' था। महाभारत के आदि-पर्व में लिखा है कि महाभारत में ८८०० श्लोक ऐसे हैं जिन का अर्थ व्यास और शुक को छोड़ कर कोई नहीं जानता। इस से कुछ विद्वानों ने अनुमान किया है कि मूल महाभारत में इतने ही श्लोक थे। दूसरी आवृत्ति 'भारत' कहलाई जिस में २४,००० श्लोक थे। श्री बेल्वेल्कर इस संस्करण को प्राग्बौद्धिक (बुद्ध से पहले का) मानते हैं। योरप के विद्वान् उसे बुद्ध से बाद की रचना समझते हैं। इस के बाद महाभारत के तीसरे और चौथे संस्करण ही नहीं हुए, बल्कि समय-समय पर प्रक्षिप्त श्लोकों की संख्या बढ़ती ही गई। इस समय हरिवंशपुराण सहित महाभारत में लगभग एक लाख सात हज़ार श्लोक हैं। अंतिम आवृत्ति ईसा के बाद

को शताब्दियों में हुई, ऐसा माना जाता है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि भगवद्गीता मूल महाभारत से भी प्राचीन है जो कि जनता का प्रिय ग्रंथ होने के कारण बाद को महाभारत में जोड़ दी गई। यदि ऐसा न हो तो भी भगवद्गीता को जय-ग्रंथ से अर्वाचीन नहीं माना जा सकता। गीता का एक श्लोक—'पत्रं पुष्पं फलं तोयम्' आदि (९।२६)—बोधायन गृह्यसूत्रों में पाया जाता है, जिन का समय ४०० ई० पू० के लगभग है। इस प्रकार डाक्टर बेल्वेल्कर और प्रो० सुरेंद्रनाथ दास-गुप्त का यह मत कि गीता बौद्ध धर्म से पहले बनी, असंगत नहीं मालूम होता।

महाभारत में स्थल-स्थल पर भगवद्गीता-विषयक संकेत मिलते हैं, जिस से वह महाभारत का अवियोज्य अंग मालूम होती है; अन्य कई गीताएं भी पाई जाती हैं जो स्पष्ट ही कृष्णगीता का अनुकरण हैं और बाद को मिला दी गई हैं। गीता जैसे मूल्यवान् ग्रंथ के अतिरिक्त महाभारत सामाजिक, नैतिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा दार्शनिक विचारों से भरी पड़ी है। वर्तमान महाभारत में युद्ध की मूल कथा के अतिरिक्त सैकड़ों आख्यान और उपाख्यान हैं। संस्कृत के काव्यों और नाटकों की अधिकांश कथाएं महाभारत से ली गई हैं। शिशुपालवध, नैषध, रघुवंश, किरातार्जुनीय, अभिज्ञान-शाकुंतल, वेणीसंहार आदि के रचयिता अपनी कृतियों के लिए महाभारतकार के ऋणी हैं। शिक्षक और उपदेशक युक्तियों का काम छोटी-छोटी कथाओं और कहानियों से लेते हैं। बहुत सी कहानियों के पात्र पशु-पक्षी जगत् से लिए गए हैं। यात्राओं के भौगोलिक वर्णन भी महाभारत की एक विशेषता हैं। बलराम ने अपनी शुद्धि के लिए तीर्थयात्रा की थी और पांडवों ने दिग्विजय के लिए पृथ्वी का पर्यटन किया था। विराट् पर्व में गो-पालन की शिक्षा पाई जाती है। अनुशासन पर्व में भीष्म ने धर्मशास्त्र की और दार्शनिक शिक्षा दी है। महाभारत में सांख्य, योग, वेदांत आदि सब के विचार पाए जाते हैं। शांतिपर्व को तो दार्शनिक विचारों का विश्वकोष ही समझना

चाहिए। इस पर्व में राज-धर्म आपद्-धर्म और मोक्ष-धर्म का भी वर्णन है। आसुरि, कपिल, जनक, गोतम, मैत्री आदि के नाम महाभारत में मिलते हैं। वंशावलियां, तीर्थों का माहात्म्य, आदि महाभारत की दूसरी विशेषताएं हैं। महाभारत के लंबे युद्ध-वर्णनों को पढ़ कर अनुमान होता है कि महाभारतकार शस्त्रों और अस्त्रों की विद्या का पारंगत पंडित था। महाभारत का इतना परिचय देने के बाद हम अपने प्रकृत विषय भगवद्-गीता पर आते हैं।

हम कह चुके हैं कि भारतीय दर्शनों का दृष्टिकोण व्यावहारिक है। भगवद्गीता को पढ़ने पर भारतीय मस्तिष्क की यह विशेषता और भी स्पष्ट हो जाती है। जिस ने भगवद्गीता को एक बार भी पढ़ा है, वह भारतीयों पर व्यवहार-शास्त्र में अभिरुचि न रखने का अभियोग कभी नहीं लगा सकता। जैसी व्या-वहारिक समस्या अर्जुन के सामने उपस्थित हुई थी वैसी कर्तव्याकर्तव्य की कठिनाइयां बहुत से देशों में धर्मप्राण मनुष्यों के हृदय में उठी होंगी; लेकिन उन कठिनाइयों की जैसी सजीव अभिव्यक्ति भगवद्गीता में हुई है और उन के समाधान का जैसा गंभीर प्रयत्न यहां किया गया है, वैसा विश्व-साहित्य के किसी दूसरे ग्रंथ में मिलना दुर्लभ है। यही कारण गीता के लोकप्रिय होने का है। आज भगवद्गीता का संसार की सब सभ्य भाषाओं में अनुवाद हो चुका है। हज़ारों नरनारी उस का पाठ करते हैं और जीवन के आशा-निराशा भरे क्षणों में सुख और शांति लाभ करते हैं। भगवद्गीता के प्रसिद्ध होने का एक दूसरा कारण उस की समन्वय और सहिष्णुता की शिक्षा है। भगवद्गीता अनेक प्रकार की विचारधाराओं के प्रति आदर-भाव प्रकट करती है, और उन में सत्यता के अंश को स्वीकार करती है। कम से कम व्यवहार-क्षेत्र में भगवद्गीता में संसार के विद्वानों के प्रायः सभी उल्लेखनीय विचारों का समावेश हो गया है। इस का अर्थ यह नहीं है कि भगवद्गीता के तात्विक विचार (मेटाफ़िज़िकल व्यूज़)

गीता का महत्व

नगण्य या कम महत्व के हैं।

गीता के विश्व-तत्व-संबंधी विचारों पर उपनिषदों की स्पष्ट छाप है।

गीता का तत्वदर्शन या ओंटोलोजी

सांख्य के विचारों का भी बाहुल्य है। गीता और उपनिषदों में मुख्य भेद यही है कि जब कि उपनिषदों में ब्रह्म के निर्गुण रूप को प्रधानता दी गई है, गीता में सगुण ब्रह्म को श्रेष्ठ ठहराया गया है। ब्रह्म के निर्गुण स्वरूप को भी गीता मानती है। 'सारी विभक्त वस्तुओं में जो अभिव्यक्त होकर वर्तमान है, जिसे न सत् कहा जा सकता है न असत्, जो सूक्ष्म और दुर्ज्ञेय है, जो ज्योतियों की भी ज्योति और अंधकार से परे है, जो ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय है' उस ब्रह्म का वर्णन और गुणगान करने से गीता नहीं सकुचाती। परंतु उस का अनुराग सगुण ब्रह्म में ही अधिक है, जिस से, ब्रह्मसूत्र के शब्दों में, सारे जगत् की उत्पत्ति और स्थिति होती है और जिस में प्रलय-काल में समस्त संसार लय हो जाता है।

ब्रह्मांड के अशेष पदार्थ उसी से निःसृत होते हैं। सगुण ब्रह्म या भगवान् की दो प्रकृतियां हैं—एक परा और दूसरी अपरा। पृथ्वी, जल, वायु, तेज, आकाश, मन, बुद्धि और अहंकार यह आठ प्रकार की अपरा प्रकृति है। परा प्रकृति जीव-रूप अथवा चैतन्य-स्वरूप है जो जगत् का धारण करती है। अपरा प्रकृति वास्तव में सांख्य की मूल प्रकृति और श्वेताश्वेतर की माया है। इसे अव्यक्त भी कहते हैं। ब्रह्मा के दिन के प्रारंभ में सारे व्यक्त पदार्थ प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि के आने पर उसी अव्यक्त-संज्ञक में लय हो जाते हैं।[1]

गीता में प्रकृति को महद्ब्रह्म[2] भी कहा गया है जो संपूर्ण विश्व की योनि या कारण है। भगवान् स्वयं इस में बीजारोपण करते हैं। यह अव्यक्त, महद्ब्रह्म या प्रकृति तीन गुणों वाली है। सत्, रज, तम नामक प्रकृति के गुण भौतिक, मानसिक और व्यावहारिक क्षेत्रों में सर्वत्र व्याप्त

---

[1] गीता, ८। १८ [2] १४। ३

हैं। सात्विक, राजस और तामस भेद से भोजन तीन प्रकार का होता है, श्रद्धा तीन प्रकार की होती है, यज्ञ, दान, तप आदि कर्म तीन प्रकार के होते हैं। प्रकृति के गुण ही हमारे कर्मों के लिए उत्तरदायी हैं; प्रकृति ही वास्तविक कर्त्री है। अहंकार के वश होकर हम अपने को कर्ता मानते हैं।

इस अव्यक्त से भी परे एक पदार्थ है जो स्वयं अव्यक्त और सनातन है, जो सब भूत वर्गों का नाश हो जाने पर भी नष्ट नहीं होता—इसे अक्षर कहते हैं। 'सब भूतों को क्षर कहते हैं और कूटस्थ को अक्षर।' उत्तम पुरुष इन दोनों से भिन्न है जिसे परमात्मा कहा गया है, जो अव्यय ईश्वर तीनों लोकों को व्याप्त करके उन का भरण-पोषण करता है।[1]

भगवान् ही संसार की सब वस्तुओं का एकमात्र अवलंबन हैं। उन में सब कुछ पिरोया हुआ है (मयि सर्वमिदं प्रोतम्) उन्हीं से सब कुछ प्रवर्तित होता है (मत्तः सर्वं प्रवर्तते)। दसवें अध्याय में तथा सातवें और नवें अध्यायों के कुछ स्थलों में भगवान् की विभूतियों का वर्णन है। संसार के सत्, असत् सभी पदार्थ भगवान् ही हैं। 'पृथ्वी में मैं गंध हूं और सूर्य व चंद्रमा में प्रकाश। मैं सब भूतों का जीवन हूं, और तपस्वियों का तप।' (७। ६) 'मैं ही क्रतु हूं, मैं ही यज्ञ हूं, मैं स्वधा हूं, मैं औषधियां हूं; मंत्र, आज्य, अग्नि और हव्य पदार्थ मैं ही हूं। संसार की गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी निवासस्थान, सुहृद्, उत्पत्ति, प्रलय, आधार और अविनाशी बीज मैं ही हूं।' (६। १६, १८)

'मैं सब भूतों के भीतर स्थित हूं, मैं उन का आदि, अंत और मध्य हूं। आदित्यों में मैं विष्णु हूं, ज्योतियों में सूर्य, मरुद्गणों में मरीचि, और नक्षत्रों में चंद्रमा।.........अक्षरों में 'अकार' हूं, समासों में द्वंद्व। मैं अक्षय काल हूं, मैं सब को धारण करनेवाला, विश्वतोमुख हूं। मैं सब का हरण करने वाली मृत्यु हूं, मैं भविष्य के पदार्थों की उत्पत्ति हूं।

[1] १५। १६-१७

में स्त्रियों की कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, बुद्धि, धैर्य और सहन-शीलता हूं।' (१०।२०, २१, ३८, ३४)

ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप दिखलाकर भगवान् ने अर्जुन को अपनी विभूतियों का और संसार का अपने ऊपर अवलंबित होने का प्रत्यक्ष अनुभव करा दिया। साथ ही उन्हों ने अर्जुन को यह उपदेश भी दिया कि उसे अपने को भगवान् के ऊपर छोड़ कर उन्हीं की उद्देश्य-पूर्ति के लिए कर्म करना चाहिए। इस प्रकार गीता ने अपने तत्त्व-दर्शन में सांख्यों के प्रकृतिवाद, उपनिषदों के ब्रह्मवाद, और भागवतों के ईश्वरवाद तीनों का समन्वय कर दिया।

गीता की व्यावहारिक शिक्षा

गीता का मुख्य प्रयोजन जीवन की व्यावहारिक समस्याओं पर प्रकाश डालना है। तत्त्व-दर्शन या तत्त्व-विचार गीताकार के लिए व्यावहारिक सिद्धांतों तक पहुँचने का उपकरण-मात्र है। गीता की व्यावहारिक शिक्षा पर अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रंथ लिखे गए हैं जिन में लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' का एक विशेष स्थान है। श्री शंकराचार्य ने अपने गीता-भाष्य में यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि गीता का तात्पर्य ज्ञान में है, न कि कर्म में। कर्म से मोक्ष की प्राप्ति कभी नहीं हो सकती। निष्काम कर्म की शिक्षा नीची श्रेणी के अधिकारियों के लिए है, जिनकी बुद्धि अभी वेदांत-सिद्धांत समझने के लिए परिपक्व नहीं हुई है, उन के लिए कर्मयोग का उपदेश है। श्री तिलक ने शंकराचार्य की इस व्याख्या का खंडन करके यह सिद्ध किया है कि गीता कर्म-संन्यास या कर्म-त्याग का उपदेश न देकर कर्म-योग की शिक्षा देती है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, गीता के युग में मोक्षाभिलाषियों के लिए ज्ञानमार्ग, भक्तिमार्ग, कर्ममार्ग और योग-मार्ग इन सब की शिक्षा दी जा रही थी। अपने तत्त्वदर्शन की भाँति व्यावहारिक विचारों में भी गीता ने समन्वय करने की चेष्टा की है, हम यही दिखाने का प्रयत्न करेंगे।

जीवन के व्यापारों के विषय में गीता की कुछ मौलिक धारणाएं हैं जिन को केंद्र मान कर उस में विभिन्न मार्गों की सचाइयों को एकत्रित करने की कोशिश की गई है। यह मौलिक धारणाएं हमारी समझ में तीन हैं; इन्हें समझे बिना गीता की शिक्षा ठीक रूप में हृदयंगम नहीं हो सकती।

(१) गीता का कड़ा आदेश है कि मनुष्य को आध्यात्मिक उन्नति के लिए मन और इंद्रियों का निग्रह करना आवश्यक है। 'विषयों का ध्यान करते-करते मनुष्य की उन में आसक्ति हो जाती है, इस आसक्ति से काम या वासना उत्पन्न होती है जिस के पूरे न हो सकने पर क्रोध उत्पन्न होता है। क्रोध से मोह होता है, मोह से स्मृति का नाश; स्मृति नष्ट होने से बुद्धि भ्रष्ट हो जाती है और मनुष्य का पतन होता है।'[1] अन्यत्र गीता में काम, क्रोध और लोभ को नरक का द्वार कहा गया है। इन तीनों को छोड़ देना चाहिए। प्रत्येक साधक को, चाहे वह कर्मयोगी हो या भक्त या ज्ञानी, मन और इंद्रियों का निग्रह करना चाहिए, यह गीता का दृढ़ आदेश है। इंद्रियों के दमन की कोशिश करते रहना, यह गीतोक्त साधक की साधनावस्था से भी पहले की दशा है। दैवी संपत् के नाम से जिन गुणों का परिगणन किया गया है वे गुण मुमुक्षु लोगों में स्वभावतः ही पाए जाने चाहिए। उन की प्रकृति सतोगुणी होनी चाहिए। निर्भयता, शुद्धता, स्वाध्याय-प्रेम, अमानित्व, दंभ का अभाव, ऋजुता, दानप्रियता या उदारता आदि गुण मोक्षार्थियों में जन्मजात अथवा पूर्व कर्मों के फलभूत होते हैं।

(२) गीता का विश्वास है कि साधना-पथ की कुछ मंज़िलें तय कर लेने पर साधन में समत्व-बुद्धि अथवा साम्य-भावना का प्रादुर्भाव हो जाना चाहिए। स्थितप्रज्ञ वह है जो सर्वत्र समदृष्टि हो, जो सुख-दुख को एक-सा समझे। पंडित वह है जो ब्राह्मण, शूद्र, कुत्ते आदि में एक-सी दृष्टि

---

[1] ३।६२—६३

रक्खे। 'यहीं उन्हों ने सृष्टि को जीत लिया है, जिन का मन साम्य में स्थिति है; क्योंकि, ब्रह्म निर्दोष और सम है, इस लिए उन्हें ब्रह्म में स्थित हुआ समझना चाहिए।' समत्व का ही नाम योग है (समत्वं योग उच्यते)। भक्त को भी समदर्शी होना चाहिए। 'जो शत्रु और मित्र, मान और अपमान में सम है; जिसे शीतोष्ण, सुख-दुख समान हैं; जो आसक्ति-हीन है; जो निंदा और स्तुति में एक-सा रहता है; जो कुछ मिल जाय उसी में संतुष्ट, गृहहीन, स्थिरबुद्धि, भक्तिवाला ऐसा पुरुष मुझे प्यारा होता है।'[1] साधक किसी भी दार्शनिक संप्रदाय का अनुयायी हो, उस के व्यावहारिक विचार कैसे ही हों, गीता की सम्मति में समता का दृष्टिकोण बनाना उस का परम कर्तव्य है।

(३) गीता की तीसरी और सब से महत्त्वपूर्ण मौलिक धारणा यह है कि मनुष्य को संकल्पों का त्याग कर देना चाहिए, फलाकांक्षा को छोड़ देना चाहिए। जिस ने संकल्पों का त्याग नहीं किया है वह योगी नहीं हो सकता।[2]

गीता और योग

गीता में योग शब्द का प्रयोग पातंजल योग के अर्थ में नहीं हुआ है। वस्तुतः उस समय तक पतंजलि का योगशास्त्र बना ही नहीं था। लेकिन यौगिक क्रियाओं से लोग अभिज्ञ थे। गीता में 'योग' की परिभाषा अनेक प्रकार से की गई है। 'समत्व का ही नाम योग है।' 'कर्मों में कुशलता को ही योग कहते हैं' (योगः कर्मसु कौशलम्)। गीता के योग शब्द का सामान्य अर्थ अपने को लगाना या जोड़ना है। इस प्रकार कर्मयोग का अर्थ हुआ अपने को सामाजिक कर्तव्यों की पूर्ति में लगाना (देखिए 'हिरियन्ना' पृ० ११६)। फलाकांक्षा न रख कर कर्तव्य-बुद्धि से कर्म करने का नाम ही कर्मयोग है।

---

[1] १२। १८-१९

[2] न ह्यसंन्यस्तसंकल्पो योगी भवति कश्चन।

गीता को पातंजल योग से कोई द्वेष नहीं है। छठे अध्याय में तो इस प्रकार के योगी को तपस्वियों से, कर्म-कांडियों से और ज्ञानियों से भी श्रेष्ठ कहा गया है। 'एकांत में मन और इंद्रियों की क्रियाओं को रोक कर, सिर, ग्रीवा और शरीर को अचल स्थिर कर के, शांत होकर चित्त की शुद्धि के लिए योग करना चाहिए।' 'पाप-रहित होकर जो नित्य योगाभ्यास करता है उसे ब्रह्म-संस्पर्श का आत्यंतिक सुख प्राप्त होता है।' परंतु ऐसे योगी को भी कर्म करना छोड़ देना चाहिए यह गीता की सम्मति नहीं है। अर्जुन को योगी बनना चाहिए (तस्माद्योगी भवार्जुन) परंतु इस का अर्थ युद्ध से उपरति नहीं है। गीता उस योगी की प्रशंसा करती है जो सब प्रकार से रहता हुआ भी एकत्व भावना में मग्न रहता है।

ज्ञानमार्ग और ज्ञानियों की प्रशंसा भी गीता ने मुक्तकंठ से की है।

गीता और ज्ञानमार्ग

ज्ञान से बढ़ कर पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है (न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते), ज्ञानाग्नि संपूर्ण कर्मों को भस्मसात् कर देती है (ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन)। ज्ञानी पुरुष देखता हुआ, सुनता हुआ, छूता-सूँघता-खाता हुआ, श्वास लेता हुआ और सोता हुआ हमेशा यह समझता है (या समझे) कि मैं कुछ नहीं करता; प्रकृति के तीन गुण ही सब कुछ कर रहे हैं। भक्तों में भगवान् को ज्ञानी भक्त सब से प्रिय है। 'सारी इच्छाओं को छोड़ कर ममता और अहंकार-रहित जो पुरुष घूमता है, वह शांति को प्राप्त होता है। यह ब्राह्मी स्थिति है, इसे प्राप्त होकर मनुष्य का मोह नष्ट हो जाता है' (५। ८, २। ७१, ७२)। लेकिन ऐसे निःस्पृह ज्ञानी को भी, गीता के मत में, कर्म-त्याग करने का अधिकार नहीं है। भगवान् कृष्ण कहते हैं कि उन्हें संसार में कुछ करना शेष नहीं है, कोई प्राप्त करने योग्य वस्तु अप्राप्त नहीं है, तो भी वे लोगों के सामने उदाहरण रखने के लिए लोक-संग्रहार्थ कर्म करते हैं।

कर्म करना चाहिए, इस के पक्ष में गीता ने अनेक युक्तियां दी हैं।

पहली बात तो यह है कि अशेष कर्मों को छोड़ना संभव नहीं है। (न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्,) क्षण भर के लिए भी कोई बिना कर्म किए नहीं रह सकता। प्रकृति के गुणों-द्वारा विवश होकर हरेक को कर्म करना पड़ते हैं (३ । ५)। कर्म किए बिना जीवन की रक्षा या शरीर-निर्वाह भी नहीं हो सकता। दूसरे, यदि सब कर्म करना छोड़ दें तो सृष्टि-चक्र का चलना बंद हो जाय। 'यज्ञ-सहित प्रजा को उत्पन्न कर के प्रजापति ने कहा—इस से तुम देवताओं को संतुष्ट करो और देवता तुम्हारी इच्छाएं पूर्ण करें। कर्म वेद से उत्पन्न हुए हैं, और वेद ब्रह्म से, इस लिए सर्व-व्यापक ब्रह्म नित्य यज्ञ में प्रतिष्ठित है। जो ब्रह्मा के प्रवर्तित इस चक्र का अनुसरण नहीं करता, वह पातकी है। जो सिर्फ़ अपने लिए ही पकाते हैं, वे पाप को ही खाते हैं।'[1]

जो यज्ञ से बचा हुआ भाग खाते हैं (यह तीसरा हेतु है) वे विद्वान् पापों से छूट जाते हैं। कृष्ण का निश्चित मत है कि—

यज्ञदान तपः कर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्॥ (१८ । ५)

अर्थात् यज्ञ, दान, तप, आदि कर्म नहीं छोड़ने चाहिए; यह कर्म विद्वानों को पवित्र करने वाले हैं। 'शरीर से, मन से, बुद्धि से, और सिर्फ़ इंद्रियों से भी योगी लोग, आसक्ति को त्याग कर, आत्म-शुद्धि के लिए कर्म करते हैं।[2] क्योंकि कर्म किए बिना रहना असंभव है, इस लिए चित्त-शुद्धि करने वाले यज्ञादि कर्तव्य कर्मों को नहीं छोड़ना चाहिए।

शायद पाठक सोचने लगें कि 'यह तो ब्राह्मण-युग का पुनरुज्जीवन हुआ;' पर वास्तव में गीतोक्त कर्मवाद और ब्राह्मणों के कर्मकांड में महत्व-पूर्ण भेद है। गीता को वेदों की लुभानेवाली (पुष्पिता) वाणी पसंद नहीं है। 'हे अर्जुन वेद त्रैगुण्य-विषयक हैं, तू तीनों गुणों का अतिक्रमण कर।'[3] चौथे अध्याय में कुछ यज्ञों का वर्णन किया गया है; जिन के करने में द्रव्य-

---

[1] ३ । १०—१३ [2] ५ । ११ [3] २ । ४२, ४५

पदार्थों की आवश्यकता नहीं पड़ती। यहां द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञादि का वर्णन है और अंत में कहा गया है कि द्रव्ययज्ञों से ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। 'सारे कर्म ज्ञान में परिसमाप्त हो जाते हैं, उस ज्ञान को तत्वदर्शियों से विनम्र होकर सीख।' (४ । ३३-३४) इस प्रकार गीता ने यज्ञों की बहिर्मुखता को दूर करने का प्रयत्न किया है।

गीता भारतीय विचारकों के इस मूल सिद्धांत को मानती है कि 'कर्मों के फल से छुट्टी पाए बिना' मुक्ति नहीं हो सकती। लेकिन कर्मफल से छुटकारा किस प्रकार मिले, इस विषय में गीता का अपना मौलिक मत है। ज्ञानमार्ग के अवलंबन से कर्मफल से मुक्ति मिल सकती है, इस में कोई संदेह नहीं है। ज्ञान के सदृश पवित्र करनेवाला कुछ भी नहीं है। गीता ज्ञान की महत्ता को स्वीकार करती है, लेकिन उस के मत में

सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पंडिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्। (५ । ४)

'ज्ञानमार्ग और कर्ममार्ग या कर्मयोग को बालक ही भिन्न कहते हैं न कि विद्वान्। किसी एक में भी स्थित पुरुष दोनों के फल का लाभ करता है।' कर्मफल से छूटने के लिए कर्म को छोड़ने की आवश्यकता नहीं है।

अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः। (६ । १)

'जो कर्मफल में आसक्ति त्याग कर कर्तव्य कर्म करता है, वही संन्यासी है, वही योगी है। अग्नि को न रखनेवाला क्रियाहीन कुछ भी नहीं है।' 'काम्य कर्मों के त्याग को ही विद्वान् लोग संन्यास कहते हैं; सब कर्मों के फल के त्याग को ही मनीषी त्याग बताते हैं।'[1] जो कर्म-

[1] काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः। १८ । २

फल को छोड़ देता है वही वास्तविक त्यागी है।[1] इसी लिए, भगवान् अर्जुन से कहते हैं:—

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगोऽस्त्वकर्मणि। (२।४७)

'कर्म में ही तेरा अधिकार हो फल में कभी नहीं; तुम कर्मफल का हेतु भी मत बनो, अकर्मण्यता में भी तुम्हारी आसक्ति न हो।' प्रोफ़ेसर हिरियन्ना के शब्दों में गीता कर्मों के त्याग के बदले कर्म में त्याग का उपदेश देती है।

निष्काम भाव से, फलासक्ति को त्याग कर, कर्म करने की यह शिक्षा ही गीता का मौलिक उपदेश है। ज्ञानमार्ग की तरह ही गीता ने इस उपदेश को भक्तिमार्ग से भी जोड़ दिया है। 'कर्तव्याकर्तव्य की व्यवस्था में शास्त्र ही तेरे लिए प्रमाण है' यह कह कर गीता ने शास्त्रों का सम्मान भी कर लिया है। यह गीता की सहिष्णुता और समन्वय की 'स्पिरिट' है।

भक्तिमार्ग

'फलासक्ति को छोड़ कर कर्तव्य कर्म करो' यह तो गीता का उपदेश है ही; परंतु इस से बढ़ कर भी गीता का अनुरोध है कि 'भगवान् को प्रसन्न करने के लिए, फलेच्छा को उन में अर्पण करके, कर्म करो।' पाठक देख सकते हैं कि इस भक्ति-भावना से साधक का जीवन एकदम सरस और रोचक हो उठता है। भगवान् को प्रसन्न करने की अभिलाषा से शून्य निष्काम जीवन निरुद्देश्य जीवन-सा प्रतीत होता है। शायद निरुद्देश्य जीवन व्यतीत करना मनुष्य की पुरुषार्थ-भावना के विपरीत है; उस में हृदय और बुद्धि, इच्छावृत्ति और संकल्पवृत्ति दोनों के लिए स्थान नहीं है। भगवान् को प्रसन्न करने का उद्देश्य एक साथ ही जीवन को सार्थक, पवित्र और ऊँचा बनाने वाला है।

---

[1] यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।

'मेरे ही लिए कर्म करनेवाला, आसक्ति-हीन, सब प्राणियों में वैर-रहित मेरा भक्त मुझे ही प्राप्त होता है।'[१] 'अर्जुन! तुम मुझ में ही अपना मन लगाओ, मेरी ही भक्ति करो, मेरे ही लिए यज्ञ करो, मुझे ही नमस्कार करो। इस प्रकार मुझ में अपने को लगा कर और मुझ में परायण होकर तुम मुझे ही प्राप्त होगे।'[२] 'मेरा आश्रय लेनेवाला पुरुष सारे कर्मों को करता हुआ भी मेरे अनुग्रह से शाश्वत पद को प्राप्त होता है।'[३]

'हे अर्जुन सब धर्मों को त्याग कर तुम सिर्फ़ मेरी शरण में आओ; मैं तुम्हें सारे दोषों (पापों) से मुक्त कर दूँगा, तुम सोच मत करो।'[४]

'यदि तुम अहंकार का आश्रय लेकर, मैं युद्ध नहीं करूँगा, ऐसा मानते हो तो तुम्हारा यह निश्चय झूठा है; क्योंकि तुम्हारा क्षत्रिय-स्वभाव तुम्हें ज़बर्दस्ती युद्ध में प्रवृत्त कर देगा।'[५]

जो मतवादी नहीं हैं और जिन की बुद्धि पक्षपात से दूषित नहीं है, उन के लिए गीता की शिक्षा जल-प्रपात की तरह उज्ज्वल और स्पष्ट है। गीताकार ने कहीं भी अपना आशय दुरूह बनाने की कोशिश नहीं की है। साहित्यिक दृष्टि से गीता की सब से बड़ी विशेषता उस की सीधी एवं स्वाभाविक व्यंजना-शैली और सहानुभूति-पूर्ण हृदय-स्पर्शिता है। गीता साधक को उपदेश ही नहीं देती, उस की कठिनाइयों से समवेदना भी प्रकट करती है। कृष्ण मानते हैं कि मन का निग्रह करना अत्यंत कठिन है। फिर भी गीताकार का स्वर आशावादी है। 'हे अर्जुन, अच्छे कर्म करनेवाला कभी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता,' 'इस धर्म का थोड़ा सा अनुष्ठान भी महान् भय से रक्षा करता है।' गीता के वक्ता को सत्य और धर्म की शक्ति में पूर्ण विश्वास है। यह विश्वास पाठकों को शक्ति और उत्साह प्रदान करता है।

गीता हिंदू धर्म और हिंदू दर्शन का प्रतिनिधि ग्रंथ है। हिंदू धर्म

---

[१] ११।५५ [२] ९।३४ [३] १८।५६ [४] १८।६६ [५] १८।५९

की सब से बड़ी विशेषता, पर-मत-सहिष्णुता, गीता का भी विशेष गुण है। विविध मतवादों का समन्वय करना, संसार के सब सिद्धांतों में से सचाई का अंश ले लेना, यह हिंदू धर्म और हिंदू जाति का स्वभाव सा रहा है। अपने इसी सुंदर स्वभाव के कारण, विदेशियों के अजस्र आक्रमण होते हुए भी, आज हिंदू जाति और हिंदू संस्कृति जीवित हैं। कोरे वाद-विवाद में न फँस कर हिंदू-मस्तिष्क ने हमेशा सत्य को पकड़ने की कोशिश की है। दार्शनिक चिंता हमारे लिए मनोविनोद की चीज़ नहीं है, वह हमारे जीवन का गंभीर उद्देश्य रहा है। महाभारत के विषय में कहा गया है कि 'जो इस में नहीं है वह कहीं नहीं है।' गीता के विषय में हम कह सकते हैं कि आर्यों के विचार-साहित्य में जो सुबोध और सुंदर है वह गीता में एकत्रित कर दिया गया है। आज हिंदू जाति की जाग्रति के युग में यदि जनता में गीता के प्रति श्रद्धा और सम्मान बढ़े, तो आश्चर्य ही क्या है!

पाँचवां अध्याय

जैन-दर्शन

संदेहवाद का जंतु जब एक बार किसी युग के मस्तिष्क में घुस जाता है तो वह आसानी से बाहर नहीं निकलता। संशय के बादलों को हटाने के लिए मानव-बुद्धि के सूर्य को तपस्या करनी पड़ती है। भगवद्गीता ने आस्तिक विचार-धाराओं का समन्वय तो किया, लेकिन संशयवादी नास्तिकों के हृदय को संतुष्ट करने का कोई उपाय नहीं किया। गीता में हम ईश्वर को न माननेवाले, जगत् को असत्य और अप्रतिष्ठित बतानेवाले नास्तिकों की कड़ी आलोचना पाते हैं। परंतु कोरी आलोचना या निंदा से संदेह-रोग के जंतु नष्ट नहीं हो जाते। रोगी की प्रेम-पूर्वक परिचर्या करने से ही उस का कुछ उपकार हो सकता है। खेद की बात है कि दार्शनिक इतिहास में संदेहवादियों के हृदय में छिपी हुई निराशा और दुख को समझनेवाले विरले ही हुए हैं। गीताकार का विशाल हृदय भी नास्तिकों के प्रति क्षमाभाव धारण न कर सका। उन्हों ने 'संशयात्मा विनश्यति'—संदेह करनेवाला नष्ट हो जाता है—कह कर वैदिक धर्म में विश्वास न रखनेवालों को हमेशा के लिए नरक में भेज दिया।

गीता में कट्टर कर्मकांडियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया पाई जाती है, फिर भी यज्ञों की निंदा गीता ने खुले शब्दों में नहीं की है। गीता में फलासक्ति का ही तिरस्कार किया गया है न कि याज्ञिक क्रियाओं का। यह ठीक है कि गीता द्रव्य-यज्ञों को विशेष महत्त्व नहीं देती, परंतु वह उन की स्पष्ट निंदा भी नहीं करती। गीताकार के मस्तिष्क में यज्ञों की महत्ता के विषय में कुछ दुविधा-सी है। जैन-धर्म और बौद्ध-धर्म में वैदिक यज्ञ-विधानों के विरुद्ध यह प्रतिक्रिया संपूर्ण हो गई और उन्हों ने याज्ञिक हिंसा

का निश्चित स्वर में विरोध किया है। जहां जैन-दर्शन में हम आस्तिक विचारकों के सिर्फ़ व्यावहारिक मत का विरोध पाते हैं, वहां बौद्ध-दर्शन में आर्यों के व्यावहारिक और तात्विक दोनों प्रकार के विचारों का रूपांतर हो गया है।

नास्तिक का अर्थ

हिंदुओं की परिभाषा में वेद को न माननेवाले को नास्तिक कहते हैं।[1] आजकल के प्रचलित अर्थ में ईश्वर की सत्ता में विश्वास न रखनेवाला नास्तिक कहलाता है। इन दोनों ही परिभाषाओं के अनुसार जैनी और बौद्ध लोग नास्तिक ठहरते हैं। परंतु दोनों ही धर्मों के विचारक अपने को नास्तिक कहलाना पसंद नहीं करते। इस लिए उन्हों ने नास्तिकता की एक तीसरी परिभाषा दी है—नास्तिक वह है जो परलोक को नहीं मानता, अथवा जो धर्माधर्म और कर्तव्याकर्तव्य के भेद में विश्वास नहीं रखता।

हम जैनियों और बौद्धों को घोर आस्तिकों और घोर नास्तिकों के बीच में रख सकते हैं। प्रश्न यह है कि आस्तिकों और जड़वादियों से भिन्न इस तीसरी श्रेणी के विचारकों का आविर्भाव क्यों हुआ? बात यह है कि कोरे संदेहवाद से मानव-मस्तिष्क बहुत काल तक संतुष्ट नहीं रह सकता। मनुष्य प्रयत्नशील प्राणी है और सफल प्रयत्न या पुरुषार्थ के लिए विश्वास का आधार चाहिए। किसी सत्य में विश्वास के बिना जीवन-यात्रा हो ही नहीं सकती। जीवित रहने के लिए प्रयत्न करने का अर्थ है कि हमें जीवन की महत्ता में विश्वास है, हम जीवन के 'मूल्य' को स्वीकार करते हैं।

कुछ लोग कहते हैं कि जीवन की समस्याओं का हल मानव-बुद्धि नहीं कर सकती, विचार कर के हम किसी निश्चित सिद्धांत तक नहीं पहुँच सकते। इस लिए बौद्धिक ईमानदारी के लिए, हमें यह स्वीकार कर लेना चाहिए कि संदेहवाद ही दर्शनशास्त्र का अंतिम शब्द है। लेकिन हम बुद्धि-क्षेत्र अथवा दार्शनिक चिंतन में ईमानदार क्यों बनें? हम अपनी परा-

---

[1] नास्तिको वेदनिन्दकः। (मनुस्मृति)

जय का सचाई से क्यों स्वीकार कर लें ? क्या सचमुच बौद्धिक सचाई का कुछ मूल्य है, जिस के कारण हम उस की रक्षा का प्रयत्न करें ? घोर जड़वादी दर्शनों में इस प्रश्न का कोई उत्तर नहीं मिल सकता। एक बार यदि हम सत्यता का किसी रूप में आदर करने लगें तो हम जड़वाद की भूमि से निकल कर आत्म-वाद की सीमा में आ जाते हैं और जड़वादी न रह कर अध्यात्म-वादी बन जाते हैं। जैनियों और बौद्धों ने हिंदू आस्तिकों का विरोध तो किया, लेकिन वे चार्वाक की तरह जड़वादी न बन सके। विशेषतः जैनियों ने तो हिंदुओं के तात्विक विचारों को थोड़े-बहुत परिवर्तन के साथ ही स्वीकार कर लिया।

भगवान् महावीर

श्री महावीर का बचपन का नाम वर्धमान था। वे बुद्ध के समकालीन थे पर उन से पहले उत्पन्न हुए थे। वे ५९९ ई० पू० में पैदा हुए और ५२७ ई० पू० में दिवंगत हो गए। बुद्ध की तरह वे भी राजवंश के थे। वे अपनी शिक्षा को पार्श्वनाथ, ऋषभदेव आदि प्राचीन तीर्थंकरों के उपदेशों की आवृत्ति-मात्र बतलाते थे। पार्श्वनाथ की मृत्यु शायद ७७६ ई० पू० में हुई। ऋषभदेव का नाम ऋग्वेद और अथर्ववेद में आता है। यदि जैनियों का यह विश्वास कि उन का मत ऋषभदेव ने चलाया, ठीक है, तो सचमुच ही उन का मत वैदिक मत से कुछ ही कम प्राचीन है। भागवत पुराण जैनियों के इस विश्वास की पुष्टि करता है।[1]

जैनियों के दो संप्रदाय हैं, एक श्वेतांबर और दूसरा दिगंबर। दिगंबर लोगों का विश्वास है कि संन्यासियों को नग्न रहना चाहिए और किसी चीज़ का संग्रह नहीं करना चाहिए। वे तीर्थंकरों को नग्न और नीची दृष्टि किए हुए दिखलाते हैं। श्वेतांबरों के शास्त्रों को दिगंबर जैन नहीं मानते, यद्यपि दोनों में सैद्धांतिक मतभेद नहीं के बराबर हैं।

बहुत काल तक महावीर जी की शिक्षा लोगों के कंठ में रही। चौथी

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २८७

शताब्दी ई० पू० में उसे लेखनी-बद्ध करने की आवश्यकता महसूस की गई। श्वेतांबरों में चौरासी ग्रंथ पवित्र माने जाते हैं। उन में ४१ सूत्र-ग्रंथ हैं, कुछ प्रकीर्णक हैं, कुछ भाष्य-ग्रंथ या टीकाएं। सूत्रों में ११ अंग, १२ उपांग, ५ मूल आदि सम्मिलित हैं। यह सब अर्द्धमागधी में थे। ईसा के जन्म के बाद जैनियों में संस्कृत का अनुराग बढ़ने लगा।

जैन-साहित्य

जैनियों का दार्शनिक साहित्य बहुत विस्तृत है। जैन-दर्शन संबंधी ग्रंथों की भाषा (संस्कृत), हिंदू-दर्शन के विद्यार्थियों का, कुछ विचित्र मालूम पड़ती है। ऐसा मालूम होता है कि जैन-विद्वान् दार्शनिक की अपेक्षा वैज्ञानिक अधिक थे। उमास्वाति[1] (उमास्वामी) का 'तत्वार्थाधिगमसूत्र' 'स्टैंडर्ड' ग्रंथ है जिसे श्वेतांबर और दिगंबर दोनों मानते हैं। अकलंक[2] का 'राजवार्तिक', स्वामी विद्यानंद का 'श्लोकवार्तिक' और समंत-भद्र की 'आप्तमीमांसा' दिगंबर साहित्य में प्रसिद्ध हैं। हरिभद्र सूरि के 'षड्दर्शन समुच्चय' (नवीं शताब्दी) में जैनेतर मतों का भी संग्रह है। इस ग्रंथ में ईश्वर का खंडन विस्तार से किया गया है। मल्लिसेन की 'स्याद्वाद-मंजरी' (तेरहवीं शताब्दी) प्रसिद्ध है। इन के अतिरिक्त कुंदकुंदाचार्य का 'पंचास्तिकाय' नेमिचंद्र का 'द्रव्यसंग्रह' और देव-सूरि का 'प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार' उल्लेखनीय हैं। कुछ जैन-ग्रंथों का अंग्रेज़ी अनुवाद भी हो गया है।

जैन-धर्म और अन्य दर्शन

'सर्व-दर्शन-संग्रह' के लेखक का कथन है कि 'आस्रव' और 'संवर' जैन-दर्शन की मुख्य धारणाएं हैं।[3] इस से जैन धर्म की व्यावहारिकता प्रकट होती है। न्याय,

---

[1] उमास्वामी का समय तृतीय शताब्दी है।

[2] अकलंक (७५० ई०) ने 'आप्तमीमांसा' पर 'अष्टशती' नामक प्रसिद्ध टीका लिखी है।

[3] आस्रवो भवहेतुः स्यात्संवरो मोक्षकारणम्।
इतीयमार्हती दृष्टिरन्यदस्याः प्रपंचनम्॥

वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा की तरह जैनी अनेक-जीववादी हैं, पर वे जीव या आत्मा को व्यापक नहीं मानते। उपनिषदों की भाँति उन का पुनर्जन्म में विश्वास है। बौद्धों की तरह वे अनीश्वरवादी हैं। बौद्धधर्म के समान ही जैनमत अहिंसा पर ज़ोर देता है। हिंसा से बचने की चेष्टा जितनी जैन लोग करते हैं उतनी कोई नहीं करता। चीन और जापान के बौद्ध भी मछली आदि खाना बुरा नहीं समझते। जैन-धर्म ने आर्यों की याज्ञिक हिंसा का तीव्र विरोध किया। बार्थ नामक विद्वान का विचार है कि गौतम बुद्ध और महावीर एक ही ऐतिहासिक पुरुष के नाम हैं।[1] दोनों का जीवन-वृत्त बहुत कुछ मिलता-जुलता है। इसी प्रकार कुछ पंडितों ने सांख्य और जैन-दर्शन में बहुत साम्य पाया है। वास्तव में जैन-दर्शन का जीव न्याय-वैशेषिक की आत्मा से अधिक मिलता है, न कि सांख्य के पुरुष से। सांख्य का पुरुष वस्तुतः असंग और कर्तृत्व-हीन है। अन्य सिद्धांतों में भी सांख्य और जैनमत में विशेष सादृश्य नहीं है। बुद्ध और महावीर को एक बनाने की कल्पना भी ऐतिहासिक सामग्री से सिद्ध नहीं होती। कभी-कभी पाश्चात्य विद्वान् भारतीय ऐतिहासिक पुरुषों और लेखकों के विषय में विचित्र कल्पनाएं करने लगते हैं। इतिहास को सरल बनाने की चेष्टा हास्यास्पद है।

बोधिपंचक

जैनी लोग पाँच प्रकार की बोधि या ज्ञान मानते हैं अर्थात् मतिज्ञान, श्रुतिज्ञान, अवधि, मनःपर्याय और केवल।

१. मतिज्ञान—मन और इंद्रियों से जो ज्ञान होता है उसे 'मति-ज्ञान' कहते हैं। स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहले जाने हुए को पहचानना) इस में सम्मिलित हैं। तर्क का भी इस में समावेश हो जाता है।

२. श्रुतिज्ञान—शब्दों और संकेतों या चिह्नों से जो ज्ञान होता है उसे 'श्रुतिज्ञान' कहते हैं। यह ज्ञान शास्त्रीय और अशास्त्रीय दो प्रकार का हो सकता है।

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २९०

३. अवधि—दिव्य दृष्टि से भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तुओं का प्रत्यक्ष बोध अवधिज्ञान है। अंग्रेज़ी में इसे 'क्लेयरवोयेंस' कह सकते हैं।

४. मनःपर्याय—इस का अर्थ है पर-चित्तज्ञान।

५. केवल-ज्ञान—यह मुक्तजीवों का ज्ञान है। मुक्तजीव का ज्ञान परिच्छिन्न नहीं होता; मुक्तजीव सर्वज्ञ होता है।

इन पाँच प्रकार के ज्ञानों में पहले तीन में ग़लती और अपूर्णता का भय है। अंतिम दो ज्ञान कभी मिथ्या या असफल नहीं हो सकते। पहले तीन प्रकार के ज्ञान को परोक्ष और अंतिम दो को प्रत्यक्ष ज्ञान कहा जाता है। जैनी लोग इंद्रिय-जन्य ज्ञान को प्रत्यक्ष नहीं कहते क्योंकि इंद्रिय-ज्ञान में आत्मा और विषय के बीच में व्यवधान आ जाता है। कुछ के मत में इंद्रिय-ज्ञान को भी प्रत्यक्ष कहना चाहिए। इस मत में इंद्रिय-प्रत्यक्ष और मानस-प्रत्यक्ष भी हो सकते हैं।

जैनी लोग श्रेणियों के विभाग और उपविभाग से कभी नहीं घबराते, यद्यपि उन के अध्येताओं का धैर्य छूट जाता है।

'आउट् लाइन आफ़ जैनिज़्म' का लेखक बतलाता है कि श्रुतिज्ञान (२८८+४८) ३३६ प्रकार का होता है, अवधिज्ञान छः प्रकार का और मनःपर्याय दो प्रकार का। इस प्रकार के थका देनेवाले श्रेणी-विभाजन जैनमत में जगह-जगह मिलते हैं। हिंदी भाषा के दार्शनिकों को जैन-साहित्य से शब्द-कोश यथेष्ट मिल सकता है। हमारी जैन विद्वानों से प्रार्थना है कि वे अपने साहित्य में से मनोविज्ञान और व्यवहार-शास्त्र के पारिभाषिक शब्दों का संकलन करें।

'हमारा ज्ञान सच्चा है' इस की परीक्षा कैसे हो? इस प्रश्न का उत्तर देना दर्शनशास्त्र की उस शाखा का काम है जिसे संस्कृत में 'प्रामाण्यवाद' कहते हैं। इस का विशेष वर्णन हम आगे करेंगे। जिस ज्ञान को सत्य मान कर व्यवहार करने से सफलता हो उसे यथार्थज्ञान समझना चाहिए।

ज्ञान की सत्यता की परख व्यावहारिक होनी चाहिए।[1] इस प्रकार जैनी लोग 'परतः प्रामाण्यवादी' हैं।

जैनियों का तत्त्वदर्शन या ऑंटोलॉजी

संसार में सहस्रों वस्तुएं पाई जाती हैं। दर्शन-शास्त्र का उद्देश्य एक संकीर्ण क्षेत्र फल के पदार्थों को जानना नहीं है; दार्शनिक जिज्ञासा का विषय संपूर्ण ब्रह्मांड होता है। इस लिए प्राचीन काल से संसार के दार्शनिकगण विश्व के सारे पदार्थों को कुछ थोड़ी सी श्रेणियों में विभाजित करते आए हैं। सब से प्रसिद्ध श्रेणी-विभाग वैशेषिक दर्शन का है जिस के विषय में हम आगे पढ़ेंगे। जैन-दर्शन में विश्व के पदार्थों का वर्गीकरण जीव और अजीव में किया गया है। जड़ और चेतन, इन श्रेणियों के अंतर्गत संसार की सारी वस्तुएं आ जाती हैं।

परंतु जीव और अजीव के अतिरिक्त कुछ और तत्व भी हैं जिन का देश-काल से विशेष संबंध नहीं है। 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र' का लेखक सात तत्व बतलाता है जिन को जानने से ठीक बोध हो सकता है। वे सात तत्व यह हैं:—

जीवा-जीवास्रव-बंध-संवर-निर्जरा-मोक्षास्तत्त्वम्।

अर्थात् जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। इन में 'पाप' और 'पुण्य' को जोड़ देने पर जैनमत के नौ ज्ञेय पदार्थों की संख्या पूरी हो जाती है।[2] अब हम क्रमशः इन नौ पदार्थों का वर्णन करेंगे।

(१) जीव—जैनियों के जीव-विषयक विचार हिंदू-दर्शन के विद्यार्थियों को कुछ विचित्र प्रतीत होते हैं। जीव का कोई निश्चित परिमाण और आकार नहीं है। शरीर के साथ ही जीव का परिमाण घटता-बढ़ता रहता है। वही जीव चींटी के शरीर में घुस कर चींटी के बराबर हो जाता है और हाथी के शरीर में हाथी के बराबर। जीव में आकुंजन (सिकुड़ना)

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० २९५। [2] हिरियन्ना, पृ० १७०

और प्रसारण (फैलना) हो सकते हैं। इस का अर्थ यह हुआ कि जीव एक सावयव पदार्थ है। अवयव के बदले जैनी लोग 'प्रदेश' शब्द का प्रयोग करते हैं। जीव प्रदेशवान् पदार्थ है। जैसे सर्प फन को उठा और सिकोड़ कर रह सकता है, वैसे ही जीव और उस के अनंत प्रदेशों का संबंध समझना चाहिए।[1]

न्याय, वैशेषिक, सांख्य आदि में जीव को व्यापक माना जाता है। मल्लिसेन कृत 'स्याद्वादमंजरी' में इस मत का खंडन किया गया है। आत्मा को व्यापक नहीं मानना चाहिए क्योंकि सर्वत्र आत्मा के गुणों की उपलब्धि नहीं होती।[2] गुण और गुणी अलग-अलग नहीं रह सकते। आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता, इस लिए उस की उपस्थिति का अनुमान ज्ञान, चैतन्यादि गुणों से ही हो सकता है जो कि देह के बाहर नहीं पाए जाते। यही तर्क जीव के अणु-परिमाण का भी विरोधी है। संपूर्ण देह में जीव के गुणों की अभिव्यक्ति होती है, इस लिए जीव को देह के परिमाण का मानना चाहिए।

जीव अनंत हैं। चैतन्य उन का मुख्य गुण है। यह चैतन्य 'ज्ञान' और 'दर्शन' में अभिव्यक्त होता है। मुक्तावस्था में जीव में अनंत बुद्धि और अनंत दर्शन वर्तमान होता है। शक्ति भी अनंत हो जाती है। मुक्त जीव को ही ईश्वर कहते हैं, इस प्रकार प्रत्येक जीव ईश्वर हो सकता है।

जैनी लोग जलवायु आदि सब में जीव मानते हैं, जीवों का श्रेणी-विभाजन कई प्रकार से किया जा सकता है। कुछ जीव 'एकेंद्रिय' हैं, कुछ दो, तीन और चार इंद्रिय वाले; कुछ पंचेंद्रिय हैं। खनिज पदार्थों, धातुओं आदि में भी जीव है। सर्वत्र जीव या चेतना का आरोपण करने की इस प्रवृत्ति को अंग्रेज़ी में 'हाईलोइज़्म', कहते हैं। जैनियों का यह

[1] 'स्याद्वादमंजरी', पृ० ६३। [2] वही, पृ० ४

सिद्धांत उन के मत की प्राचीनता और स्थूलता प्रकट करता है।

कुछ जीव पार्थिव शरीरवाले या 'पृथ्वीकाय' हैं, कुछ अप्-काय, कुछ वायु-काय और कुछ वनस्पति-काय। जीवों को बद्ध और मुक्त की श्रेणियों में भी बाँटा जा सकता है। बद्ध जीवों में कुछ को 'सिद्ध' कह सकते हैं और कुछ को असिद्ध। सिद्ध पुरुष को हिंदुओं का 'जीवन्मुक्त, या 'स्थित-प्रज्ञ' समझना चाहिए।

ज्ञान जीव का गुण नहीं है बल्कि स्वरूप ही है। कर्म-पुद्गल के संयोग से उस की अभिव्यक्ति में विघ्न पड़ता है। जैनियों की 'कार्मोण वर्गणा' अन्य दर्शनों की अविद्या के तुल्य है। सब अंतरायों या विघ्नों के दूर हो जाने पर जीव का अनंत ज्ञान और अनंत दर्शन स्फुटित हो उठता है। मोक्ष की प्राप्ति के लिए किसी ईश्वर की सन्निधि या सहायता अपेक्षित नहीं है।

(२) अजीव—चैतन्य के अतिरिक्त संसार में दूसरी जड़-शक्ति है। अजीव या जड़ के जैनी लोग पाँच विभाग करते हैं, अर्थात्, काल, आकाश, धर्म, अधर्म और पुद्गल। इन में से काल को छोड़ कर शेष चार को 'अस्तिकाय', कहते हैं। 'अस्तिकाय' का अर्थ समझने के लिए हमें सत्य-पदार्थ का लक्षण जानना चाहिए। उमास्वामी का कथन है:—

उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य युक्तं सत्। ५। २६

अर्थात् जिस में उत्पत्ति, क्रमिक नाश और स्थिरता पाई जाय उसे 'सत्' कहते हैं। परिवर्तित होते रहना और परिवर्तन में एक प्रकार की स्थिरता (ध्रुवता) रखना यह अस्तित्ववान् पदार्थों का स्वभाव है। जैन-दर्शन के अनुसार स्थिरता और विनाश दोनों ही प्रत्येक वस्तु में रहते हैं। कोई भी वस्तु एकांत नित्य और एकांत अनित्य नहीं है। सभी वस्तुएं नित्य और अनित्य दोनों प्रकार की हैं। 'प्रवचनसार' नामक ग्रंथ में लिखा है:—

ण भवो भंग विहीणो भंगो वा णत्थि संभव विहीणो
उप्पादो वि य भंगो ण विणा धोव्वेण अत्थेण। ६।

अर्थात् 'उत्पत्ति के बिना नाश और नाश के बिना उत्पत्ति संभव नहीं है। उत्पत्ति और नाश दोनों का आश्रय कोई ध्रुव (स्थिर) अर्थ या पदार्थ होना चाहिए।' एकांत नित्य पदार्थ में परिवर्तन संभव नहीं है और यदि पदार्थों को क्षणिक माना जाय तो 'परिवर्तित कौन होता है?' इस प्रश्न का उत्तर न बन पड़ेगा। जैनियों के मत में जीव भी एकांत नित्य नहीं है, अन्यथा उस में स्मरण, चिंतन आदि विकार न हो सकें।

अपरित्यक्त स्वभावेनोत्पादव्ययध्रुवत्वसंबद्धम्
गुणवच्च सपर्यायं यत्तद्द्रव्यमिति ब्रुवाति। २। ४

(प्रवचनसार, संस्कृत छाया)

'जो अपने स्वभाव को नहीं छोड़ता और उत्पत्ति, व्यय तथा ध्रुवत्व (स्थिरता) से संबद्ध है उस गुण और पर्यायों सहित पदार्थ को 'द्रव्य' कहते हैं। मिट्टी द्रव्य है और घट, शराब आदि उस के पर्याय। अब हम 'अस्तिकाय' का लक्षण कर सकते हैं। सत् और सावयव (प्रदेशवाले) पदार्थ को 'अस्तिकाय' कहते हैं। काल के अवयव नहीं हैं, इस लिए वह अस्तिकाय नहीं है। जीव भी ऊपर का लक्षण घटने के कारण, 'अस्तिकाय' है; जीव 'प्रदेशवाला' है। अब हम अजीव पदार्थों का संक्षिप्त और क्रमिक वर्णन देते हैं।

काल—यह अपौद्गलिक पदार्थ है। काल 'सत्' तो है पर 'अस्तिकाय' नहीं है क्योंकि यह एक निरवयव पदार्थ है। आपेक्षिक काल को 'समय' कहते हैं जो घड़ी से मालूम पड़ता है।

आकाशास्तिकाय—इस से सब को अवकाश मिलता है। बिना आकाश के दीवार में कील नहीं ठोंकी जा सकती और न दीपक की किरणें अंधकार का भेदन ही कर सकती हैं। आकाश के जिस भाग में विश्व-जगत् है उसे 'लोकाकाश' कहते हैं, उस से परे जो कुछ है वह 'अलोकाकाश' है। सिर्फ़ आकाश गति का कारण नहीं है।

धर्मास्तिकाय—यह इंद्रिय-ग्राह्य नहीं है। जैन-दर्शन में धर्म का

अर्थ 'पुण्यकर्मों का फल' नहीं है। धर्म सब प्रकार की गति और उन्नति का हेतु है। धर्म रूप, रस, गंध आदि गुणों से रहित है। यह अमूर्त और गतिहीन है। जैसे ऑक्सीजन के बिना कुछ जल नहीं सकता वैसे ही 'धर्मास्तिकाय' के बिना किसी पदार्थ में गति नहीं हो सकती।

अधर्मास्तिकाय—यह भी पापकर्मों या उन के फल का नाम नहीं है। वस्तुओं की स्थिति का कारण अधर्मास्तिकाय है।

पुद्गलास्तिकाय—भारतवर्ष में परमाणुवाद के सिद्धांत को जन्म देने का श्रेय जैन दार्शनिकों को मिलना चाहिए। उपनिषदों में अणु शब्द का प्रयोग तो हुआ है (जैसे 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' में) किंतु परमाणुवाद नाम की कोई वस्तु उन में नहीं पाई जाती। वैशेषिक का परमाणुवाद शायद इतना पुराना नहीं है। जैनों और वैशेषिक के परमाणु-वाद में भेद भी है। पुद्गल या जड़तत्त्व अंतिम विश्लेषण में परमाणुरूप है। यह परमाणु आदि-अंतहीन और नित्य हैं। परमाणु अमूर्त हैं, यद्यपि सब मूर्त पदार्थ उन्हीं से बनते हैं। पृथ्वी, जल, वायु आदि सब मूल में एक ही प्रकार के परमाणुओं के रूपांतर हैं। मुक्तजीवों को छोड़ कर किसी को परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। फिर भी हर एक परमाणु में रूप, रस, गंध, स्पर्श रहते हैं। भिन्न भिन्न परमाणुओं में विभिन्न गुण अधिक अभिव्यक्ति पा जाते हैं जिस से उन में भेद हो जाता है। परमाणुओं के संयोग या मेल से ही संसार के सारे दृश्यमान पदार्थ बनते हैं। छोटे या बड़े किसी भी परमाणु-पुंज को 'स्कंध' कहते हैं। एक तत्त्व का दूसरे तत्त्व में रूपांतरित होना जैनमत में संभव है। यह सिद्धांत आधुनिक विज्ञान के अनुकूल ही है। भौतिक जगत कुल मिला कर 'महा-स्कंध' कहलाता है।

कर्म भी जैनियों के मत में पुद्गल का सूक्ष्मरूप है। अच्छे-बुरे कर्म करने पर वैसे ही परमाणु जीव को लिपट जाते हैं जिन्हें कार्माण-वर्गणा कहते हैं। इस कर्म-पुद्गल से मुक्ति पाना ही जीवन का उद्देश्य है।

कार्माण पुद्गल से आत्मा की ज्योति ढक जाती है और वह अज्ञान, मोह, दुर्बलता में फँस जाता है। अच्छे कर्म करने से धीरे-धीरे बुरे कर्मों का पुद्गल जीव को छोड़ देता है, अज्ञान का आवरण हटता है और जीव मुक्त हो जाता है।

जैन-दर्शन का 'पुद्गल' शब्द अंग्रेज़ी मैटर का ठीक अनुवाद है। भविष्य के हिंदी लेखकों से प्रार्थना है कि वे इस शब्द को अपनाएं। 'पौद्गलिक' विशेषण भी सहज ही उपलब्ध हो जाता है।

जीव और अजीव का वर्णन करने के बाद शेष पदार्थों का वर्णन कठिन नहीं है। वास्तव में जीव और अजीव का विभाग ही प्रधान है।

(३) आस्रव—जीव और अजीव में संबंध कर्म-पुद्गल के द्वारा होता है। जीव की ओर कर्म-परमाणुओं की गति को 'आस्रव' कहते हैं।

(४) बंध—जीव और कर्म के संयोग को 'बंध' कहते हैं।

(५) संवर—सम्यक् ज्ञान हो जाने पर नवीन कर्म उत्पन्न होना या कर्म-पुद्गल का जीव की ओर गतिमान होना बंद हो जाता है। इस दशा को 'संवर' कहते हैं।

(६) निर्जरा—धीरे-धीरे कर्म-परमाणुओं के जीव से छूटने को 'निर्जरा' कहते हैं। निर्जरा संवर का परिणाम है।

(७) मोक्ष—कर्म-पुद्गल से मुक्त हो जाने पर जीव वस्तुतः मुक्त हो जाता है। मुक्ति-दशा में जीव अनंत दर्शन, अनंत ज्ञान और अनंत वीर्य से संपन्न हो जाता है।

(८) पाप—उन कर्मों को जिन से जीव का स्वाभाविक प्रकाशमय स्वरूप आच्छादित हो जाय, पाप कहते हैं।

(९) जीव को मोक्ष की ओर ले जाने वाले कर्म पुण्य कहलाते हैं।

जैनों का व्यवहार-दर्शन

हिंदू शास्त्रों के समान जैन-दर्शन का उद्देश्य भी मोक्ष प्राप्त करना है। 'जिन' शब्द का अर्थ है जयी अर्थात् इंद्रियों को जीतने वाला, इस प्रकार 'जैन' शब्द से ही

उक्त धर्म की व्यावहारिकता प्रकट होती है। जैनी लोग त्याग और संन्यास के जीवन को विशेष महत्त्व देते हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अनुसार

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः।

'सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चरित्र या व्यवहार से मोक्ष-प्राप्ति होती है। जैन-दर्शन का ज्ञान और उस में श्रद्धा आवश्यक है, लेकिन बिना चरित्र का सुधार किए कुछ नहीं हो सकता। अच्छे आचार वाला व्यक्ति किसी धर्म का भी क्यों न हो, उस का कल्याण ही होगा। इस प्रकार जैनी सच्चरित्रता और सहृदयता अथवा अहिंसा पर ज़ोर देते हैं। अहिंसा की शिक्षा (जो कि जैन-धर्म की विशेष शिक्षा है) अभावात्मक (निगेटिव) नहीं, भावात्मक है। समाज-सेवा करना हरेक का कर्तव्य है। जैन लोग बड़े दानी होते हैं। दान, अहिंसा, अस्तेय (चोरी न करना), ब्रह्मचर्य और त्याग जैन शिक्षा के मुख्य अंग हैं। सम्यक् दर्शन, ज्ञान और चारित्र जैनियों के त्रिरत्न कहलाते हैं।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है कर्मों का नाश किए बिना मुक्ति नहीं हो सकती। कर्म अनेक प्रकार के होते हैं। वे कर्म जिन पर आयु की लंबाई निर्भर होती है, आयुकर्म कहलाते हैं। इसी प्रकार गोत्रकर्मों पर किसी विशेष जाति में जन्म होना निर्भर है। सब प्रकार के कर्म मिल कर जीव का कर्म-शरीर या कार्माण-वर्गणा बनाते हैं। कुछ विशेष प्रकार के कर्मों का नष्ट करना ज़्यादा कठिन है। यह कर्म क्रमशः ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय और मोहनीय वर्गों के कर्म हैं। ज्ञानावरणीय कर्म वे हैं जो आत्मा के ज्ञानमय स्वरूप का तिरोधान करते हैं; दर्शनावरणीय कर्म हृदय में सत्य-ज्ञान का आभास नहीं होने देते। वेदनीय कर्म आत्मा के आनंद-स्वरूप को ढक कर सुख-दुख उत्पन्न करते हैं; मोहनीय कर्म मनुष्य को सच्ची श्रद्धा और विश्वास से रोकते तथा मन को अशांत रखते हैं। आत्मा की उन्नति को रोकनेवाले सब कर्म अंतराय कर्म कहलाते हैं। उपर्युक्त चार प्रकार के अंतराय कर्म 'घातीय कर्म' कहलाते हैं।

जैनमत संन्यास पर ज़ोर देता है। संन्यासियों के लिए कड़े नियम हैं। जैन साधु अपने पास कुछ नहीं रखते, भिक्षा करके निर्वाह करते हैं। प्रायः वे लोग विहारों में रहते हैं। भिक्षा माँगते समय जैन साधु मुँह से नहीं बोलते और गृहस्थों को तंग नहीं करते। परंतु वे अपने प्रति बड़े कठोर होते हैं। वे अपने हाथों से अपने बाल तक नोच डालते हैं। जहां जैन-धर्म अपने शरीर पर अत्याचार करने की शिक्षा देता है वहां वह दूसरों के प्रति दयालु होने का उपदेश भी करता है। यदि कोई स्त्री अपने बच्चे को खिला रही हो तो जैन साधु उस से भिक्षा नहीं लेगा। अगर मां बच्चे को छोड़ कर उठना चाहे तो भी वह भिक्षा स्वीकार नहीं करेगा। बच्चे को रुलाने का कारण बनना पाप है। परंतु अपने शरीर पर जैन साधु दया नहीं दिखाते। बाल नोचने के नाम से ही रोमांच हो जाता है। आत्मा और शरीर में तीव्र द्वंद्व मानने वाले दार्शनिक सिद्धांत का यह व्यवहारिक परिणाम है। जड़ प्रकृति हमारे हृदय को स्पर्श क्यों करती है, इस का कोई उत्तर जैन-दर्शन में नहीं मिल सकता। प्राकृतिक सौंदर्य मोह का कारण है, यह विश्वास हो जाने पर किसी प्रकार के साहित्य की सृष्टि संभव नहीं है।

गृहस्थों का धर्म है कि वे संन्यासियों का आदर करें और उन के उपदेशों से लाभ उठाएं। चरित्र शुद्ध रखने से कालांतर में गृहस्थ भी मुक्त हो सकता है। राजा भरत गृहस्थ होने पर भी मरने पर सीधे मुक्त हो गए। ऐसे जीव को 'गृहलिंगसिद्ध' कहते हैं। चरित्र जाति और वर्ण दोनों से बढ़ कर है, यह जैन-धर्म का श्लाघनीय सिद्धांत है। सच्चरित्र व्यक्ति किसी भी जाति, वर्ण या धर्म का हो, उस का कल्याण ही होगा।

जैनियों का अनीश्वरवाद

परमाणुवाद के अतिरिक्त जैनियों ने भारतीय तत्व-दर्शन को दो महत्वपूर्ण विचार दिए हैं। पहला विचार ईश्वर के बिना सृष्टि की संभावना है। इस विचार का कुछ श्रेय नास्तिक (घोर नास्तिक) विचारकों को भी हो सकता है। जैन-

मत में यह सृष्टि किसी की बनाई हुई नहीं है, अनादि काल से यों ही चली आती है। ईश्वर की कल्पना, कम से कम सृष्टि-रचना के लिए, अनावश्यक है। प्राकृतिक तत्त्व निश्चित नियमों के अधीन हैं, जिन्हें ईश्वर भी नहीं बदल सकता। मल्लिसेन का कथन है:—

कर्त्ताऽस्ति कश्चिज्जगतः स चैकः स सर्वगः स स्ववशः स नित्यः।
इमाः कुहेवाक विडम्बनाः स्युः तेषां न येषा मनुशासकस्त्वम्।
—स्याद्वादमंजरी, श्लो० ६

अर्थात् 'जगत् का कोई कर्ता है और वह एक, सर्वव्यापक, स्वतंत्र और नित्य है, यह जैनेतर मत के लोगों का दुराग्रह मात्र है।' ईश्वर को मानना अयुक्त है। सृष्टि से पहले ईश्वर के शरीर था या नहीं? यदि हां, तो वह किस का बनाया हुआ था; यदि नहीं, तो बिना हाथ-पैरों के ईश्वर ने सृष्टि-रचना कैसे की? अशरीरी (शरीर-रहित) कर्ता को संसार में किसी ने नहीं देखा है। सृष्टि बनाने में ईश्वर का उद्देश्य भी क्या हो सकता है? उद्देश्य की उपस्थिति अपूर्णता की द्योतक है। किसी कमी को पूरी करने के लिए ही हम प्रयत्न करते हैं। आस्तिकों के पूर्ण परमेश्वर को सृष्टि-रचना के प्रयत्न की आवश्यकता क्यों पड़ी? नैयायिक लोग कहते हैं कि जगत् सावयव होने के कारण 'कार्य' है, इस लिए उस का कोई कर्ता होना चाहिए। परंतु जगत् का कार्य होना सिद्ध नहीं है। कार्य का लक्षण भी काल्पनिक है। फिर कर्ता शरीर-रहित नहीं देखा गया है। एक सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, दयालु ईश्वर से इस दुःखमय जगत् की सृष्टि क्यों हुई, यह समझ में नहीं आता। कर्मों का फल देने के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। ईश्वर का शासन कर्मों की अपेक्षा से है, यह सिद्धांत ईश्वर की स्वतंत्रता भी छीन लेता है। जैन-मत में कर्म अपना फल आप ही दे लेता है। शराब पीनेवाला उन्मत्त हो जाता है और अपने किए का फल आप पा जाता है। कर्म-पुद्गल जीव को चिपट कर उसे बाँध देता है। लोगों के अच्छे-बुरे कर्मों का वही-खाता

देखना ईश्वर के लिए श्लाघनीय काम नहीं मालूम होता। क्या ही अच्छा होता यदि आस्तिकों का ईश्वर करुणा करके सब को एक साथ मुक्त कर देता! क्या ही अच्छी बात होती यदि आस्तिकों का सर्वज्ञ परमात्मा मानव-जाति पर आनेवाली विपत्तियों से उसे आगाह कर देता, अथवा उन का निवारण कर देता!

स्याद्वाद

स्याद्वाद का सिद्धांत जैन-दर्शन की दूसरी महत्त्वपूर्ण देन है। ईश्वर का खंडन करके उन्हों ने आस्तिक विचारकों को सतर्क बना दिया; स्याद्वाद का सिद्धांत उन के दार्शनिक मस्तिष्क की उदारता और विशालता का परिचायक है। परंतु खेद यही है कि जैन विचारक स्वयं भी इस सिद्धांत का व्यावहारिक प्रयोग न कर सके। वे खुद ही दुराग्रह, हठधर्मी और अंध-विश्वास के शिकार बन गए। स्याद्वाद की परिभाषा करते हुए मल्लिसेन के टीकाकार हेमचंद्र कहते हैं—

स्याद्वादोऽनेकांतवादो नित्यानित्याद्यनेकधर्मशबलैकवस्त्वभ्युपगम इति यावत्। —स्याद्वाद-मंजरी, पृ० १४

अर्थात् स्याद्वाद अनेकांतवाद को कहते हैं जिस के अनुसार एक ही वस्तु में नित्यता, अनित्यता आदि अनेक धर्मों (गुणों) की उपस्थिति मानी जाती है। प्रत्येक वस्तु अनंत धर्मात्मक है।[१] इस सिद्धांत का वास्तविक स्वरूप क्या है?

स्याद्वाद का मूल सिद्धांत यह है कि एक ही वस्तु को अनेक दृष्टिकोणों से देखा और वर्णित किया जा सकता है। एक दृष्टिकोण से जो वस्तु 'सत्' मालूम होती है वह दूसरे दृष्टिकोण से 'असत्' हो सकती है। वस्तु के एक प्रकार के वर्णन को सत्य और दूसरे प्रकार के वर्णन को असत्य ठहराना प्रायः व्यक्ति-विशेष के संकीर्ण दृष्टिकोण का परिचायक होता है। स्याद्वाद का स्वरूप जैन-विचारक सात वाक्यों से समझाते

१ 'स्याद्वाद-मंजरी', पृ० १६९

हैं। इन्हें 'सप्तभंगी' कहते हैं:—

१—स्यादस्ति (शायद है)।

२—स्यान्नास्ति (शायद नहीं है)।

३—स्यादस्ति नास्ति (शायद है और नहीं है)।

४—स्यादवक्तव्यः (शायद अवक्तव्य है)।

५—स्यादस्ति चावक्तव्यः (शायद है और अवक्तव्य है)।

६—स्यान्नास्ति चावक्तव्यः (शायद नहीं है और अवक्तव्य है)।

७—स्यादस्ति च नास्ति चावक्तव्यः (शायद है, नहीं है, और अवक्तव्य है)।

अपने द्रव्य, स्वभाव और देश-काल के दृष्टिकोण से प्रत्येक वस्तु 'है', घट की सत्ता है। दूसरे पदार्थों के द्रव्य, स्वभाव आदि की अपेक्षा से कोई वस्तु भी 'नहीं है,' घट असत् है। एक ही पदार्थ घट घटरूप से सत् है और पटरूप से असत्। इसी प्रकार संसार की सारी वस्तुएं 'सदसदात्मक' हैं। यह पहली तीन भंगियों का अभिप्राय है। इन में से प्रत्येक में 'अवक्तव्यः' जोड देने से अंतिम तीन भंगिया बनती हैं। 'स्याद-वक्तव्यः' बीच की भंगी है। इस प्रकार सात भगियां हो जाती हैं।

'सत्ता' और 'असत्ता' का एक साथ कथन संभव नहीं है, इस लिए वस्तु को 'अवक्तव्य' कहते हैं। 'सत्ता' के साथ 'अवक्तव्यता' जोड़ने से पाँचवी भंगी बन जाती है। छठवीं भंगी में हम वस्तु की असत्ता और अवक्तव्यता दोनों कथन करते हैं। सातवीं भंगी में वस्तु की सदसदात्म-कता और अवक्तव्यता कथन की जाती है।

स्याद्वाद का वाच्यार्थ है 'शायद-वाद' अंग्रेजी में इसे 'प्रोबेबिलिज़्म' कह सकते हैं। अपने अतिरंजित रूप में स्याद्वाद संदेहवाद का भाई है। वास्तव में जैनियों को भगवान् बुद्ध की तरह तत्वदर्शन-संबंधी प्रश्नों पर मौन धारण करना था। जिस के आत्मा, परमात्मा, पुनर्जन्म आदि पर निश्चित सिद्धांत हों उस के मुख से स्याद्वाद की दुहाई शोभा नहीं देती।

स्याद्वाद से ही संबद्ध जैनियों का 'नय-वाद' या नय-सिद्धांत है। ज्ञान दो प्रकार का है, प्रमाण और नय। वस्तु का तत्वज्ञान प्रथम प्रकार का ज्ञान है, और वस्तु का आपेक्षिक ज्ञान दूसरी तरह का ज्ञान है। प्रत्येक प्रकार के अपूर्ण वर्णन या ज्ञान को 'नय' कहते हैं। जैनियों ने स्याद्वाद का उपयोग दूसरे मतों के खंडन और उपहास में किया है। दूसरे मत के सत्यशोधकों की वे उन अंधों से उपमा देते हैं जो अपनी जिज्ञासा से पीड़ित होकर हाथी को देखने गए। किसी ने पूँछ पकड़ कर कहा कि हाथी अजगर के समान है; किसी ने पैर पकड़ कर हाथी को खंभा बना दिया। दूसरे ने कान पकड़ कर उसे पंखे के तुल्य माना। इसी प्रकार संप्रदाय-वादी सत्य को एक दृष्टिकोण से देख कर विशेष प्रकार का बता देते हैं। यथार्थ ज्ञान को 'प्रमाण' कहते हैं और अयथार्थ या एकतरफ़ा ज्ञान को 'नय'।[1] नय दो प्रकार के हैं, शब्दनय और अर्थनय। शब्दनयों में स्वयं शब्दनय, समाविरुद्धनय, और एवंभूतनय सन्निविष्ट हैं। अर्थनय चार प्रकार के हैं अर्थात् नैगमनय, संग्रहनय, व्यवहारनय और ऋजुसूत्रनय। इन नयों की व्याख्या जटिल है और उस में मतभेद भी है। हम उन की व्याख्या न करके पाठकों को सिद्धांत समझाने की चेष्टा करेंगे।

वस्तुओं में परिवर्तन होता है, चीज़ें बदलती हैं। इस 'बदलना' क्रिया का कर्ता कौन है? 'ऋतु बदल रही है' इस वाक्य में यदि 'ऋतु' कोई स्थिर चीज़ है तो बदलता क्या है, और यदि ऋतु स्थिर चीज़ नहीं है तो 'बदलना' क्रिया का एक कर्ता कैसे हो सकता है। जैन दार्शनिक इस कठिनाई का समाधान इस प्रकार करते हैं। यदि हम 'द्रव्य' की दृष्टि से देखें तो वस्तु स्थिर है और यदि हम पर्यायों की दृष्टि से देखें तो वस्तु बदलती है, विकृत होती है। द्रव्य स्थिर और निर्विकार रहता है, पर्याय बदलते रहते हैं। इस प्रकार परिवर्तन और ध्रुवता या स्थिरता साथ-साथ

[1] राधाकृष्णन्, (भाग १), पृ० २९८

पाए जाते हैं। इन दोनों बातों को साथ साथ जानना 'नयनिश्चय' है और एक-एक का अलग-अलग ज्ञान 'नयाभास'।

इसी प्रकार कुछ विचारकों का दृष्टिकोण वैयक्तिक होता है और कुछ का सामाजिक; कुछ विचारक व्यक्ति को प्रधानता देते हैं कुछ समाज को। दोनों को मिलाकर देखने से ही 'व्यक्ति और समाज' के झगड़े का निबटारा हो सकता है। किसी वस्तु का यथार्थ स्वरूप समझने के लिए हमें उसे सब संभव दृष्टिकोणों से देख कर 'नयनिश्चय' करना चाहिए। एक लेखक के अनुसार—

एको भावः सर्वथा येन दृष्टः सर्वे भावाः सर्वथा तेन दृष्टाः।
सर्वे भावाः सर्वथा येन दृष्टा, एको भावः सर्वथा तेन दृष्टः।[१]

'जिस ने एक पदार्थ को सब प्रकार, सब दृष्टिकोणों से, देख लिया है; उस ने सब पदार्थों को सब प्रकार देख लिया। जिस ने सब प्रकार से सब भावों को देखा है वही एक भाव या पदार्थ को अच्छी तरह जानता है।'

आलोचना

जैन-धर्म के जीवन-संबंधी विचारों, अनीश्वरवाद और स्याद्वाद सभी की आलोचना हिंदू दार्शनिकों द्वारा की गई है। बौद्धों और जैनों में भी काफ़ी संघर्ष चला था। जैन-धर्म का यह सिद्धांत कि पृथ्वी, जल आदि के प्रत्येक परमाणु में जीव है, उन्हीं के विरुद्ध पड़ता है। यदि सब जड़ जगत् जीवमय है तो जड़ और चेतन के बीच ऐसी गहरी खाई खोदने की क्या ज़रूरत है? दूसरे, जीव के परिमाण में परिवर्तन मानना ठीक नहीं जँचता; इस से जीव अनित्य हो जायगा और कर्म-सिद्धांत में बाधा पड़ेगी। वास्तव में चैतन्य को आकाश में रहनेवाला या अवकाश घेरनेवाला कहना ही असंगत है। यह ज़रूरी नहीं है कि सब चीज़ें अवकाश या जगह घेरें। झूठ, सत्य, ईर्ष्या, द्वेष, सुख, दुःख आदि पदार्थ अवकाश में या देश में

[१] 'स्याद्वादमंजरी', पृ० ११२। इस सिद्धांत का स्वाभाविक पर्यवसान 'अद्वैतवाद' में होता है।

रहनेवाले नहीं हैं; कोई भी ऐसा पदार्थ हो सकता है।

जैन लोग परमाणुओं में आंतरिक भेद नहीं मानते। फिर एक परमाणु का दूसरे से भेद किस प्रकार होगा? क्या सांख्य की प्रकृति के समान एक जड़-तत्व को मानने से काम नहीं चल सकता?

इसी प्रकार जैन-दर्शन में जीव भी सब एक ही प्रकार के हैं। कर्म-शरीरों के नष्ट हो जाने पर सब जीव एक-से रह जायँगे। हम पूछते हैं कि एक ही चेतन तत्व को मानना यथेष्ट क्यों नहीं है? करोड़ों जीवों में जो प्रवृत्तियों की एकता पाई जाती है उस का कारण चैतन्य की एकता के अतिरिक्त कोई नहीं हो सकता।

जड़ और चेतन को सर्वथा भिन्न मानने पर उन में संबंध नहीं हो सकता।[1] संबंध एक ही श्रेणी के पदार्थों में हो सकता है अथवा एक बड़ी श्रेणी के अंतर्गत छोटी श्रेणियों में। दो गज़ और दो मिनिट में कोई संबंध क्यों नहीं दीखता? क्योंकि हमारी बुद्धि उन दोनों को एक बड़ी श्रेणी या जाति के अंतर्गत नहीं ला सकती। इस लिए जड़ और चेतन का घोर द्वैत ज्ञान की, जो कि जीव और जड़ का संबंध-विशेष है, संभावना को नष्ट कर देता है। इस युक्ति के विषय में विशेष हम आगे लिखेंगे। 'जीवज्ञान-स्वरूप है' और 'जीव अपने से भिन्न जगत् को जानता है' यह दोनों विरोधी सिद्धांत हैं।

यदि हमारा ज्ञान संभावना-मात्र है, निश्चित नहीं है, तो जैन लोगों को ईश्वर की असत्ता में इतना दृढ़ विश्वास कैसे हुआ? शंकर और रामानुज दोनों बतलाते हैं कि एक ही पदार्थ को सत् और असत्, 'है' और 'नहीं है' कह कर वर्णित नहीं किया जा सकता। वस्तु में विरोधी गुण नहीं रह सकते। इस लिए स्याद्वाद या सप्तभंगी न्याय ठीक सिद्धांत नहीं है।

स्याद्वाद में सत्यता का कुछ अंश अवश्य है और वह अंश जैनियों की सिद्धांतवादिता (डॉग्मेटिज़्म) का विरोधी है।

---

[1] देखिए भाग २, योगवाशिष्ठ-प्रकरण।

अध्याय ६

भगवान् बुद्ध और आरंभिक बौद्धधर्म

विभिन्न आस्तिक विचारकों के तत्वदर्शन-संबंधी पक्षपात और तात्विक विचारों के विरुद्ध जो प्रतिक्रिया शुरू हुई थी उस की परिसमाप्ति भगवान् बुद्ध की शिक्षा में हुई। जैनियों की प्रतिक्रिया वेदों की अपौरुषेयता, ईश्वरवाद और यज्ञ-विधानों तक ही सीमित रही थी। बौद्धधर्म ने उपनिषदों के आत्मवाद को स्वीकार करने से बिल्कुल इन्कार कर दिया। सांसारिक सुखों और जीवन की क्षण-भंगुरता से प्रभावित होकर बौद्धलोगों ने विश्व-तत्व की स्थिरता में विश्वास छोड़ दिया। अपने जीवन में जिसे हम पकड़ ही नहीं सकते, मानसिक और भौतिक जगत् में जिस का चिह्न भी नहीं मिलता, उस कल्पित स्थिर तत्व के विषय में चिंतन करने से क्या लाभ? तत्वदर्शन की कल्पित समस्याओं में उलझ कर मनुष्य अपने जीवन की प्रत्यक्ष समस्याओं को भूल जाते हैं और उन का नैतिक पतन होने लगता है। इस नैतिक पतन से आर्यजाति को बचाने के लिए भगवान् बुद्ध का आविर्भाव हुआ।

आरंभिक बौद्धधर्म और उस के बाद के स्वरूप में काफ़ी भेद है। आरंभिक बौद्धधर्म में व्यावहारिक विचारों की प्रधानता है, परंतु उत्तरकालीन बौद्धों में भारतीय मस्तिष्क का दार्शनिक पक्षपात फिर प्रकट होने लगता है। बौद्धों के चार प्रसिद्ध दार्शनिक संप्रदाय अर्थात् सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक बाद की चीज़ हैं। आरंभिक बौद्धधर्म में इस प्रकार का विचार-वैषम्य नहीं पाया जाता। बुद्ध ने कोई पुस्तक नहीं लिखी, उन के उपदेश मौखिक ही होते थे। उन की मृत्यु के बाद उन की शिक्षाओं

साहित्य

को पुस्तक-बद्ध किया गया। बुद्ध की शिक्षाएं पाली-ग्रंथों में संगृहीत हैं जिन्हें 'पिटक' कहते हैं। 'पिटक' का अर्थ है पिटारी। 'त्रिपिटक' भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं की पिटारियां हैं। इन का समय तीसरी शताब्दी ई० पू० समझना चाहिए। तीन पिटकों के नाम 'सुत्तपिटक' 'अभिधम्म-पिटक' और 'विनयपिटक' हैं। 'सुत्तपिटक' भगवान् बुद्ध के व्याख्यानों और संवादों का संग्रह है। बौद्धधर्म के प्रसिद्ध पंडित रिज़ डेविड्स् ने बुद्ध के संवादों की तुलना प्लेटो के संवाद-ग्रंथों से की है।

'सुत्तपिटक' पाँच निकायों में विभक्त है। इन्हों में से एक का नाम 'खुद्दकनिकाय' है जिस का एक भाग बौद्धों की गीता, 'धम्मपद', है। शेष चार निकायों के नाम 'दीघनिकाय', 'मज्झिमनिकाय', 'संयुत्तनिकाय' और 'अंगुत्तरनिकाय' हैं। बुद्ध के दार्शनिक उपदेश मुख्यतः 'सुत्तपिटक' में ही पाए जाते हैं। दूसरा 'विनयपिटक' है जिस में भिक्षुओं की जीवन-चर्या आदि की शिक्षा है। तीसरे 'अभिधम्मपिटक' में बुद्ध के मनोविज्ञान और व्यवहारशास्त्र-संबंधी विचारों का संग्रह है। बौद्धधर्म की प्राचीन पुस्तकों में 'मिलिंदपन्हो', अथवा 'मिलिंदप्रश्न' का भी सन्निवेश करते हैं। इस ग्रंथ में बौद्ध-शिक्षक नागसेन और यूनानी राजा मिनेंडर या मिलिंद के संवाद का वर्णन है।

बुद्ध का जीवन

भगवान् बुद्ध का जन्म लगभग ५५७ ई० पू० में शाक्यवंश के राजा शुद्धोधन के घर में हुआ। उन के माता-पिता का दिया हुआ नाम सिद्धार्थ और गोत्र का गोतम था। कपिलवस्तु के राज्य के वे युवराज थे। वे माता-पिता के बड़े दुलारे पुत्र थे। बड़े होने पर उन का विवाह राजवंश की एक सुंदर कन्या यशोधरा के साथ कर दिया गया जिस से उन के राहुल नाम का एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ। सिद्धार्थ बचपन से ही बड़े विचारशील थे। जीवन की क्षणभंगुरता के विषय में वे प्रायः सोचा करते थे। दो-एक बार शहर में घूमते हुए उन्होंने कुछ रोग, अवस्था और अन्य प्रकार से पीड़ित मनुष्यों

को देखा। दाह-संस्कार के लिए ले जाए जाने वाले कुछ शवों पर भी उन की दृष्टि गई। उन्हों ने सारथि से पूछा—यह इस प्रकार बाँध कर इस पुरुष को कहां लिए जा रहे हैं ? सारथि ने जो उत्तर दिया उसे सुन कर लाड़-प्यार में पले हुए जीवन के क्लेशों से अनभिज्ञ कुमार के कोमल हृदय को मर्मांतिक वेदना हुई। अब उन्हों ने जीवन को और भी निकट से देखना आरंभ कर दिया। उस में उन्हें दरिद्रता, निराशा और दुःख के अतिरिक्त कुछ भी न मिला। लोगों की स्वार्थपरता को देख कर उन्हें और भी क्लेश हुआ। उन का जीवन और भी गंभीर हो गया और वे रातदिन संसार का दुःख दूर करने की चिंता में निमग्न रहने लगे। एक दिन आधी रात को वे अपनी प्रिय पत्नी यशोधरा और नवजात शिशु राहुल को छोड़ कर निकल गए। संसार के सुख क्षणिक हैं; शरीर को एक दिन वृद्ध होकर मरना ही पड़ेगा। फिर जीवन की आकर्षक मृग-मरीचिका में फँसने से क्या लाभ ?

बुद्ध विद्वान् थे। उन्हों ने अपने युग की आस्तिक और नास्तिक विचार-धाराओं से परिचय प्राप्त किया था। गृहत्याग के बाद चित्त को शांति देने के लिए उन्हों ने विभिन्न मतों के शिक्षकों के पास जाकर उन के विचारों को समझने की बड़ी चेष्टा की परंतु उन की बुद्धि को संतोष नहीं हो सका। प्रतिभाशाली विचारक दार्शनिक समस्याओं के छिछले, एकांगी और सांप्रदायिक समाधानों से संतुष्ट नहीं हो सकते। विभिन्न मतवादियों ने आत्मिक कल्याण के लिए जो मार्ग बतलाए उन से भी उन्हें संतोष न मिल सका। उन्हों ने शरीर को कष्ट दिया, कृच्छ्र-उपवास आदि किए तथा शीतोष्ण सह कर अन्य तपस्याएं भी कीं। किंतु कहीं प्रकाश नहीं मिला। जीवन की उलझनों के सुलझाने का कोई उपाय नहीं सूझा। संदेह और जिज्ञासा से पीड़ित हृदय को सांत्वना नहीं मिली। बुद्ध मत-वादों से विरक्त हो गए; आस्तिक और नास्तिक सब प्रकार के दर्शनों से उन का विश्वास उठ गया। उन्हें विश्वास हो गया कि आत्म-शुद्धि द्वारा सत्य की

खोज उन्हें अकेले ही करनी होगी। वे प्रकाश की खोज में निर्जन वन-प्रदेशों में घूमने लगे। कभी-कभी राजकीय सुखों की याद आती थी, यशोधरा का स्मरण होता था। परंतु वैयक्तिक जीवन की बाधाओं को दूर किए बिना वे संसार का हित-साधन कैसे कर सकते थे? एक बार बोधिवृक्ष के नीचे ध्यानमग्न बुद्ध को कामदेव ने अपने अनुचरों सहित घेर लिया। क्षण-भर के लिए वे विचलित हो गए। परंतु शीघ्र ही शाक्यसिंह ने अपने को सँभाल लिया और उन्हों ने अपने को बाद को दिए गए 'शाक्य मुनि' नाम का अधिकारी सिद्ध कर दिया। उसी वृक्ष के नीचे अनवरत धैर्य से साधना कर के उन्होंने जीवन के सत्य का दर्शन किया। उन्हों ने 'बोध' या तत्व-ज्ञान प्राप्त किया और सिद्धार्थ गोतम से 'बुद्ध' बन गए। जिस सत्य को उन्हों ने देखा और प्राप्त किया था, जगत् और जीवन के विषय में जो उन में नई धारणा उत्पन्न हुई थी, उसे सर्वसाधारण में वितरित कर देना ही उन के अवशिष्ट जीवन का ध्येय बन गया।

बुद्ध-कालीन भारत[1]

कवि की तरह दार्शनिक भी अपने युग की प्रवृत्तियों का परिचय देता है। प्रत्येक दार्शनिक सिद्धांत पर कुछ न कुछ समय की छाप रहती है। बुद्ध जी के आविर्भाव के समय भारतवर्ष जीवन के सारे अंगों में विच्छिन्न हो रहा था, उस समय कोई एक बड़ा साम्राज्य न था, देश छोटे-छोटे राज्यों में विभक्त था। संस्कृत पवित्र मानी जाती थी पर बोलचाल की भाषाएं बहुत थीं। षड्-दर्शनों का विकास नहीं हो पाया था, यद्यपि वायुमंडल में उन के आविष्कार की योजना हो रही थी। जैसा कि चौथे अध्याय के प्रारंभ में कहा जा चुका है, जैन और बौद्धदर्शन के उदय और गीता के समन्वय से पहले भारतवर्ष की उर्वरा भूमि में अनेक विचार-स्रोत प्रवाहित हो रहे थे। दार्शनिक क्षेत्र में हलचल मची हुई थी। जितने विचारक थे, उतने ही मत थे। लोगों के मस्तिष्क में संदेह के कीटाणु भर चुके थे। ख़ूब वाद-विवाद

---

१ राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ३५२

होता था। लंबे शास्त्रार्थों का परिणाम जनता की दृष्टि में शून्य ही होता था। सैकड़ों तरह की बातें होती थीं, आत्मा-परमात्मा के विषय में तरह तरह की कल्पनाएं और अनुमान लड़ाए जाते थे जिन से साधारण जनता को कुछ भी प्रकाश नहीं मिलता था। विचार-क्षेत्र में पूरी अराजकता थी।

लोगों के व्यावहारिक अथवा नैतिक जीवन पर इस का बुरा प्रभाव पड़ा। बुद्धि-जगत् की अराजकता और अनिश्चयवादिता व्यावहारिक जगत् में प्रतिफलित होने लगी। आचार-शास्त्र के नियमों से लोगों की आस्था उठने लगी। तार्किक वाद-विवाद में फँस कर लोग जीवन के कर्तव्यों को भूलने लगे। बुद्ध के हृदय में बाल की खाल निकालने वाले अकर्मण्य दार्शनिकों के प्रति विद्रोह का भाव जागृत हो गया। अपने समय के जन-समाज का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके क्रांतिदर्शी बुद्ध ने यही परिणाम निकाला कि जीवन से परे आत्मा, परमात्मा जैसी वस्तुओं के विषय में व्यर्थ की बहस करना जीवन के अमूल्य क्षणों को बे-मोल बेच डालना है। जो हमारे वश की बात है अर्थात् अपने आचरण को शुद्ध बनाना, उसे न कर के यदि हम व्यर्थ के वाद-विवाद में फँस जायँ तो हमें शांति कैसे मिल सकती है? बुद्ध की शिक्षा में हम मनोविज्ञान पा सकते हैं, तर्कशास्त्र और व्यवहार-शास्त्र पा सकते हैं, लेकिन उस में तत्व-दर्शन के लिए स्थान कम है।

उस समय के लोगों का व्यावहारिक जीवन बुद्ध के कोमल हृदय को निराश करनेवाला था। भगवद्गीता और उपनिषदों के नैष्कर्म्य के आदर्श को माननेवाले पुरुष लगभग नहीं थे। ब्राह्मण-काल की स्वार्थपूर्ण यज्ञ-निष्ठता यथेष्ट मात्रा में वर्तमान थी। देवताओं को प्रसन्न करने के लिए पशुओं का बलिदान किया जाता था। यज्ञ की हिंसा, हिंसा नहीं समझी जाती थी। हिंसा ईश्वर-भक्ति का अंग थी। बुद्ध ने ऐसे ईश्वर को मानने से इन्कार कर दिया। जो ईश्वरवाद हमें अंधविश्वासों में फँसाता है, जो हमें प्रलोभनों से प्रेम करना सिखाता है; जो प्राकृतिक नियमों को

देखने की शक्ति छीन लेता है; जो आत्मिक उन्नति के लिए हमें पर-मुखापेक्षी बना देता है जो प्रयत्नशीलता या पुरुषार्थ से रोकता है, जो पशुओं के रक्त पर पवित्रता की मुहर लगा देता है; उस ईश्वरवाद को दूर से ही प्रणाम है। कर्मफल का निर्णय करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, उस के लिए कर्म सिद्धांत ही काफ़ी हैं। हिंसा का विधान करने वाले वेद किसी प्रकार भी पवित्र या प्रामाण्य ग्रंथ नहीं हो सकते। जो देवता हिंसा चाहते हैं, उन्हे देवता कहना विडंबना है।

बौद्धधर्म और उपनिषद्

उस समय के आस्तिक हिंदुओं को भगवान् बुद्ध वेदों और वेदोक्त धर्म के मूर्तिमान विरोध दिखलाई दिए। कुछ आधुनिक विद्वानों का भी मत है कि बौद्धधर्म सर्वथा अभारतीय मालूम पड़ता है। लेकिन ऐसा समझना अपनी ऐतिहासिक अनभिज्ञता का परिचय देना है। यदि बौद्धधर्म का जन्म और विकास भारतवर्ष में हुआ तो वह 'अभारतीय' कैसे कहा जा सकता है? जिस धर्म ने लगभग एक हज़ार वर्ष तक भारत के हज़ारों मनुष्यों के हृदयों पर शासन किया, उसे भारतीय चीज़ न समझना आश्चर्य की बात है। विदेशी विद्वान् भारत को नैतिक चिंतन का श्रेय नहीं देना चाहते। वस्तुतः बुद्ध के विचारों में ऐसी कोई बात नहीं है जो इन्हें भारतीय कहलाने से वंचित रख सके। बौद्धधर्म और जैनधर्म दोनों ही के बीज उपनिषदों में विद्यमान हैं। उपनिषदों के व्यावहारिक संकेतों का विकसित रूप ही बौद्धधर्म है। उपनिषद् कहते हैं—'जो सब भूतों को आत्मा में देखता है और सब भूतों में आत्मा को, वह किसी से घृणा नहीं करता।'[1] बौद्धधर्म ने भी विश्वप्रेम की शिक्षा दी लेकिन उस का दार्शनिक आधार इतना स्पष्ट नहीं है। बौद्धधर्म की शिक्षा है कि—

यदा मम परेषांच भयं दुःखं च न प्रियम्।
तदात्मनः को विशेषो यत्तं रक्षामि नेतरम्॥[2]

---

[1] ईश, ६ [2] 'बोधिचर्यावतार', पृ० ३३१

'भय और दुःख मेरे समान ही दूसरों को भी प्रिय नहीं हैं। फिर मुझ में ऐसी कौन सी विशेषता है जिस के कारण मैं उन से अपनी ही रक्षा करूं दूसरों की नहीं ?' बुद्ध के मत में संसार के प्राणियों को एकता के सूत्र में बाँधनेवाले वेदना के तंतु हैं। संसार में सभी दुःखी हैं, सभी अभाव का अनुभव करते हैं। दुःख की अनुभूति की समानता के कारण दुःख दूर करके शांति प्राप्त करने की साधना में भी एकता होनी चाहिए। हमारा व्यवहार पारस्परिक सहानुभूति पर अवलंबित हो। जहां उपनिषद् सब मनुष्यों की तात्विक एकता की शिक्षा देते हैं, वहां बौद्धधर्म व्यवहार और साधना के ऐक्य पर ज़ोर देता है।

उपनिषदों के समान ही बुद्ध ने बाह्य वस्तुओं से चित्त हटा कर अंतर्मुखता की शिक्षा दी। याज्ञिक आडंबरों के प्रति तिरस्कार की भावना उपनिषदों और बौद्धधर्म में समान है। भेद इतना ही है कि उपनिषदों ने कर्मकांड को नीची साधना कह कर छोड़ दिया और उस की बहुत खोल कर निंदा नहीं की। बुद्ध ने इस प्रकार का समझौता करने से इनकार कर दिया। जो आडंबर है, जो मिथ्या है, उस से समझौता कैसा ? उस से कल्याण की आशा भी कैसे की जा सकती है ? आडंबरों से मुक्त होने और मुक्त करने की जितनी उत्कंठा बुद्ध में थी उतनी उपनिषदों में नहीं।

मानव-जीवन की व्यर्थता और क्षण-भंगुरता पर उपनिषदों में कहीं-कहीं करुण विचार पाए जाते हैं। नचिकेता और यम के संवाद में सुख और ऐश्वर्य की व्यर्थता अच्छी तरह व्यक्त की गई है। उपनिषदों के ऋषियों ने संसार की दुःखमयता को दार्शनिकों की बौद्धिक और गंभीर दृष्टि से देखा। बुद्ध का हृदय दार्शनिक से भी अधिक मानव-हृदय अथवा कवि-हृदय था। उन्हों ने विश्व की करुणा को देखा ही नहीं, अनुभव भी किया। उन के कोमल हृदय में जैसे विश्व की अंतर्वेदना घनीभूत होकर समा गई थी जो किसी भी पीड़ित प्राणी को देख कर क्षण भर में द्रवित हो जाती थी।

इसलिए सर राधाकृष्णन् का कहना है कि बौद्धधर्म, कम से कम अपने मूल में, हिंदूधर्म की ही एक शाखा है।[1]

जीवन दुःखमय है, यह बौद्ध मतावलंबियों का निश्चित विश्वास है। यही विश्वास बौद्ध-दर्शन और बौद्ध मस्तिष्क को गति प्रदान करता है। जन्म दुःखमय है, जीवित रहना दुःखमय है, वृद्ध होकर मरना भी दुःखमय है। अस्तित्ववान् होने का अर्थ है दुःखानुभूति। अपने शरीर की रक्षा के लिए, अपने विचारों की रक्षा के लिए, अपने व्यक्तित्व की रक्षा के लिए दुःख उठाना पड़ता है। संसार की सारी चीजें नष्ट हो जाती हैं; हमारी आशाएं और आकांक्षाएं, हमारे अरमान, हमारा भय और प्रेम सब का अंत हो जाता है। इच्छाओं की पूर्ति के प्रयत्न में दुःख है, इच्छा स्वयं दुःखमयी है। हमारे सुख-भोग के क्षण भी दुःख के लेश से मुक्त नहीं होते। शारीरिक क्रियाओं में शक्ति क्षय होती है। विचारों के बोझ से मस्तिष्क पीड़ित रहता है। तृष्णा की अग्नि जीवन के सारे क्षणों को तपाए रखती है। व्यर्थ की दुश्चिंताओं का भार हमें कभी नहीं छोड़ता। यदि अपना जीवन सुखी हो, तो भी चारों ओर के प्राणियों को दुखी देख कर हम शांत नहीं रह सकते। विपन्नों का आर्तनाद हमारे कान फाड़ डालता है। स्वार्थी से स्वार्थी मनुष्य को अपने इष्ट-मित्रों का दुःख भोगना ही पड़ता है। अपने स्वार्थ के दायरे को हम कितना भी संकीर्ण करलें, फिर भी हम दुख से नहीं बच सकते। सर्वग्रासी मृत्यु अपना मुख फैलाए निश्चित गति से प्रतिक्षण हमारी ओर बढ़ती चली आती है। एक बार यह जान कर कि हमारे सारे प्रयत्नों और शुभ इच्छाओं को सदा के लिए शून्य में लीन हो जाना है, कौन सुखी रह सकता है?

भगवान् बुद्ध की शिक्षा : दुःख की व्यापकता

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ३६१

चिकित्सा-शास्त्र में उस के चार अंगों का वर्णन रहता है, रोग, रोग-हेतु, स्वास्थ्य और औषधि या उपचार। इसी प्रकार बौद्ध-दर्शन के भी चार अंग हैं, अर्थात् संसार, संसार-हेतु, निर्वाण और उस का उपाय। बुद्ध अपने चारों ओर फैले हुए मानवी दुःखों का अंत करना चाहते थे। संसार में दुःख क्यों है? दुःख वस्तुओं की क्षणभंगुरता का नैसर्गिक परिणाम है। जिस संसार को हम अनुभव द्वारा जानते हैं उस में कोई भी वस्तु स्थिर नहीं है। परिवर्तनशीलता या क्षणभंगुरता भौतिक और मानसिक जगत् में समान रूप से व्याप्त है। 'हे भिक्षुओ! संसार में जो कुछ है, क्षणिक है; यह दुःख की बात है या सुख की?' भिक्षुओं ने उत्तर दिया कि सचमुच यह दुःख की बात है। दुःख और क्षणभंगुरता एक ही चीज़ हैं। जिस वस्तु को हम बड़े प्रयत्न से प्राप्त करते हैं, वह क्षण भर से अधिक नहीं ठहरती। पानी में बुद्बुदों के समान हमारे हृदय में वासनाएं उठती हैं और जल हो जाती हैं। सब कुछ दुःखमय है, क्योंकि सब कुछ क्षणिक है, निर्वाण में ही शांति है।[1]

दुःख का कारण

'प्रतीत्यसमुत्पाद' का सिद्धांत विश्व की क्षणभंगुरता की दार्शनिक व्याख्या है। कारण के बिना कार्य नहीं हो सकता। कार्य को उत्पन्न किए बिना कारण भी नहीं रह सकता। संसार में जो कोई भी घटना होती है उस का कारण होता है; इसी प्रकार संसार की कोई घटना किसी दूसरी घटना को उत्पन्न किए बिना नहीं रह सकती। एक चीज़ के होने से दूसरी चीज़ होती है। यही 'प्रतीत्यसमुत्पाद' का मूलार्थ है। दुःख का स्रोत क्या है, अथवा दुःख की उत्पत्ति कैसे होती है? दुःख कार्य-कारण श्रृंखला की

प्रतीत्यसमुत्पाद या पटीच्चसमुप्पाद

[1] सर्वमनित्यं, सर्वमनात्मं, निर्वाणं शांतम् और सर्वक्षणिकम्, क्षणिकम्, सर्वं-दुःखं दुःखम्।

एक कड़ी है। यह शृंखला अविद्या से शुरू होती है और दुःखानुभूति में उस का पर्यवसान होता है। अविद्या से जरा-मरण और दुःख तक प्रसरित होनेवाली शृंखला में बारह कड़ियां हैं जिन्हें 'निदान' कहते हैं।

पहली कड़ी अविद्या है। अविद्या से संस्कार उत्पन्न होते हैं। यहां संस्कार का अर्थ मानसिक धर्म समझना चाहिए। संस्कारों से विज्ञान अर्थात् संज्ञा या चैतन्यानुभूति उत्पन्न होती है। यह विज्ञान या चेतना प्राचीन और नवीन को जोड़ती है।[1] मृत्यु के बाद भी यह शेष रहती है, इस का अंत निर्वाण में ही होता है। चौथी कड़ी का नाम 'नामरूप' है जिस का तात्पर्य मन और शरीर से है। यह व्याख्या मिसेज् रिज़् डेविड्स की है।[2] यामाकामी के अनुसार गर्भ की विशेष अवस्था का नाम 'नाम रूप' है। 'रत्नप्रभा' (शांकरभाष्य की टीका) और 'भामती' का भी यही मत है। नामरूप से षडायतन अर्थात् इंद्रियों की उत्पत्ति होती है। इंद्रियों के द्वारा ही हमारा बाह्यजगत् से संबंध होता है, इस संबंध को ही 'स्पर्श' कहते हैं जो छठवीं कड़ी है। इस स्पर्श से वेदना उत्पन्न होती है। वेदना से तृष्णा का आविर्भाव होता है, जो उपादान या आसक्ति का कारण होती है। इस आसक्ति के कारण ही 'भव' होता है। भव जाति का कारण है। वाचस्पति मिश्र 'भव' का अर्थ धर्माधर्म करते हैं।[3] चंद्रकीर्ति की व्याख्या भी ऐसी ही है। 'भव' उन कर्मों को कहते हैं जो जाति या जन्म का कारण होते हैं। जाति या जन्म के बाद जरा-मरण (वृद्धावस्था और मृत्यु) का आना अनिवार्य है। जरा और मरण दुःखमय हैं, इस में किसे संदेह हो सकता है। इन बारह निदानों में कुछ का संबंध जो व्यक्ति के अतीत से हैं और कुछ का उस के भविष्य से। नीचे हम इन निदानों

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४१४ [2] यामाकामी, पृ० ७८

[3] शां० भा० २। २। १९

की तालिका देते हैं।[1]

क—जिन का संबंध अतीत से है:	१. अविद्या २. संस्कार
ख—जिन का संबंध वर्तमान जीवन से है:	३. विज्ञान ४. नामरूप ५. षडायतन ६. स्पर्श ७. वेदना ८. तृष्णा ९. उपादान
ग—जिन का संबंध भविष्य जीवन से है:	१०. भव ११. जाति १२. जरामरण, दुःख

इस प्रकार हम देखते हैं कि मानवी दुःखों का मूल कारण अविद्या है। अविद्या व्यक्ति के बिना नहीं रह सकती और व्यक्तित्व अविद्या पर अवलंबित है। इस प्रकार अविद्या और व्यक्तित्व या व्यक्तिता में अन्योन्याश्रय संबंध है। निर्वाण की प्राप्ति के लिए व्यक्तित्व का निःशेष होना आवश्यक है। अविद्या के दूर हुए बिना व्यक्तित्व अथवा अहंता का विलय संभव नहीं है। अब हम बौद्धधर्म में 'व्यक्तित्व किसे कहते हैं' इस की खोज करेंगे।

हम कह चुके हैं कि विश्व की क्षणभंगुरता ने बुद्ध के मस्तिष्क पर गहरा प्रभाव डाला था। संसार में कुछ भी स्थिर नहीं है, प्रत्येक घटना, प्रत्येक पदार्थ अपने समान ही क्षणिक कार्यों को उत्पन्न कर के स्वयं नष्ट

[1]राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४११

हो जाता है। इस का अर्थ यह है कि संसार का कोई एक स्थिर कारण नहीं है। एक विकारहीन ईश्वर की कल्पना, जो सब परिवर्तनों से अलग रहते हुए भी इन का कारण बन सके, दर्शनशास्त्र को ग्राह्य नहीं हो सकती। इसी प्रकार एक अपरिवर्तनीय स्थिर आत्मतत्व को मानना भी, जो कि शारीरिक और मानसिक क्रियाओं का कर्ता बन सके, असंगत है। मनुष्य के व्यक्तित्व में ऐसी कोई चीज़ नहीं है जो बदल न रही हो। हमारे शरीर में प्रतिक्षण परिवर्तन होता रहता है। हमारे मानसिक विचार और मानसिक अवस्थाएं भी बदलती रहती हैं। किसी भी व्यक्ति का जीवन, चाहे हम शारीरिक दृष्टिकोण से देखें या उस के बौद्धिक अथवा रागात्मक स्वरूप पर दृष्टिपात करें, किन्हीं दो क्षणों में एक-सा नहीं रहता। बौद्ध-दर्शन गीता के स्थिर आत्मतत्व की सत्ता को मानने से इन्कार करता है।

नैरात्म्यवाद

भारतीय दार्शनिकों ने इस सिद्धांत को नैरात्म्यवाद का नाम दिया है। बौद्ध लोग व्यक्तित्व को एक इकाई न मान कर समूहात्मक मानते हैं। यह ठीक है कि हमारे जीवन और व्यक्तित्व में एक प्रकार की एकता पाई जाती है जिस के कारण मोहन और सोहन जन्म भर अलग-अलग व्यक्ति रहते हैं; परंतु यह एकता विकासशील एकता है। व्यक्तित्व के जो तत्व एकता के सूत्र में पिरोए जाते हैं उन के समान ही वह सूत्र भी अपना स्वरूप बदलता रहता है। बौद्धों का यह सिद्धांत आधुनिक मानस-शास्त्र या मनोविज्ञान के बहुत कुछ अनुकूल है। पाँच स्कंधों के समवाय अथवा समन्वय (सिन्थेसिस) को ही व्यक्तित्व कहते हैं। इन पाँच स्कंधों के नाम रूपस्कंध, विज्ञानस्कंध, वेदनास्कंध, संज्ञास्कंध और संस्कारस्कंध हैं। विषय-सहित इंद्रियों को रूपस्कंध कहते हैं। रूपस्कंध के अतिरिक्त चारों स्कंध मनोमय सत्ताओं के द्योतक हैं। रूपादि विषयों के प्रत्यक्ष में जो अहमाकार बुद्धि होती है उसे 'विज्ञानस्कंध' कहते हैं। प्रिय, अप्रिय,

सुख, दुःख आदि के अनुभव को 'वेदनास्कंध' कहते हैं। यह कुंडल है, यह गौ है, यह ब्राह्मण है—इस प्रकार के अनुभव को संज्ञास्कंध कहते हैं। यह वाचस्पति मिश्र की व्याख्या है। मस्तिष्क में इंद्रियों के अनुभव और सुख-दुख आदि के जो चिह्न रह जाते हैं उन्हें संस्कारस्कंध कहते हैं। इस प्रकार बौद्धों का व्यक्तित्व-संबंधी मत विश्लेषण-प्रधान है। व्यक्तित्व की यह व्याख्या आधुनिक मनोविज्ञान की व्याख्या से आश्चर्य-जनक समता रखती है। आजकल के मनोवैज्ञानिक व्यक्तित्व को तीन प्रकार की क्रियाओं का संश्लिष्ट रूप मानते हैं। यह क्रियाएं संवेदन, संकल्प, और विकल्प हैं। इन के अतिरिक्त आत्मा में मानसशास्त्र के विचारकों का विश्वास नहीं है।

'मिलिंदप्रश्न' नामक संवाद-ग्रंथ में नैरात्म्यवाद की व्याख्या बड़े सुंदर ढंग से की गई है।[१] ग्रीक राजा मिनेंडर या मिलिंद नागसेन नाम के बौद्ध भिक्षु के पास गया। कुछ बातचीत के बाद राजा ने नागसेन से पूछा—'आप कहते हैं हमारे व्यक्तित्व में कोई स्थिर चीज़ नहीं है, तो यह कौन है जो संघ के सदस्यों को आज्ञा देता है, जो पवित्र जीवन व्यतीत करता है, जो सदैव ध्यान और उपासना में लगा रहता है? कौन निर्वाण प्राप्त करता है और कौन पाप-पुण्य करके उन का फल भोगता है? आप कहते हैं कि संघ के सदस्य आप को नागसेन कहते हैं। यह नागसेन कौन है? क्या आप का मतलब है कि सिर के बाल नाग-सेन हैं?'

'मैं ऐसा नहीं कहता, राजन्।'

'फिर क्या यह दाँत, यह त्वचा, यह मांस, यह नाड़ियां, यह मस्तिष्क—यह नागसेन है?'

नागसेन ने उत्तर दिया—'नहीं'

---

१ राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ३९१-९२

'क्या यह बाहर का आकार नागसेन है ? क्या वेदनाएं नागसेन हैं ? अथवा संस्कार नागसेन हैं ?'

नागसेन ने कहा—'नहीं'

'तो क्या इन सब वस्तुओं को मिला कर नागसेन कहते हैं अथवा इन से बाहर कोई चीज़ है जिस का नाम नागसेन है ?'

नागसेन ने वही पुराना उत्तर दुहरा दिया।

राजा ने झुँझलाहट के स्वर में कहा—'तो फिर नागसेन कहीं नहीं है। नागसेन एक निरर्थक ध्वनिमात्र, है फिर यह नागसेन कौन है, जिसे हम अपने सम्मुख देखते हैं ?'

अब नागसेन ने प्रश्न करना शुरू किया। 'राजन् ! क्या आप पैदल आए हैं ?'

'नहीं, मैं पैदल नहीं आया, रथ में आया हूं।'

'आप कहते हैं कि आप पैदल नहीं आए, रथ में आए हैं। तब तो आप जानते होंगे कि 'रथ' क्या है। क्या यह पताका रथ है ?'

मिलिंद ने उत्तर दिया—'नहीं'

'क्या यह पहिए रथ हैं अथवा यह धुरी रथ है ?'

राजा ने उत्तर दिया—'नहीं'

'तो क्या यह रस्सियां रथ हैं, अथवा यह कशा (कोड़ा) रथ है ?'

राजा ने इन सब के उत्तर में कहा—'नहीं'

'फिर क्या इस के यह सब हिस्से रथ हैं ?'

मिलिंद ने कहा—'नहीं'

तब नागसेन ने पूछा—'क्या इन अवयवों के बाहर कोई चीज़ है जो रथ है ?'

राजा ने स्तंभित होकर कहा—'नहीं'

'तो फिर रथ नाम की कोई चीज़ नहीं है। राजन्, क्या आप झूठ बोले थे ?'

मिलिंद ने कहा—'श्रद्धेय भिक्षु, मैं झूठ नहीं बोला। धुरी, पहिए, रस्सी आदि सब के सहित होने पर ही लोग इसे 'रथ' कहते हैं।'

इस पर नागसेन ने कहा—'राजन्, तुम ने ठीक समझा। धुरी, पहिए, रस्सियों आदि के संघातविशेष का नाम ही रथ है। इसी प्रकार पाँच स्कंधों के संघात के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है।'

इस संवाद में नैरात्म्यवाद के भौतिक और आध्यात्मिक दोनों पक्षों को स्पष्ट कर दिया गया है। रथ-ज्ञान उतना ही सत्य या झूठ है जितना कि आत्मज्ञान। एक स्थिर आत्मा में विश्वास करना उतना ही असंगत है जितना कि अवयवों के अतिरिक्त रथ की सत्ता में आग्रह रखना।

क्षणिकवाद की आलोचना—पुनर्जन्म

बौद्धदर्शन को छोड़ कर भारतवर्ष के सारे दर्शन आत्मा की सत्ता में विश्वास रखते हैं। चार्वाक और दो चार अन्य नास्तिक दार्शनिकों को छोड़ कर सब दर्शनों के शिक्षक पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत को मानते हैं। यदि सच-मुच, जैसा कि बौद्ध कहते हैं, कोई स्थिर आत्म तत्व नहीं है तो अच्छे-बुरे कर्मों के लिए उत्तरदायी कौन है? पाप-पुण्य का फल कौन भोगता है? पुनर्जन्म किस का होता है? यदि पुनर्जन्म और कर्मफल को न मानें तो संसार के प्राणियों के जन्मगत भेदों की व्याख्या नहीं हो सकती। कुछ व्यक्ति जन्म से ही धन, स्वास्थ्य और अधीत माता-पिता का दुलार और चिंता लेकर उत्पन्न होते हैं, कुछ जन्म से ही कंगाल और दुर्बल तथा अशिक्षित मा-बाप के पुत्र होते हैं। इस का कारण क्या है? यदि किए हुए कर्म का फल नहीं मिलता, यदि अपने कर्मों के शुभ और अशुभ परिणामों से हम बच सकते हैं, तो कर्तव्याकर्तव्य की शिक्षा और धर्मशास्त्रों के उपदेश व्यर्थ हैं।

'आत्मा को न मानने पर पुनर्जन्म की व्याख्या नहीं हो सकती' इस तर्क को बौद्धों के प्रतिपक्षी अकाट्य मानते हैं। वास्तव में पुनर्जन्म की समस्या बौद्धों के लिए नई कठिनाई नहीं है। जो बौद्ध मृत्यु से पहले

ही आत्मसत्ता स्वीकार नहीं करते, उन से यह आशा करना कि वे मृत्यु के बाद बच रहनेवाली आत्मा को मानेंगे, दुराशा है। मरने से पहले या मरने के बाद किसी समय भी बौद्ध लोग आत्मा का होना स्वीकार नहीं करते। अगर कोई भी क्रिया बिना स्थिर कर्ता के हो सकती है तो स्थिर आत्मतत्त्व को माने बिना पुनर्जन्म भी हो सकता है। श्री आनंदकुमार-स्वामी ने अपने 'बुद्ध और बौद्धधर्म का संदेश' नामक ग्रंथ में बौद्ध-साहित्य के एक प्रसिद्ध रूपक की ओर ध्यान दिलाया है।[१] बौद्धदर्शन में आत्मा की बार-बार दीपक की शिखा से उपमा दी जाती है। जब तक दीपक जलता रहता है तब तक उस की शिखा या लौ एक मालूम पड़ती है, लेकिन वास्तव में वह शिखा नए ईंधन के संयोग से प्रतिक्षण बदलती रहती है। दीपक की शिखा एक ईंधन-संघात से दूसरे ईंधन-संघात में संक्रांत हो जाती है। इसी प्रकार आत्मा की एकता एक क्षण के स्कंध-संघात से दूसरे क्षण के स्कंध-संघात में संक्रांत हो जाती है। यदि यह एकता मनुष्य के जीवन में किसी प्रकार अक्षुण्ण रह सकती है तो यह कल्पना कठिन नहीं है कि वह एक जीवन से दूसरे जीवन तक भी अविच्छिन्न भाव से बनी रहे। एक जीवन के मृत्यु-क्षण और दूसरे जीवन के जन्म-क्षण में किन्हीं दो क्षणों की अपेक्षा अधिक अंतर नहीं है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पुनर्जन्म की समस्या बौद्ध दार्शनिकों के लिए कोई नई समस्या नहीं है। सवाल यह है कि क्या क्षणिकवाद को मानकर एक ही जीवन के विभिन्न क्षणों की एकता को समझाया जा सकता है? श्री शंकराचार्य ने वेदांत सूत्रों के भाष्य में बौद्धमत का विस्तार से खंडन किया है। वे कहते हैं कि बौद्ध-दर्शन में समुदाय-भाव की सिद्धि नहीं हो सकती।[२] अणुओं के समूह को भौतिक जगत में और मानसिक अवस्थाओं को आध्यात्मिक जगत में एकता के सूत्र में पिरोने वाला कौन है? जिन अणुओं या मानसिक तत्त्वों अथवा स्कंधों का

[१] पृ० १०६

[२] वेदांतसूत्र २।२।१८

एकीकरण या समन्वय अपेक्षित है वे जड़ हैं, क्योंकि चेतना या चैतन्य इस एकीकरण का परिणाम है, उस के बाद की चीज है, न कि पहले की। बिना स्थिर चेतन-तत्त्व के मानसिक तत्त्वों का एकत्रीकरण कौन कर सकता है[1] और बिना एकत्रीकरण के चैतन्य की शिखा कैसे प्रज्वलित हो सकती है?

जिन मनस्तत्त्वों के मेल को तुम आत्मा कहते हो, उन मनस्तत्त्वों का मेल आत्म-सत्ता को पहले से मौजूद माने बिना नहीं हो सकता।

यदि मानसिक परिवर्तनों में स्थिर रहनेवाली आत्म-सत्ता न हो, तो स्मृति (याद करना) और प्रत्यभिज्ञा (पहचानना) दोनों ही न हो सकें। 'मैंने इस चीज़ को कल देखा था और आज फिर देखता हूं' यह ज्ञान होने के लिए आवश्यक है कि (१) जिस चीज़ को मैं 'वही' कह कर पहचानता हूं वह कल से आज तक स्थिर रही हो; (२) मेरे व्यक्तित्व में भी कल से आज तक किसी प्रकार की एकता रही हो। यदि कल किसी दूसरे ने देखा था तो आज कोई दूसरा स्मरण नहीं कर सकता; स्मरण तभी संभव है जब स्मरणकर्ता क्षणिक न होकर कुछ काल तक ठहरने वाला हो। इसी प्रकार पहचानी जानेवाली वस्तु में भी स्थिरता होनी चाहिए। यदि कहो कि 'वही' समझ कर पहचानी जानेवाली वस्तु वास्तव में 'वही' नहीं होती बल्कि पहली वस्तु के सदृश दूसरी वस्तु होती है, तो ठीक नहीं। क्योंकि सादृश्य को देखनेवाले स्थायी कर्ता की आवश्यकता फिर भी रह जाती है।[2]

क्षणिकवाद को मानने पर दंड और पुरस्कार की व्यवस्था नहीं हो सकती। जिस ने चोरी की थी वह क्षणिक होने के कारण नष्ट हो गया; अब जिसे दंड दिया जा रहा है वह दूसरा व्यक्ति है। पहले कर्ता के कर्मों का उत्तरदायित्व इस सज़ा पानेवाले पर कैसे हो सकता है? यह स्पष्ट है कि क्षणिकवाद को मान कर 'कर्म अपना फल अवश्य देते हैं' यह सिद्धांत

---

[1] स्थिरस्य संहन्तु रनभ्युपगमात्।

[2] स्याच्चेत्पूर्वोत्तरयोः क्षणयोः सादृश्यस्य गृहीतैकः।

व्यर्थ हो जाता है।

क्षणिकवाद को संसार के दार्शनिकों ने गंभीरता-पूर्वक कभी नहीं माना है। आधुनिक काल में फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां ने क्षणिकवाद को पुनरुज्जीवित किया है। उन के मत में भी संसार की सारी वस्तुएं प्रतिक्षण विकसित और वर्द्धित होती रहती हैं। बर्गसां के मत से बहुत लोगों को संतोष हुआ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। वास्तव में मानव-बुद्धि में स्थिरता, नित्यता और शाश्वत-भाव के प्रति एक विचित्र आकर्षण पाया जाता है जिसे दार्शनिक तर्क से हटाया नहीं जा सकता। शायद इसी कारण बुद्ध की आत्म-विषयक शिक्षा की अनेक व्याख्याएं की गई हैं और उन का वास्तविक सिद्धांत क्या था, इस विषय में मतभेद उत्पन्न हो गया है।

बुद्ध के आत्मा-संबंधी विचारों को प्राचीन और नवीन विद्वानों ने क्रमशः अभावात्मक, अनिश्चयात्मक और भावात्मक बतलाया है। प्रायः सारे ही प्राचीन हिंदू लेखकों ने बुद्ध की शिक्षा का अभावात्मक वर्णन करके खंडन किया है। संस्कृत में बौद्धों को 'वैनाशिक' या 'सर्ववैनाशिक' भी कहते हैं। इस का अर्थ यही है कि बौद्ध लोग आत्मा को नहीं मानते और सब वस्तुओं को क्षणिक अथवा विनाशशील मानते हैं।

बुद्ध की शिक्षा की अनेक व्याख्याएं[1]

अनिश्चयात्मक व्याख्या आधुनिक है। हमारा युग भी एक प्रकार से अनिश्चयवाद, संदेहवाद अथवा अज्ञेयवाद का युग कहा जा सकता है। इस 'वाद' का अभिप्रायः यही है कि हम संसार के चरम तत्वों का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं कर सकते। मानव-बुद्धि की भाँति मानव-ज्ञान भी अपूर्ण ही है और अपूर्ण ही रहेगा। इंगलैंड का प्रसिद्ध लेखक और दार्शनिक हर्बर्ट स्पेंसर चरम तत्त्व को अज्ञेय बतलाता था। जर्मनी के महादार्शनिक कांट का भी यही मत था। आधुनिक काल में 'क्रिटिकल रियलिज़्म' अर्थात् 'आलोचनात्मक यथार्थवाद' के समर्थक भी कुछ-कुछ ऐसा ही कहते

[1] देखिए राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ६७६

हैं। योरुप और अमेरिका में ईश्वर-संबंधी विश्वास तेज़ी से कम हो रहा है। स्थिर आत्मतत्व के पक्षपाती भी कम हैं। जिस में विकास और परिवर्तन नहीं होता ऐसी आत्मा का पुनर्जन्म माननेवालों का मत 'ऐनिमिज़्म' अभिहित किया जाता है, जो निंदात्मक शब्द है। 'आत्मा है या नहीं' इस विषय में 'अनिश्चय' का समर्थक होने के कारण आज बौद्धधर्म की प्रसिद्धि योरुप में बढ़ रही है।

इस व्याख्या के पक्ष में बहुत कुछ कहा जा सकता है। बुद्ध अक्सर अपने शिष्यों को आत्म-विषयक प्रश्नों से रोक देते थे। प्रायः वे ऐसे प्रश्नों को सुन कर मौन रह जाते थे। चरम-तत्व-संबंधी प्रश्नों पर उन के मौन रह जाने के विभिन्न अर्थ लगाए गए हैं। कुछ लोग कहते हैं कि बुद्ध का आत्मा में विश्वास न था। दूसरों का कथन है कि उन्हें आत्म-विषयक बोध न था और वे अनिश्चयवादी थे। सर राधाकृष्णन् ने इन दोनों मतों का खंडन किया है। यदि बुद्ध की शिक्षा अभावात्मक होती तो साधारण जनता पर उस का इतना प्रभाव नहीं पड़ता। सर राधाकृष्णन् कहते हैं—'यदि बुद्ध की शिक्षा अभावात्मक होती तो वे प्रारंभ में ही जटिल लोगों का, जो कि अग्निपूजक थे, मत-परिवर्तन न कर सकते।'

बुद्ध को अनिश्चयवादी भी नहीं कह सकते क्योंकि यदि ऐसा होता तो वे अपने को 'बुद्ध' अर्थात् 'बोध-प्राप्त' नहीं कहते। इस लिए बुद्ध के शिक्षा की भावात्मक व्याख्या करनी चाहिए।

'प्रज्ञा-पारमिता' पर टीका करते हुए नागार्जुन ने लिखा है कि भगवान् न तो 'उच्छेदवाद' के समर्थक थे, न 'शाश्वतवाद' के, अर्थात् न तो वे आत्मा के विनाश को ही मानते न उस की एकांत नित्यता को। इस का अर्थ यह है कि उन का मत जड़वादियों (चार्वाक आदि) और आत्मवादियों (उपनिषद्, जैनधर्म) आदि दोनों से भिन्न था। यहां अनिश्चयवादी और अभाववादी दोनों अपनी व्याख्या का समर्थन पाने की चेष्टा करते हैं। आश्चर्य की बात तो यह है कि बुद्ध अनेक स्थलों में अपने मत

को अनात्मवाद कहने से इन्कार करते हैं।

मिसेज़ रिज़ डेविड्स भी सर राधाकृष्णन् की भाँति आरंभिक बौद्ध-धर्म की भावात्मक व्याख्या की पक्षपातिनी हैं। अपनी 'बुद्धिज़्म, इट्स बर्थ एंड डिस्पर्सल' (१९३४) नामक पुस्तिका में उन्हों ने उद्धरण देकर यह सिद्ध करने की कोशिश की है कि बुद्ध ईश्वर और जीव दोनों की सत्ता में विश्वास रखते थे।

यदि वास्तव में बुद्ध आत्मा (और ईश्वर) को मानते थे तो उन की शिक्षाओं के विषय में प्राचीन लेखकों में भ्रम क्यों फैला? क्या कारण है कि न सिर्फ़ हिंदू विचारक बल्कि बुद्धघोष, नागसेन आदि बुद्ध के अनुयायी भी उन की शिक्षा को भावात्मक रूप न दे सके? वस्तुतः 'अनिश्चयात्मक' व्याख्या में बहुत कुछ सत्यता का अंश है। बुद्ध अपने युग के नैतिक वातावरण को सुधारना चाहते थे। लोग दार्शनिक वाद-विवाद में फँस कर अपने व्यक्तिगत चरित्र की सुधि को खो बैठे थे। बुद्ध जी का विश्वास था कि अपने चरित्र का सुधार और अपने चित्त की शुद्धि करने से ही वास्तविक कल्याण हो सकता है। उपनिषदों के समान ही उन का विश्वास था कि जो दुश्चरितों से विरत नहीं हुआ है, जिस का मन वश में नहीं है, वह आत्मबोध और आत्मलाभ के योग्य नहीं बन सकता। उन का यह भी विश्वास था कि चित्तशुद्धि और चरित्र-सुधार की नींव परिवर्तन-शील दार्शनिक सिद्धांतों पर नहीं रखनी चाहिए। 'आत्म है या नहीं' इस का निश्चय करने से पहले ही मनुष्य को अपने मन और इंद्रियों को दोषों से बचाने की कोशिश करनी चाहिए।

बौद्ध साधक के जीवन का लक्ष्य निर्वाण है। निर्वाण का अर्थ है—शांत हो जाना, ठंडा पड़ जाना, बुझ जाना।

निर्वाण

'अभिज्ञानशाकुंतल' में शकुंतला को देख कर दुष्यंत ने कहा—'अये, लब्धं नेत्र निर्वाणम्'—अर्थात् नेत्रों का निर्वाण पा लिया। कालिदास की इस पंक्ति में निर्वाण का जो अर्थ है, बौद्ध-निर्वाण

का अभिप्राय इस से अधिक भिन्न नहीं है। बुद्ध की आत्म-विषयक शिक्षा को लोगों ने ठीक-ठीक समझा हो या नहीं, इस में संदेह नहीं कि निर्वाण के विषय में काफ़ी भ्रम फैला हुआ है। बहुत से हिंदू और अहिंदू लेखकों ने भी निर्वाण का अर्थ व्यक्ति की सत्ता का पूर्णनाश अथवा शून्य में मिल जाना समझा है। ईसाई लेखकों ने निर्वाण के इस अर्थ पर बहुत ज़ोर दिया है। यदि वास्तव में निर्वाण का यही अर्थ होता तो भगवान् बुद्ध सैकड़ों मनुष्यों को निर्वाण का आकर्षक चित्र खींच कर अपना अनुयायी नहीं बना सकते। प्रो० मैक्समूलर और चाइल्डर्स ने निर्वाण-विषयक वाक्यों का सतर्क अनुशीलन करके यह परिणाम निकाला है कि निर्वाण का अर्थ कहीं भी 'विनाश' नहीं है। बौद्धों के दार्शनिक साहित्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि निर्वाण का अर्थ शून्य में मिल जाना नहीं है। नागार्जुन का कथन है—

न संसारस्य निर्वाणात् किंचिदस्ति विशेषणम्।
न निर्वाणस्य संसारात् किंचिदस्ति विशेषणम्।
न तयोरंतरं किंचिद् सुसूक्ष्ममपि विद्यते।

—माध्यमिक कारिका, २५। १९, २०

अर्थात् संसार में निर्वाण की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है, इसी प्रकार निर्वाण में संसार की अपेक्षा कोई विशेषता नहीं है। दोनों में अणु-मात्र भी भेद नहीं है।

श्री यामाकामी सोगेन उक्त उद्धरण पर टीका करते हुए कहते हैं कि बौद्धदर्शन ने यह कभी नहीं सिखाया कि निर्वाण संसार से अलग होता है।[1]

वास्तव में निर्वाण का अर्थ व्यक्तित्व के उन गुणों और बंधनों का नाश हो जाना है जो मनुष्य को भेद-भाव से अनुप्राणित कर स्वार्थ की ओर प्रवृत्त करते हैं। निर्वाण की अवस्था में मनुष्य की सारी वासनाएं, पृथ-

---

[1] 'सिस्टम्स अव् बुद्धिस्ट थाट', पृ० २३ [2] यामाकामी, पृ० ३३

-णाएं और आकांक्षाएं नष्ट हो जाती हैं। हिंदू दार्शनिकों ने जैसा वर्णन स्थितिप्रज्ञ और जीवन्मुक्त का किया है वैसा ही वर्णन निर्वाण-प्राप्त मनुष्य का पाया जाता है। निर्वाण का अर्थ विनाश नहीं, पूर्णता है। निर्वाण उस अवस्था को कहते हैं जिस में अहंता का नाश होकर मनुष्य को पूर्ण विश्वास, पूर्ण शांति, एवं संपूर्ण सुख की प्राप्ति होती है। नागसेन ने मिलिंद को समझाया—'पूर्व या पश्चिम में, दक्षिण या उत्तर में, ऊपर या नीचे, कोई ऐसा स्थान नहीं है जहां निर्वाण की स्थिति हो।'[1] निर्वाण का अर्थ है बुझ जाना। सारा संसार वासना की अग्नि से जल रहा है। इस अग्नि के बुझने का नाम निर्वाण है। जन्म, वृद्धावस्था और मृत्यु, राग और द्वेष और मोह की लपटों से त्राण पाने का नाम ही निर्वाण है। निर्वाण की अवस्था का वर्णन नहीं हो सकता। निर्वाण-प्राप्त मनुष्य साधारण मनुष्यों से भिन्न होता है। नागसेन ने रूपक की भाषा में निर्वाण का अर्थ करने की चेष्टा की है। निर्वाण में एक गुण कमल का है, दो जल के, तीन औषधि के, चार समुद्र के, पाँच भोजन के, दस वाणी के, इत्यादि। निर्वाण में दोषों का स्पर्श नहीं होता, उस में कमल के समान निर्लेपता होती है। जल की तरह वह शीतल है और दुर्वासनाओं की अग्नि को बुझाता है। समुद्र की तरह वह निस्सीम और गंभीर है, पहाड़ की चोटी की तरह वह उदात्त है। निर्वाण का अर्थ है—नित्यता, आनंद, पवित्रता और स्वतंत्रता।

बौद्धधर्म और ईश्वर

बुद्ध ने किसी ईश्वर की पूजा करने की शिक्षा नहीं दी। योग-दर्शन की तरह किसी पुरुष-विशेष का आश्रय लेने का उपदेश उन्हों ने कभी नहीं किया। 'आप ही अपना प्रकाश बनो, आप ही अपना आश्रय लो; किसी अन्य का आश्रय मत ढूँढो।' बाद के बौद्धधर्म में, महायान संप्रदाय में, ईश्वर का प्रवेश हो गया; इस का वर्णन हम आगे करेंगे।

---

[1] आनंदकुमारस्वामी, पृ० ११६

निर्वाण-प्राप्ति के साधन

आत्म-कल्याण के अभिलाषियों को सत्य श्रद्धा, सत्य-संकल्प, सत्य-वाणी, सत्य कार्य, सत्य जीवन, सत्य प्रयत्न, सत्य विचार और सत्य ध्यान वाला होना चाहिए। हरेक को अपना उद्धार आप करना है। किसी ईश्वर के अनुग्रह से मुक्ति नहीं मिल सकती। बुद्ध का देव भक्ति अथवा यज्ञों में विश्वास नहीं था। शिष्यों से विवाद करने के बाद वे कहते थे—'भिक्षुओ, तुम जो कुछ कह रहे हो वह तुम ने ख़ुद ही मान लिया है और ख़ुद ही समझ लिया है।'[1] बौद्धधर्म में इंद्रिय-निग्रह, शील और समाधि पर बहुत ज़ोर दिया है। शील के अंतर्गत सत्य, संतोष और अहिंसादि गुण आ जाते हैं। समाधि का अर्थ संसार की दुःखमयता और हेयता पर विचार करते रहना है। बुद्ध जी ने जैनियों की भाँति शरीर-पीड़न की शिक्षा कभी नहीं दी। शरीर को दुःख देने से आत्म-शुद्धि नहीं होती। साधना मानसिक होनी चाहिए, न कि शारीरिक। धम्मपद के प्रथम श्लोक में कहा है—

मनो पुब्बंगमा धम्मा:

अर्थात् सारे धर्म मनः-पूर्वक या मानसिक हैं। मन की शुद्धता ही यथार्थ शुद्धता है। 'जो पुरुष राग-द्वेष आदि कषायों (मलों) को बिना छोड़े काषाय वस्त्र को धारण करता है, वह संयम और सत्य से हटा हुआ है। वह उन वस्त्रों का अधिकारी नहीं है।'[2]

अहिंसा का पालन शारीरिक की अपेक्षा मानसिक अधिक है। 'वैर से वैर कभी शांत नहीं होता, अवैर से ही शांत होता है, यह सनातन नियम है।'[3] 'उस ने मुझे गाली दी, मुझे मारा, मुझे हरा दिया, मुझे लूट लिया—ऐसा जो मन में विचारते हैं, उन का वैर कभी शांत नहीं होता' (धम्म० १ । ३)।

'सांसारिक क्लेशों का मूल कारण अविद्या, अथवा अनित्य में नित्य

[1] मज्झिम निकाय, ३८ [2] धम्मपद, १ । ९ [3] वही, १ । ५

का ज्ञान है। इस लिए अविद्या को दूर करने का यत्न करना चाहिए।' 'स्त्री का मल दुराचार है, दाता का मल मात्सर्य है; पाप इस लोक और परलोक में मल है; मलों में सब से बड़ा मल अविद्या है। हे भिक्षुओ, इस महामल को त्याग कर निर्मल बनो'। (धम्म० १८। ८, ९)

बौद्धदर्शन का मनोवैज्ञानिक आधार

ऊपर कहा जा चुका है कि आरंभिक बौद्धधर्म की रुचि तत्व-दर्शन की अपेक्षा तर्क-शास्त्र, व्यवहार-शास्त्र और मानस-शास्त्र में अधिक थी। वास्तव में बौद्धों के तत्व-संबंधी और व्यावहारिक विचार उन के मनोवैज्ञानिक सिद्धांतों से घनिष्ठ संबंध रखते हैं। बौद्ध विचारकों ने व्यक्तित्व को 'नाम' और 'रूप' में विश्लेषित किया था। 'रूप' शब्द व्यक्तित्व के भौतिक आधार शरीर को बतलाता है, और 'नाम' मानसिक अवस्थाओं को।[1] नाम और रूप को ही पाँच स्कंधों में भी विभक्त किया गया था जिन का वर्णन ऊपर हो चुका है। बौद्ध दार्शनिक आत्मा का नाम न ले कर पंचस्कंधों की ओर ही संकेत करते हैं। विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार स्कंधों की आधुनिकता की ओर भी हम इंगित कर चुके हैं। इंद्रियों और विषयों के संयोग से विज्ञान (सेंसेशन) उत्पन्न होते हैं। विज्ञानों के प्रति भावात्मक प्रक्रिया को वेदना कहते हैं। इंद्रिओं के विषय पाँच प्रकार के हैं अर्थात् रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श। मानसिक जगत में 'संकल्प' या 'इच्छा-शक्ति' का विशेष स्थान है। 'प्रतीत्य-समुत्पाद' की व्याख्या में कहा जा चुका है कि स्पर्श अथवा इंद्रिय-विज्ञान से वेदना और तृष्णा उत्पन्न होती है। मन की दशा कभी एक-सी नहीं रहती। एक विज्ञान के बाद दूसरा विज्ञान आता रहता है। विज्ञानों के इस प्रवाह को 'विज्ञान-संतान' कहते हैं। इन के अतिरिक्त आत्मा का अनुभव किसी ने नहीं किया। स्काटलैंड के दार्शनिक ह्यूम का मत भी ऐसा ही था। उस का कहना है कि यदि हम अपने आंतरिक जीवन का सतर्क होकर निरीक्षण करें तो इंद्रिय-विज्ञानों,

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ४०१

वेदनाओं एवं इच्छाओं और संकल्पों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं दिखाई देता। अभिप्राय यह है कि आत्मा नाम की वस्तु की सत्ता अनुभव-सिद्ध नहीं है।

मानसिक संसार की तरह भौतिक जगत को भी बौद्ध लोग सतत प्रवाहशील अथवा प्रतिक्षण बदलने वाला मानते हैं। संसार में 'है' कुछ नहीं सब कुछ 'हो रहा' या 'बन रहा' है। कोई भी वस्तु दो क्षणों तक एक-सी नहीं रहती। इस प्रकार बौद्ध लोग भौतिक जगत की व्याख्या मानसिक जगत के आधार पर करते हैं।

बौद्ध मानस-शास्त्र में निःसंज्ञक मानसिक दशाओं को भी माना गया है। निःसंज्ञक से मतलब उन मानसिक दशाओं से है जो अननुभूत हैं, जिन का मानसिक निरीक्षण या अनुभव नहीं किया गया है। आधुनिक काल में वियना (आस्ट्रिया) के डाक्टर और मनोवैज्ञानिक फ़्रायड ने 'अंतश्चेतना' अथवा 'अव्यक्त चेतना' चित्त-प्रदेश पर बहुत ज़ोर दिया है। फ़्रायड का मत है कि हमारे वाह्य जीवन की क्रियाओं पर अंतर्जगत की निचली सतह में छिपी हुई गूढ़ वासनाओं का बहुत व्यापक प्रभाव पड़ता है।

हमारे संकल्पों और प्रयत्नों का स्रोत क्या है? बौद्ध मानस-शास्त्र का उत्तर है कि हमारे सारे प्रयत्न सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए होते हैं। जब तक मनुष्य संसार को दुःखमय नहीं समझ लेता तब तक उसे वैराग्य नहीं होता और वह स्वार्थ-साधन से विरत नहीं हो सकता।

बुद्ध की व्यावहारिक शिक्षा मनोविज्ञान के अनुकूल ही है। उन्हों ने जगह-जगह पाप और पुण्य की मानसिकता पर ज़ोर दिया है (मनः पूर्वंगमा धर्माः)। मन की शुद्धि ही वास्तविक शुद्धि है, मन की शांति ही जीवन की शांति है। हमारे वाह्य व्यापार अंतर्जगत के प्रतिबिंब मात्र हैं। चांद्रायण, कृच्छ्र, उपवास आदि से आत्मिक कल्याण नहीं हो सकता। यदि आप

वास्तविक अहिंसक बनना चाहते हैं तो हृदय की कटुता का त्याग कर दीजिए; दूसरों के अपकारों पर विचार करना छोड़ दीजिए; शत्रु को प्रेम करना सीखिए।

बुद्ध की व्यावहारिक शिक्षा वैयक्तिक है। उन्हों ने सामाजिक कर्तव्यों पर ज़्यादा ज़ोर नहीं दिया। यह कहना ग़लत है कि बुद्ध ने वर्ण-व्यवस्था का विरोध किया और उस विरोध का भारतीय इतिहास पर विशेष प्रभाव पड़ा। फिर भी यह ठीक है कि बुद्ध जन्म की अपेक्षा कर्मों को अधिक महत्त्व देते थे। 'न जटा से, न गोत्र से, न जन्म से ब्राह्मण होता है। जिस में सत्य और धर्म है वही शुचि है, वही ब्राह्मण है।' (धम्म०, २६। ११)

यस्य कायेन वाचाय मनसा नत्थि दुक्कतं
संवुतं तिहि ठानेहि तमहं ब्रूमि ब्राह्मणम् (२६। ६)

'जो मन, वचन और वाणी से पाप नहीं करता, जो इन स्थानों में संयम रखता है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूं।' 'माता की योनि से उत्पन्न होने से मैं किसी को ब्राह्मण नहीं कहता, वह तो 'भो-वादी' और अहंकारी है, वह तो संग्रह-शील है। मैं उसे ब्राह्मण कहता हूं जो अपरिग्रही है और लेने की इच्छा न रखने वाला है।' (धम्म० २६। १४)

बुद्ध की सफलता

बुद्ध की सफलता का अनुमान इसी से किया जा सकता है कि उन की मृत्यु के दो-ढाई सौ वर्ष बाद ही बौद्ध-धर्म भारत का साम्राज्य-धर्म बन गया। एक हजार वर्ष से फैले हुए ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव को इस प्रकार कम कर देना बौद्धधर्म का ही काम था। तलवार लेकर प्रचार करनेवाले इस्लाम और ईसाई धर्मों को भी ऐसी सफलता नहीं मिली। इस का क्या कारण था?

बुद्ध ने कभी ईश्वर की दुहाई नहीं दी। संसार के दूसरे पैग़ंबरों की तरह उन्हों ने अपने उपदेशों के लिए ईश्वरीय या स्वर्गीय होने का दावा नहीं किया। उन्हों ने अपने श्रोताओं को स्वर्ग की अप्सराओं का लोभ भी नहीं दिखाया। जो मेरे अनुयायी बनेंगे उन पर ईश्वर या कोई और देवता

अनुग्रह करेगा, ऐसा भी उन्हों ने नहीं कहा। अंध-विश्वास का उन्हों ने सर्वत्र विरोध किया। उन्हों ने सदैव आत्म-निर्भरता (सेल्फ़-डिपेंडेंस) की शिक्षा दी। "पाप करनेवाले को नदी का जल पवित्र नहीं कर सकता।" गंगा में एक ग़ोता लगा लेने से स्वर्ग-प्राप्ति का लालच उन्हों ने कभी नहीं दिखलाया। फिर क्यों लोगों ने लालयित होकर उन के उपदेशों को सुना? क्यों लाखों नरनारी उन के अनुयायी बन गए?

बुद्ध की सफलता का सब से बड़ा कारण उन का व्यक्तित्व था। बार्थ ने लिखा है—"हमें अपनी कल्पना के सामने एक सुंदर मूर्ति खड़ी कर लेनी चाहिए······शांत और उदात्त; अनंत-करुणामय, स्वतंत्र-बुद्धि और पक्षपात-रहित।" वाद-विवादों और सांप्रदायिक झगड़ों में फँसी हुई मानव-जाति को बुद्ध ने सार्वभौम भ्रातृभाव की शिक्षा दी। उन्हों ने कट्टरता का विरोध किया और सहानुभूति का पाठ पढ़ाया। उन के समता-पूर्ण सच्चे हृदय से निकले हुए उद्गार लोगों के हृदय पर सीधा प्रभाव डालते थे। संघ की स्थापना भी बौद्धधर्म के उत्कर्ष का कारण हुई। संघ ने भिक्षुओं के जीवन में नियंत्रण (डिसिप्लिन) ला दिया, जिस का जनता पर बहुत प्रभाव पड़ा।

परंतु बुद्ध की सफलता का सब से बड़ा कारण उन के मुख-मंडल में प्रतिफलित होनेवाली सार्वभौम समवेदना थी, जो दर्शकों को बरबस आकर्षित कर लेती थी और जिस की स्मृति उन के प्रचारकों को बहुत काल तक उत्साह प्रदान करती रही।

द्वितीय भाग

उपोद्घात

दर्शन शास्त्रों का उदय

षड्दर्शनों के उदय का मुख्य कारण वैदिक विचारों का वह विरोध था जो कि बौद्ध, जैन, और जड़वादी विचारकों ने किया। सांप्रदायिक शिक्षक और प्रचारक प्रायः इस तथ्य को भूल जाते हैं कि मतभेद या विरोध के बिना उन्नति नहीं हो सकती। कम से कम विचार-क्षेत्र में—और संसार की सभी महत्त्वपूर्ण सामाजिक एवं राजनैतिक संस्थाओं का संबंध विशेष युगों के विचारों से होता है—तर्कपूर्ण आलोचना के बिना उन्नति की आशा नहीं की जा सकती। आलोचना का हंटर खाकर प्रत्येक मत अपने सिद्धांतों को व्यवस्थित, श्रृंखलित और संगति-पूर्ण बनाने की चेष्टा करता है। ऊपर कहा जा चुका है कि उपनिषदों के उत्तर-काल में और उस के कुछ बाद भारत का वायुमंडल विविध प्रकार के विचार-झोंकों से आंदोलित होने लगा था। भगवद्गीता ने विरोधी आस्तिक विचारों में सामंजस्य स्थापित करने की कोशिश की, लेकिन मतभेद की खाइयां बढ़ती ही गई और उन का परिणाम षड्दर्शनों का ग्रथन हुआ।

'दर्शन' का अर्थ

साधारण भाषा में 'दर्शन' का अर्थ 'देखना' होता है। दार्शनिक प्रक्रिया का उद्देश्य समस्त ब्रह्मांड को एक साथ देखना अथवा 'संपूर्ण-दृष्टि' प्राप्त करना कहा जा सकता है। भिन्न-भिन्न विज्ञान अथवा शास्त्र विश्व-ब्रह्मांड का आंशिक अध्ययन करके, जगत को किसी विशेष दृष्टिकोण से देख कर, संतुष्ट हो जाते हैं। परंतु दार्शनिक विचारक संसार की किसी घटना का निरादर नहीं कर सकता। वह विश्व को सब पहलुओं से देखना और समझना चाहता है। वह फूलों के रंग अथवा गंध अथवा पराग और केसर-

को ही नहीं देखता; वह उस के सौंदर्य और मोहकता पर भी ध्यान देता है। प्रकृति सुंदर क्यों लगती है ? इस प्रश्न का उत्तर कवि से नहीं, दार्शनिक से माँगना चाहिए। वस्तुतः सौंदर्य का दार्शनिक विश्लेषण प्राचीन दार्शनिकों ने नहीं किया, यह उन की कमी थी। आजकल के दर्शनशास्त्र में सौंदर्य-विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाता है।

संस्कृत के दर्शन शास्त्रों का नाम लेते समय हमें दर्शन के इस व्यापक अर्थ को संकुचित करना पड़ता है। 'न्याय-दर्शन' का अर्थ वह दृष्टि या 'विश्व-संबंधी सिद्धांत' हैं जो किसी ऋषि और उस के अनुयायियों ने मनन करके प्राप्त किए। प्रत्येक दार्शनिक की 'संपूर्ण दृष्टि' या 'संपूर्णता की दृष्टि' औरों की दृष्टि से कुछ अलग होती है। विश्व-ब्रह्मांड को सब एक ही तरह नहीं देखते। विभिन्न ऋषियों और विचारकों की इन्हीं 'दृष्टियों' का वर्णन विभिन्न शास्त्रों में है।

दर्शन-शास्त्रों के प्रणेता

परंतु इस का अर्थ यह है नहीं समझना चाहिए कि एक दर्शन-शास्त्र एक ही व्यक्ति की रचना है। इस का अर्थ तो यह होगा कि भारतीय इतिहास में दस-बारह आस्तिक और नास्तिक विचारकों से ज़्यादा पैदा नहीं हुए। यथार्थ बात यह है कि जहां प्रत्येक मनुष्य का व्यक्तित्व अलग होता है वहां विभिन्न व्यक्तियों में समता भी पाई जाती है। यदि ऐसा न होता तो संसार में मतभेद का अंत न होता और समाज की सत्ता असंभव हो जाती। सामाजिक संस्थाओं का आधार मनुष्यों के पारस्परिक भेदों के पीछे पाई जानेवाली एकता ही है। यह एकता कितनी तात्विक है और कितनी आकस्मिक, है इस का निर्णय करना भी दर्शन-शास्त्र का ही काम है। जिन्हें हम दर्शन-शास्त्र कहते हैं उन में से प्रत्येक का पूर्ण प्रणयन और पुष्टि सहस्रों विचारकों एवं लेखकों द्वारा हुई है। भारत में ऐसा होने का कारण यहां के विचारकों में यश-लोलुपता का अभाव था। यहां पर शंकर, रामानुज, वाचस्पति जैसे धुरंधर दार्शनिकों ने भी अपने को टीकाकार कह कर संतोष

कर लिया और मौलिक होने का दावा नहीं किया। इस प्रकार भारतीय दर्शनशास्त्रों की रचना का श्रेय व्यक्ति-विशेषों को न होकर संपूर्ण हिंदू जाति को प्राप्त हो गया है।

दर्शनशास्त्रों की आलोचनात्मक शैली—प्रमाण-परीक्षा

भारतीय मस्तिष्क के आलोचनात्मक होने का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि यहाँ के दर्शनों में 'प्रमाण-परीक्षा' को सर्वप्रथम स्थान दिया गया है। न्याय-दर्शन में प्रमाणों का वर्णन बड़े विस्तार से किया गया है। वेदांत-परिभाषा जैसे आधुनिक ग्रंथों में भी यही बात पाई जाती है। योरुप के दार्शनिकों ने प्रमाण-शास्त्र का महत्त्व बहुत पीछे जाना। जर्मन दार्शनिक कांट ने अपनी 'क्रिटीक आव् प्योर रीज़न' में पहली बार यह प्रश्न उठाया—क्या तत्त्व-पदार्थ या पदार्थों का दार्शनिक विवेचन संभव है? हम क्या जान सकते हैं और किस हद तक जान सकते हैं; हमारे ज्ञान की सीमा है या नहीं; ज्ञान के सच्चे और झूठे होने की परीक्षा कैसे हो, आदि प्रश्नों का विवेचन दर्शन-शास्त्र की एक विशेष शाखा में होता है। अंग्रेज़ी में इस शाखा को 'एपिस्टेमालोजी' कहते हैं। संस्कृत में यह शाखा कई अंगों में विभक्त है। इस शास्त्र के, भारतीय मत में, मुख्य प्रश्न यह हैं :—

१—प्रमाण अथवा ज्ञान-प्राप्ति के साधन क्या हैं और कितने हैं? इस विषय की आलोचना को 'प्रमाण-परीक्षा' कहते है।

२—ज्ञान की प्राप्ति और प्राप्ति के बाद प्रामाण्य का ज्ञान एक ही साधन से होता है या भिन्न-भिन्न साधनों से? इस विचार को 'प्रामाण्य वाद' कहते हैं। प्रामाण्यवाद पर नैयायिकों और मीमांसकों में बड़ी कलह रही है। यह दर्शनशास्त्र की टेढ़ी खीर है। आधुनिक योरपीय दार्शनिकों में भी इस विषय में कठिन मत-भेद है।

३—ज्ञान का स्वरूप क्या है? ज्ञान आत्मा का गुण है या आत्मा का स्वरूप ही है? इस विचारणा को 'संवित्-शास्त्र' कह सकते हैं। संविद् का अर्थ है ज्ञान। इस विवाद में मुख्य प्रतिपक्षी नैयायिक और वेदांती है।

भारतीय दर्शनशास्त्र में प्रमाण एक से लेकर आठ तक माने गए हैं।

प्रमाणों की संख्या

चार्वाक केवल प्रत्यक्ष प्रमाण मानता है; बौद्ध लोग अनुमान को भी मानते हैं; आस्तिक विचारक श्रुति या शब्द की गिनती भी प्रमाणों में करते हैं। नैयायिकों ने उपमान को अलग प्रमाण माना है। प्रभाकर और कुमारिल अर्थापत्ति नाम का अलग प्रमाण मानते हैं, इत्यादि। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि भारतीय दार्शनिक प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द, यह तीन प्रमाण मानते हैं।

इंद्रिय-जन्म ज्ञान को प्रत्यक्ष कहते हैं जैसे रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि का ज्ञान। व्याप्ति-जन्य ज्ञान अनुमान कहलाता है। यथार्थ-वादी आप्त के वाक्य को शब्द-प्रमाण कहते हैं। सारे आस्तिक विचारक श्रुति अर्थात् वेद को प्रमाण मानते हैं। तथापि पूर्व-मीमांसा और वेदांत में श्रुति का विशेष महत्त्व है। न्याय और वैशेषिक तो नाममात्र को ही श्रुति के अनुयायी हैं। उन के परमाणुवाद जैसे महत्वपूर्ण सिद्धांतों का मूल श्रुतियों अर्थात् उपनिषदों में नहीं पाया जाता। यहां दो बातें ध्यान में रखनी चाहिए। एक यह कि आस्तिक का अर्थ, भारतीय दर्शन-शास्त्र में, श्रुति को माननेवाला है। दूसरे श्रुति से तात्पर्य प्रायः उपनिषदों से होता है। वेद के संहिता-भाग का दार्शनिक क्षेत्र में विशेष महत्त्व नहीं है। आरंभ में शब्द-प्रमाण से तात्पर्य श्रुतियों से ही था। बाद को किसी भी 'यथार्थवक्ता' के वाक्य को शब्द-प्रमाण कहा जाने लगा।

यहां प्रश्न यह उठता है कि क्या दर्शनशास्त्र में शब्द को प्रमाण मानना उचित है? जो ग्रंथ और जो व्यक्ति एक के लिए आप्त हैं वे दूसरे के लिए अनाप्त या अप्रमाण हो सकते हैं। आप्तता का निर्णय करने की हमारे पास कोई कसौटी नहीं है। योरपीय दार्शनिकों ने, कम से कम आज-कल के स्वतंत्रचेता विचारकों ने, शब्द को प्रमाण न मान कर उसे विचार-स्वातंत्र्य में बाधक माना है। इस के विपरीत भारतीय विचारकों ने

ऋषियों के कथन को सदैव महत्त्व दिया है। इस विरोध के वातावरण में हमें शब्द-प्रमाण की उपयोगिता पर कुछ गंभीरता से विचार करना चाहिए।

'शब्द' का व्यवहार दो अर्थों में होता है। शब्द उस ध्वनि को कहते हैं जो कानों से सुनाई देती है और जिसे नैयायिक आकाश का गुण बताते हैं। दर्शन-शास्त्र में शब्द-प्रमाण का इन ध्वनियों से विशेष संबंध नहीं है। वर्णात्मक ध्वनियां जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करती हैं वही शब्द-प्रमाण से अभिप्रेत है। जैसा कि हम कह चुके हैं प्रारंभ में शब्द का अर्थ प्राचीन विश्वासों को लिखित रूप में प्रकट करनेवाले ग्रंथ समझा जाता था। बाद को शब्द की व्याख्या कुछ आलोचनात्मक हो गई। शब्द-प्रमाण कहे जानेवाले ग्रंथों में प्राचीनता के अतिरिक्त 'संगति' का गुण भी होना चाहिए। श्रुतियों को परस्पर-विरोधी नहीं होना चाहिए।

यह मानना ही पड़ेगा कि बिना शब्द-प्रमाण के सभ्य संसार का काम नहीं चल सकता। अपने जीवन में प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक बात का अनुभव नहीं कर सकता। हमें पद-पद पर दूसरों के लिखित अनुभव पर विश्वास करना पड़ता है। लेकिन इस का अर्थ यह नहीं है कि हम दूसरों की बात को अंधे बन कर मान लें, अथवा अपने अनुभव से उस की परख न करें। अपनी बुद्धि से काम लेना छोड़ देने की सलाह कोई बुद्धिमान् मनुष्य नहीं दे सकता। इसी लिए जब भारतीय विद्वानों ने शब्द को प्रमाण माना तो उस के साथ कुछ शर्तें लगादीं। जिन-जिन आचार्यों ने श्रुतियों को प्रमाण माना है उन्हों ने अपने-अपने भाष्यों द्वारा यह दिखाने की कोशिश भी की है कि सारी श्रुतियां एक ही दार्शनिक सिद्धांत की शिक्षा देती हैं। अदालत में उस साक्षी की गवाही ज़्यादा प्रबल मानी जाती है जो आदि से अंत तक अपने कथन में संगति दिखा सकता है और जो 'वदतो व्याघात' (आप अपना खंडन या विरोध करने) के दोष से बचा रहता है। दार्शनिक पंडितों ने यही शर्त श्रुतियों पर भी लगा दी।

विरोधी श्रुतियों में सामंजस्य स्थापित करने के लिए वेदांत-सूत्रों की रचना हुई जिन पर भिन्न-भिन्न आचार्यों ने भाष्य लिखे।

संगति या सामंजस्य के अतिरिक्त शब्द-प्रमाण में कुछ और भी विशेषताएं होनी चाहिए। एक शर्त यह है कि श्रुति या आप्त द्वारा बतलाई गई बात संभव हो। यदि श्रुति कहे कि आकाश में फूल लगते हैं या ख़रगोश के सींग होते हैं तो नहीं माना जा सकता। शब्द सत्यों को 'संभावित' होना चाहिए। शब्द-प्रमाण की शिक्षा को बुद्धि-विरुद्ध भी नहीं होना चाहिए। तीसरे, शब्द-प्रमाण को ऐसे तथ्यों पर प्रकाश डालना चाहिए जिन तक दूसरे प्रमाणों की पहुँच नहीं है। जहां प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से पहुँचा जा सकता है वहां शब्द का आश्रय लेना व्यर्थ है। शास्त्रीय भाषा में श्रौत सत्य को 'अलौकिक' होना चाहिए। यहां मतभेद की संभावना स्पष्ट है। कुछ लोग किसी तथ्य को अलौकिक कहेंगे, कुछ उसे अन्य प्रमाणों का विषय बता देंगे। नैयायिक लोग ईश्वर की सिद्धि अनुमान से करते हैं जब कि सांख्यकार का मत है कि ईश्वर प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता।

शब्द-प्रमाण का महत्व भारतवर्ष में एक दूसरे कारण से भी माना गया है। भारतीयों का विश्वास है कि केवल तर्क से तत्वज्ञान नहीं मिल सकता। तत्व-दर्शन और तत्वज्ञान के लिए साधना की अपेक्षा है, मानसिक पवित्रता की आवश्यकता है। जिन ऋषियों ने सब प्रकार के मलों से मुक्ति पा ली थी उन की दृष्टि विश्व के रहस्यों को देखने में ज़्यादा समर्थ थी। ऋषि सत्यवादी थे, उन्हों ने जो जैसा देखा वैसा कह दिया। इस लिए उन में अविश्वास करने का अवसर बहुत कम है। वस्तुतः कठिनाई तब पड़ती है जब विभिन्न ऋषि विभिन्न सिद्धांतों का उपदेश करने लगते हैं। सत्य एक ही हो सकता है, इस लिए दो विरोधी सिद्धांत एक साथ सच्चे नहीं हो सकते। फिर भी यह उचित ही है कि आध्यात्मिक अनुभवों का आदर किया जाय और उन पर गंभीरता-पूर्वक विचार किया जाय। दर्शन-

शास्त्र में किसी समस्या के ठीक रूप तक पहुँचना उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि किसी समस्या का हल या समाधान पा जाना। भारतीय दर्शन-शास्त्र की बहुत सी समस्याओं का उद्गम उपनिषदों से हुआ। पुनर्जन्म जैसा महत्वपूर्ण सिद्धांत भारत में शब्द-प्रमाण के आधार पर ही माना जाता है। हर्ष की बात है कि आज-कल के योरपीय विचारकों का ध्यान भी इस की ओर गया है। 'साइकिकल रिसर्च' की सोसाइटियां पुनर्जन्म सिद्ध करने का प्रयत्न कर रही हैं।

इन सब बातों पर विचार करते हुए यह कहना ठीक न होगा कि शब्द-प्रमाण को मान कर भारतीय विचारकों ने अपनी स्वतंत्रता कम कर ली। यह दोषारोपण कुछ हद तक ही ठीक हो सकता है। वास्तव में उपनिषदों में पाए जानेवाले विचारों और संकेतों की बहुलता के कारण यहां के दार्शनिकों को तरह-तरह के सिद्धांतों का आविष्कार करने में कोई अड़चन नहीं पड़ी। न्याय और सांख्य के विचारों में कुछ भी समानता नहीं है। नैयायिक लोग तो शब्द-प्रमाण को यों भी विशेष महत्त्व नहीं देते। वे ईश्वर, जीव, अदृष्ट आदि को सिद्ध करने के लिए अनुमान प्रमाण का ही आश्रय लेते हैं। वेदों के विषय में भारतीय विचारकों ने काफ़ी स्वतंत्रता से काम लिया है। मीमांसक उन्हें अपौरुषेय मानते हैं, जिस का अर्थ है कि वेद ईश्वर के भी बनाए हुए नहीं हैं। नैयायिक वेदों को ईश्वरकृत मानते हैं। वेदांत उन्हें ब्रह्म से ऋषियों के हृदय में अभिव्यक्त हुआ बतलाते हैं। सारांश यह है कि 'वेदों ने भारतीय मस्तिष्क को स्वतंत्र विचरण करने से रोका' यह कथन एक छोटे अंश तक ही ठीक कहा जा सकता है। दर्शनों की निर्भीक विचार-शैली इस के विरुद्ध साक्षी देती है।

दार्शनिक सूत्र

सांख्य को छोड़ कर सब दर्शनों के प्राचीन सूत्र पाए जाते हैं। सांख्य-सूत्र भी हैं, परंतु उन की रचना बहुत बाद को हुई है। सांख्य-दर्शन की सब से प्राचीन

पुस्तक 'सांख्यकारिका' है जिस के रचयिता ईश्वर कृष्ण हैं। सूत्रों के समय के विषय में बहुत मत-भेद है। यदि महाभाष्यकार पतंजलि और योगसूत्र के रचयिता पतंजलि एक हों तो योग-दर्शन का समय द्वितीय शताब्दी ई० पू० ठहरता है। परंतु कुछ विद्वानों का अनुमान है कि दोनों पतंजलि एक नहीं हैं। प्रोफ़ेसर कीथ का मत है कि मीमांसा-सूत्र सब सूत्रों से पुराने हैं। परंतु वेदांत-सूत्रों में जैमिनि का नाम आता है और ऐसा प्रतीत होता है कि वे बादरायण के समकालीन थे। इसी प्रकार पूर्व-मीमांसा में उत्तर मीमांसाकार के प्रति संकेत हैं। इस अवस्था में उन के आपेक्षिक समय का निर्णय करना कठिन हो जाता है। कुछ लोग (जैसे श्री नंदलाल सिंह) वैशेषिक सूत्रों को सब से प्राचीन मानते हैं। मैक्स-मूलर के मत में न्याय-दर्शन वैशेषिक से प्राचीन है। श्री नंदलाल सिंह का कथन है कि न्याय-दर्शन में 'अनुमान' का ज़्यादा विशद वर्णन है इस लिए वह वैशेषिक के बाद की रचना है (देखिए वैशेषिक-सूत्र, भूमिका, पाणिनि आफ़िस से प्रकाशित)। न्याय में हेत्वाभासों का भी अधिक सुंदर विवेचन है। उक्त विद्वान् के मत में तो वैशेषिक का समय छठी शताब्दी से दसवीं शताब्दी ई० पू० तक हो सकता है।

परंतु योरुपीय विद्वान् सूत्रों को इतना प्राचीन मानने से हिचकते हैं। मीमांसा को छोड़ कर लगभग सभी सूत्रों में शून्यवाद और विज्ञान-वाद का खंडन पाया जाता है। इन दोनों मतों का प्रतिपादन-काल ईसा के बाद बतलाया जाता है। इस हिसाब से सूत्रों की रचना का समय तीसरी-चौथी शताब्दी ईसवी तक हो सकता है। प्रोफ़ेसर हिरियन्ना सूत्रों का समय, याकोबी के अनुरोध से, (२००—५००) ईसवी मानते हैं। सूत्रों का समय कुछ भी हो हमें यह याद रखना चाहिए कि सूत्रोक्त सिद्धांत सूत्रों की रचना से कहीं प्राचीन हैं। सूत्रकारों ने उन प्राचीन सिद्धांतों को शृंखलाबद्ध अवश्य कर दिया है। इस का अर्थ यह है कि न्याय सूत्रों से पहले भी न्याय के सिद्धांत भारतवर्ष में प्रचलित थे जिन के आविष्कर्ता

कुछ हद तक, एक विशेष ऋषि हो सकते हैं। जिन ऋषियों ने भी सूत्र बनाए होंगे उन्हों ने उन्हें प्राचीन सिद्धांतों के आधार पर ही लिखा होगा। यदि वस्तुतः न्यायसूत्र गोतम ऋषि ने बनाए, तो भी उन्हें सूत्रोक्त सिद्धांतों का आविष्कर्ता मानना आवश्यक नहीं है, तथापि यह सर्वथा संभव है कि उन्हों ने न्याय-सिद्धांतों में बहुत कुछ संशोधन और परिवर्धन किया।

नास्तिक दर्शन

षड्दर्शनों के अतिरिक्त इस पुस्तक में बौद्धों के चार दर्शनिक संप्रदायों का वर्णन भी किया जायगा। इन चारों में यदि हम चार्वाक-दर्शन और जैन-दर्शन जोड़ दें तो आस्तिक दर्शनों की भाँति नास्तिक दर्शनों की संख्या भी छः हो जाती है। यह नहीं कहा जा सकता कि नास्तिक दर्शनों का महत्व आस्तिक दर्शनों से कम है। आधुनिक काल में बौद्ध दर्शनों, मुख्यतः विज्ञानवाद का महत्त्व बढ़ गया है। वास्तव में भारतवर्ष को दोनों ही कोटि के विचारकों पर गर्व होना चाहिए। यह मानना ही पड़ेगा कि श्रुति का बंधन न होने के कारण नास्तिक दर्शनों में अधिक स्वच्छंदता और साहस पाया जाता है। आस्तिक विचारकों की स्वतंत्र तर्कशैली का भी बहुत कुछ श्रेय बौद्ध विचारकों को है। क्योंकि वे श्रुति को नहीं मानते थे इस लिए आस्तिकों को उन का सामना करने में अपनी युक्तियों को तेज़ करना पड़ा। दर्शनों के युक्ति-प्रधान होने का एक और कारण भी है। विभिन्न आस्तिक संप्रदाय एक-दूसरे की कड़ी आलोचना किया करते थे जिस के कारण हर संप्रदाय की कमज़ोरियां एवं विशेषताएं अच्छी तरह प्रकट हो जाती थीं। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने भारतीय विचारकों की निर्भीकता और स्पष्टता की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। भारत के दार्शनिक अपने सिद्धांतों के अप्रिय परिणामों को निर्भय होकर स्वीकार कर लेते हैं। वे किसी भी दशा में विपक्षी से समझौता नहीं करते और न अपने मत को रूपक की अस्पष्ट भाषा में प्रकट करके छिपाना ही चाहते हैं।

कुछ सामान्य सिद्धांत

दर्शनों में जहां भेद है वहां कहीं कहीं एकता भी है। सब से बड़ी समानता व्यावहारिक है। साधना के विषय में दर्शनों में विरोध बहुत कम है। सभी दर्शन (आस्तिक और नास्तिक) यौगिक क्रियाओं, प्राणायाम आदि का महत्व स्वीकार करते हैं। इंद्रिय-दमन और मनोनिग्रह की आवश्यकता को सब मानते हैं। 'किए हुए कर्म का फल अवश्य मिलता है' इस विषय में किसी का मतभेद नहीं है। आस्तिक दर्शन सभी आत्मसत्ता में विश्वास रखते हैं और श्रुति का सम्मान करते हैं। बौद्धों के दो संप्रदाय (सौत्रांतिक और वैभाषिक) तथा न्याय-वैशेषिक सांख्य-योग और दोनों प्रमुख मीमांसक (कुमारिल और प्रभाकर) बाह्य जगत की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं। श्री शंकराचार्य भी जगत को स्वप्न से विलक्षण मानते हैं। श्री रामानुजाचार्य, श्री वल्लभाचार्य, श्री मध्वाचार्य सभी जगत की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि भारत के अधिकांश दार्शनिक, आधुनिक परिभाषा में, यथार्थवादी (रियलिस्ट) हैं।

वेदांत और मीमांसा को छोड़ कर अन्य दर्शनों में व्यावहारिक आलोचनाएं नहीं पाई जातीं। इस का कारण यह है कि भारतवर्ष में आचार-शास्त्र पर स्वतंत्र ग्रंथों में विचार किया गया है, जिन्हें स्मृति-ग्रंथ कहते हैं। कर्त्ता कर्म करने में स्वतंत्र है या नहीं यह प्रश्न भारत में गंभीरता-पूर्वक कभी नहीं उठाया गया। पाणिनि का एक सूत्र—स्वतंत्रः कर्त्ता—स्वतंत्रता कर्ता के लक्षण का अंग बतलाता है। जो स्वतंत्र नहीं है उसे कर्ता ही नहीं कह सकते। भारतीय दार्शनिकों ने कर्ता की स्वतंत्रता और पुरुषार्थ की प्रयोजनीयता में कभी अविश्वास नहीं किया। गीता का उपदेश है, उद्धरेदात्मनात्मानं, अर्थात् आप अपना उद्धार करे। बुद्ध ने भी ऐसी ही शिक्षा दी थी। वेदांतसूत्र में एक जगह कर्ता के स्वातंत्र्य पर विचार किया गया है। वहां परिणाम यही निकाला गया है कि यद्यपि ईश्वर को प्रेरक कहा जा सकता है, पर ईश्वर की प्रेरणा कर्ता के प्रयत्न-सापेक्ष,

होती है। सामाजिक कर्त्तव्यों पर भारतीय विचार देखने के लिए स्मृति-ग्रंथों को पढ़ना चाहिए।

द्वितीय भाग की प्रगति

पुस्तक के इस भाग में हम पहले बौद्धों के चार दार्शनिक संप्रदायों का वर्णन करेंगे। फिर न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा के दो संप्रदायों के विषय में लिखेंगे। दो-दो दर्शनों को साथ लेने के दो कारण हैं। एक तो यह कि उक्त दर्शनों के विचारों में सैद्धांतिक मतभेद नहीं के बराबर हैं। न्याय और वैशेषिक एवं सांख्य और योग एक-दूसरे के पूरक हैं। दूसरे, ऐतिहासिक दृष्टि से भी उन में घनिष्ठ संबंध रहा है। इस के बाद हम वेदांत के विभिन्न आचार्यों का मत लेंगे। इन आचार्यों में गंभीर मतभेद हैं। समानता इतनी ही है कि यह सब ख़ास तौर से श्रुति पर निर्भर रहते हैं और सब ने प्रस्थानत्रयी अर्थात् उपनिषद्, भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं। हरेक ने यह दिखलाने की कोशिश की है कि प्रस्थान-त्रयी में उसी के मत का प्रतिपादन और समर्थन पाया जाता है। अंत में भारत की आधुनिक दार्शनिक प्रगति पर दृष्टिपात करके हम ग्रंथ समाप्त करेंगे।

पहला अध्याय

बौद्धधर्म का विकास—दार्शनिक संप्रदाय

किसी भी युग-प्रवर्तक और धर्म-शिक्षक की वाणी संकेतपूर्ण और काव्यमयी होती है। वह अपने युग के बहुत से मनुष्यों को प्रभावित करती है और तरह-तरह के मस्तिष्कों को वश में कर लेती है। धर्म प्रवर्तकों के मोहक व्यक्तित्व के सामने मानस-शास्त्र की दृष्टि से भिन्न स्वभाव के पुरुष भी एकता के जाल में फँस जाते हैं। परंतु उस महापुरुष के मरते ही उस के अनुयायियों के आंतरिक भेद प्रकट होने लगते हैं। उस के वचनों एवं उपदेशों की अनेक प्रकार से व्याख्या की जाती है और एक धर्म के अंतर्गत, एक ही नामधारी, अनेक धर्म या दार्शनिक संप्रदाय चल जाते हैं। संसार के हर देश के इतिहास में ऐसा हो हुआ है। अफ़लातून और अरस्तू के दार्शनिक विचारों की व्याख्या में काफ़ी मतभेद रहा है। भगवद्गीता और ब्रह्मसूत्र एवं उपनिषदों के तो अनेक भाष्य प्रसिद्ध ही हैं। जैनियों के दो संप्रदाय है; ईसाइयों के भी दो दल हैं। आधुनिक काल में हीगल और कांट की अनेक व्याख्याएं हो चुकी हैं।

आंतरिक भेद

बुद्ध के मरने के बाद उन के अनुयायियों में भी तीव्र मतभेद फैल गया। प्रोफ़ेसर कीथ का अनुमान है कि बुद्ध के बाद बौद्धों के कम से कम अठारह संप्रदाय बन गए थे। परंतु इतने संप्रदायों के विषय में न तो बहुत जानकारी ही है न उन का वर्णन महत्वपूर्ण है। उत्तर-कालीन बौद्धधर्म के दो ही प्रमुख संप्रदाय हैं—हीनयान और महायान। यान का अर्थ यात्रा का साधन या मार्ग समझना चाहिए। यह स्पष्ट है कि 'हीन-यान' नाम महायान संप्रदाय वालों का दिया हुआ है। हीनयान संप्रदाय

को थेरवाद या स्थविरवाद अथवा वृद्धों का संप्रदाय भी कहते हैं। हीन-यान-पंथी अपने मत को बुद्ध की सच्ची शिक्षा मानते हैं। उन का कथन है कि 'त्रिपिटक' ग्रंथ उन्हीं के मत का पोषण करते हैं।

वास्तविक बौद्धधर्म अथवा बुद्ध की शिक्षा क्या है, इस का निर्णय करने के लिए राजगृह में प्रथम सभा हुई। दूसरी सभा वैशाली में हुई जिस में स्थविरपक्ष या वृद्ध-पक्ष की जीत हुई। परंतु पराजित महासंघिकों ने सभा के निर्णय को नहीं माना। दोनों का विरोध चलता ही रहा।

बौद्धधर्म का विशेष प्रसार या प्रचार सम्राट् अशोक के समय में हुआ। अशोक ने काश्मीर, लंका आदि भारत के भागों में प्रचारक भेजे। सिरिया, मिश्र और यूनान में भी अशोक के बौद्ध शिक्षक जा पहुँचे। लंका में तो अशोक ने अपने पुत्र महेंद्र को ही भेजा था। अशोक के प्रयत्नों से बौद्धधर्म, हिंदूधर्म की एक शाखा न रह कर विश्वधर्म बन गया। अशोक ने बौद्धधर्म को और बौद्धधर्म ने अशोक को अमर बना दिया। तीसरी शताब्दी ई० पू० में ही बौद्धधर्म नेपाल, तिब्बत, मंगोलिया, चीन और जापान में प्रवेश कर चुका था।

अशोक के बाद बहुत काल तक उत्तर भारत में जो सम्राट् हुए उन्हों ने बौद्धधर्म को स्वीकार किया। यह सम्राट् यवन, शक, कुशन आदि जातियों के थे लगभग एक हज़ार वर्ष तक बौद्धधर्म भारत में विजयी होता रहा, इस के बाद गुप्तवंश के आधिपत्य में हिंदूधर्म की उन्नति और बौद्धधर्म का पतन होने लगा। सातवीं शताब्दी में कुमारिल ने बौद्धधर्म का तीव्र खंडन किया। इस के बाद शंकराचार्य ने बौद्धों के बचे हुए प्रभाव को भी नष्ट कर डाला।

आरंभिक बौद्धधर्म अथवा हीनयान की प्रधानता के नाश के साथ-साथ ही हिंदू धर्म और महायान संप्रदाय का उदय हुआ। लंका (सीलोन) और बर्मा के लोग अभी तक हीनयान के अनुयायी हैं। चीन और जापान में महायान का प्रभुत्व है। दोनों में भेद क्या है?

हीनयान-मत का विश्वास पाली ग्रंथों में है; महायानों ने पाली ग्रंथों की ओर पाली-भाषा को विशेष परवाह न कर के संस्कृत में ग्रंथ-रचना की। हीनयानों का

हीनयान का वर्णन

मोक्ष 'विज्ञान-संतान' का रुक जाना अथवा चेतना का नाश हो जाना है।[1] मानना चाहिए कि यह बुद्ध की वास्तविक शिक्षा न थी। निर्वाण की यह अभावात्मक व्याख्या बुद्ध का अभिप्रेत न थी, यह हम पहले ही लिख चुके हैं। हीनयान क्षणिकवादी है। निर्वाण को 'प्रति-संख्या-निरोध' भी कहते हैं। पाठक इस लंबे चौड़े शब्द का अर्थ याद रक्खें। प्रतिसंख्या का अर्थ है प्रतीप या विपरीत बुद्धि। विज्ञान-प्रवाह का नाशक बुद्धि या बोध अथवा ज्ञान को 'प्रतिसंख्या' कहते हैं। इस से विज्ञानों के रुक जाने को 'प्रतिसंख्या-निरोध' कहते हैं जो कि जीवन का लक्ष्य है। ज्ञान के अतिरिक्त दूसरे कारणों से (जैसे गहरी नींद में) जो चेतना-प्रवाह रुक-सा जाता है उसे 'अप्रतिसंख्यानिरोध' कहते हैं। 'जो भाव सत् हैं उन्हें असत् कर दूं यह बुद्धिप्रतिसंख्या है (देखिए शांकर भाष्य पर रत्नप्रभा—२। २। २२)। अपनी आलोचना में शंकराचार्य कहते हैं कि बौद्धमत में दोनों प्रकार का 'निरोध'—ज्ञानकृत अथवा स्वतः—असंभव है।

आत्मा और संसार दोनों झूठे हैं, मिथ्या हैं। मोक्षार्थी का किसी से प्रेम नहीं करना चाहिए।[2] तीव्र वैराग्य और कठिन तपस्या अर्हत बनने के लिए अनिवार्य हैं। अर्हत से तात्पर्य हिंदुओं के जीवन्मुक्त से है। अर्हत् को स्वयं अपना निर्वाण या मोक्ष-साधन करना चाहिए। मुमुक्षु को किसी से मतलब नहीं रखना चाहिए; कुछ संग्रह नहीं करना चाहिए; जन-संसर्ग से सर्वथा बचना चाहिए। संसार को पवित्र बनाने की अभिलाषा करना उचित नहीं है। अपने को मुक्त कर लेना ही सब से बड़ा काम है। हीनयान बौद्धों ने बुद्धि जी के उदार जीवन और उस से मिलने वाली

[1] राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ५८६ [2] वही, पृ० ५८७

शिक्षाओं को भुला दिया। वैयक्तिक पवित्रता और तपस्या पर उन्हों ने ज़ोर दिया, यह अच्छी बात थी। परंतु संन्यासी के जीवन से 'प्रेम' शब्द का बहिष्कार करना ठीक नहीं कहा जा सकता।

हीनयानों के दार्शनिक सिद्धांत भी महायान से भिन्न हैं, इन पर हम बाद को दृष्टिपात करेंगे। संक्षेप में कहें तो हीनयान यथार्थवादी, अनेकवादी और नैरात्म्यवादी हैं।

महायान का अभ्युदय हीनयानों के विरुद्ध प्रतिक्रिया का फल था।

महायान का वर्णन

हीनयान भिक्षुओं के कठिन तपश्चरणों से लोग विरक्त होने लगे। अशोक से कनिष्क के काल तक जो प्रवृत्तियां छिपे-छिपे काम कर रही थीं वे महायान के रूप में परिणत हो गईं। हीनयान धर्म में हृदय और उस के मनोवेगों के लिए स्थान न था; प्रेम और भक्ति के लिए जगह न थी। मनुष्य के इतिहास में यह अकसर देखा जाता है कि अतिशय बुद्धिवाद के बाद एक ऐसा युग आता है जिस में भावनाओं को प्रधानता दी जाती है। शंकराचार्य के बाद रामानुज का आना कुछ ऐसा ही था। महायानों का दावा है कि वे ही बुद्ध के वास्तविक उत्तराधिकारी हैं; बुद्ध जी की शिक्षा के हृदय को उन्हों ने ही पहचाना है। उन का दर्शन, हीनयानों की तरह, अभावात्मक नहीं है। महायान धर्म ने प्रेम और भक्ति के लिए स्थान बनाने की कोशिश की। यहां ईश्वर, आत्मा और निर्वाण सब की धारणाएं भावात्मक हो गईं।[१] इस में संदेह नहीं कि बौद्धधर्म के इस परिवर्तन में अन्य धर्मों से आए हुए अनुयायियों का काफ़ी हाथ था। इन लोगों ने बुद्ध की शिक्षा में कुछ विजातीय अंश मिला कर उसे जनता के लिए रुचिकर बना दिया। बुद्ध को भगवान् बुद्ध बना दिया गया। उन्हें 'धर्मकाय' का नाम दिया गया। धर्म का मूर्त स्वरूप ही भगवान् बुद्ध हैं। सर्वव्यापिनी आध्यात्मिक शक्ति ही धर्म है। वही आदि बुद्ध है। यही महायानों का ब्रह्म है। इसी

[१] राधाकृष्णन् भाग १, पृ० ५९१

का अवतार बुद्ध हैं। प्रत्येक व्यक्ति 'बुद्ध' बन सकता है, इस लिए बुद्ध अनेक हैं। ऐतिहासिक बुद्ध आदि बुद्ध या धर्मकाय की, जो कि एक-मात्र तत्व है, अभिव्यक्ति मात्र हैं। धर्मकाय देश-काल की उपाधियों से मुक्त है। निर्वाण का अर्थ शून्यता नहीं, बल्कि आदि-बुद्ध की पवित्रता को प्राप्त करना है। धर्मकाय जब नामरूप धारण कर लेता है तो उसे 'संभोग-काय' कहते हैं। वेदांत में इन्हें क्रमशः ब्रह्म और ईश्वर कहा गया है। धर्मकाय से बोधिसत्वों की उत्पत्ति होती है। महायान ने अर्हत् के आदर्श के बदले जो संसार से विमुख रह कर अपनी मोक्ष के साधनों में लगा रहता है, "बोधिसत्व" का आदर्श रक्खा।[१] हिंदू धर्म के अवतारों की तरह संसार के कल्याण के लिए धर्मकाय से 'बोधिसत्व' उद्भूत होते हैं।[२] बुद्ध संसार में अपने लिए साधना करने नहीं आए। दुःखितों का प्रेम ही उन के अवतार का कारण हुआ। बोधिसत्व अविराम संसार के मोक्ष के लिए प्रयत्न करते हैं और वे अकेले आप मुक्त होने से इन्कार कर देते हैं। 'जब तक संसार दुःख से मुक्त न होगा, हम भी अपना निर्वाण स्वीकार नहीं करेंगे', यह बोधि सत्वों की प्रतिज्ञा है। सिर्फ अपने आनंद का ध्यान रखना बोधिसत्वों ने नहीं सीखा। बोधिसत्वों में स्वार्थ का लेश नहीं होता। संसार में कुछ दिन ठहर कर बोधिसत्व फिर बुद्ध भाव को प्राप्त हो जाते हैं। इन देव-भावापन्न बुद्धों का संसार में अवतार होने पर उन्हें "निर्माणकाय" कहा जाता है। अमिताभ, अवलोकितेश्वर आदि अन्य बुद्धों के नाम हैं जो कि देवभावापन्न अवस्था में ऐतिहासिक बुद्ध के साथ रहते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि महायान धर्म में हिंदूधर्म की सभी चीज़ें वर्तमान हैं। बौद्धधर्म ने हिंदूधर्म का रोचक रूप धारण करके उन्नति की और फिर हिंदूधर्म के लगभग समान हो जाने के कारण अपना आकर्षण खो दिया। भारतवर्ष से बौद्धधर्म के लोप हो जाने का एक

[१] आनंद कुमारस्वामी, पृ० २२९ [२] वही, पृ० २३९

कारण यह भी था। उधर ब्राह्मणों ने बुद्ध को अपना अवतार मान लिया, इधर महायानों ने हिंदूधर्म का विरोध छोड़ दिया और रामकृष्ण की पूजा की वैधता तक स्वीकार कर ली[1]। वैष्णवधर्म और शैवधर्म का उदय होने पर महायान में कोई विशेषता नहीं रह गई। भिक्षुओं का उत्साह भी कम हो गया; उन के जीवन की पवित्रता कम हो गई। संघ कमज़ोर पड़ गया। इन्हीं कारणों से बौद्धधर्म का ह्रास हुआ।

बौद्धधर्म का विकास और ह्रास वास्तव में भारतवर्ष के धार्मिक इतिहास का विषय है। यहां उन का थोड़ा-सा वर्णन ऐतिहासिक तारतम्य को सुबोध बनाने के लिए किया गया है। इस के आगे बौद्धों के दार्शनिक संप्रदायों का वर्णन होगा।

बौद्धों के दार्शनिक संप्रदाय

हीनयान और महायान के अंतर्गत विभिन्न दार्शनिक मतों का उदय हुआ। बौद्धों के चार दार्शनिक संप्रदाय प्रसिद्ध हैं अर्थात् सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इन में से पहले दो हीनयान के संप्रदाय हैं और दूसरे दो महायान के। इन दर्शनों के आपेक्षिक काल का निर्णय कठिन है। विशेषतः, माध्यमिक और योगाचार का काल-संबंध कुछ गड़बड़ है। दार्शनिक विकास की दृष्टि से माध्यमिकों का शून्यवाद योगाचारों के विज्ञानवाद से बाद को आना चाहिए। परंतु नागार्जुन का समय असंग और वसुबंधु से, जो कि विज्ञानवाद के प्रमुख शिक्षक हैं, पहले है। विषय को ठीक से हृदयंगम कराने के लिए हम दार्शनिक विकास के क्रम का ही अनुसरण करेंगे।

लेखक और साहित्य

वैभाषिक मत का प्रतिपादन करनेवालों में दिङ्नाग और धर्मकीर्ति मुख्य हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि दिङ्नाग कालिदास का समकालीन था क्योंकि 'मेघदूत' में कवि ने उस पर कटाक्ष किया है। दिङ्नाग ने 'प्रमाण-समु-

[1] राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ५९८

च्चय' नामक ग्रंथ लिखा था जो संस्कृत में उपलब्ध नहीं है। धर्मकीर्ति ने 'न्यायबिंदु' लिखा है। यह तर्कशास्त्र का ग्रंथ है जिस पर धर्मोत्तर ने टीका लिखी है। धर्मकीर्ति शंकराचार्य से पहले हुआ था।

सौत्रांतिक मत का संस्थापक कुमारलब्ध (२०० ईसवी) बताया जाता है। सौत्रांतिक और वैभाषिक संप्रदाय में भेदक रेखा खींचना कभी-कभी कठिन हो जाता है। धर्मोत्तर को सौत्रांतिक लेखक बताया जाता है। शायद तीन पिटकों में से सूत्रपिटक को विशेष महत्त्व देने के कारण कुछ बौद्धों का सौत्रांतिक नाम पड़ा। सौत्रांतिक और वैभाषिक दोनों को मिला कर 'सर्वास्तित्ववादी' कहते हैं।

योगाचार संप्रदाय के प्रवर्तक असंग और वसुबंधु थे। यह दोनों भाई थे; इन का समय तीसरी शताब्दी समझना चाहिए। वसुबंधु का 'अभिधर्मकोश' बौद्धों का प्रसिद्ध ग्रंथ है। इस मत का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ 'लंकावतारसूत्र' है जिस में बुद्ध ने रावण को शिक्षा दी है। प्रसिद्ध कवि अश्वघोष, जिस ने 'बुद्धचरित' में बुद्ध की जीवन-कथा लिखी है, इसी मत का अनुयायी था। वह 'श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' का लेखक है।

माध्यमिक मत का प्रमुख लेखक नागार्जुन है। नागार्जुन ने 'मूल-मध्यमकारिका' नामक ग्रंथ लिखा है जिस पर चंद्रकीर्ति ने टीका की है। भारतीय दर्शन-साहित्य में इस ग्रंथ का बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। नागार्जुन के तर्कना-प्रकार की नक़ल बहुत लेखकों ने की है। नैषधकार श्रीहर्ष ने जो वेदांत का प्रसिद्ध लेखक है, अपने 'खंडनखंडखाद्य' में नागार्जुन की आलोचना-शैली का आश्रय लिया है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रैडले ने अनजाने, नागार्जुन के तर्कों को पुनरुज्जीवित किया है। ब्रैडले की मृत्यु को भी अभी पंद्रह-बीस वर्ष ही हुए हैं। नागार्जुन के शिष्य आर्य-देव का 'शतशास्त्र' या 'चतुःशतक' माध्यमिकों का दूसरा प्रसिद्ध ग्रंथ है।

नागार्जुन को अश्वघोष (१०० ईसवी) का शिष्य बतलाया जाता है।

सर्वास्तित्ववाद-वैभाषिक और सौत्रांतिकः अनुमान प्रमाण

पाठकों को याद होगा कि चार्वाक ने प्रत्यक्ष के अतिरिक्त सब प्रमाणों का परित्याग कर दिया था। बौद्ध लोग प्रत्यक्ष और अनुमान दो प्रमाणों को मानते हैं। इस लिए उन्हें अनुमान के प्रामाण्य की चार्वाकों के विरुद्ध रक्षा करनी पड़ी। अनुमान प्रमाण व्याप्ति पर निर्भर हैं। धूम या धुँआ अग्नि से अलग कभी नहीं देखा गया है, इस लिए धूम और वह्नि में व्याप्य-व्यापक-भाव है। अग्नि व्यापक है। व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रह सकता, अग्नि के बिना धूम की स्थिति असंभव है। धूम और अग्नि के इस संबंध का ज्ञान व्याप्ति-ज्ञान है। चार्वाक कहता है कि व्याप्ति-ज्ञान झूठा है, बौद्धों का कथन है कि व्याप्ति-ज्ञान सत्य है। धूम को देख कर अग्नि या वह्नि का अनुमान किया जा सकता है और यह अनुमान ठीक भी है। 'इस पर्वत में वह्नि है, क्योंकि इस में धुँआ है' यह अनुमान सर्वथा ठीक है। दो स्थानों में व्याप्ति माननी चाहिए। एक तो कार्य-कारण में व्याप्ति-संबंध रहता है, दूसरे उन दो वस्तुओं में जिन में तादात्म्य संबंध है। अग्नि धूम का कारण है इस लिए उस में व्याप्ति मानी जा सकती है। इसी प्रकार जाति और व्यक्ति में नित्य संबंध है। एक पशु हरिण न हो यह संभव है, परंतु हरेक हरिण की श्रेणी पशुत्व के अंतर्गत है। जहां 'तदुत्पत्ति' और 'तादात्म्य' संबंध रहता है वहां व्याप्ति मानी जा सकती है और माननी चाहिए।

बौद्धों का कथन है कि संदेह या संशय एक हद तक ही करना चाहिए। यदि संदेह अनुभव के विरुद्ध चला जाय तो उसे छोड़ देना चाहिए। वह संदेह जो हमें विरोधाभास या व्याघात में फँसा दे त्याज्य है—व्याघाता-वधिराशंका। अनुमान के प्रामाण्य में संदेह करना जीवन के विरुद्ध है, वह स्वतः-विरोधी भी है। अनुमान को प्रमाण माने बिना जीवन का काम नहीं चल सकता। फिर अनुमान का अप्रामाण्य भी अनुमान की सहायता के बिना, केवल प्रत्यक्ष से, सिद्ध नहीं किया जा सकता। इस लिए अनुमान को अवश्य प्रमाण मानना चाहिए।

मनुष्यत्व बहुत से मनुष्यों में रहता है इस लिए मनुष्यत्व को सामान्य या जाति कहते हैं। इसी प्रकार घटत्व जाति, पटत्व जाति आदि मानी जाती हैं। नैयायिकों के इस मत का बौद्ध लोग खंडन करते हैं। घट ही वास्तविक है, घटत्व (घड़ापन) वास्तविक नहीं है। वैभाषिकों और सौत्रांतिकों का कथन है कि 'घटत्व' या 'मनुष्यत्व' केवल कल्पना की चीज़ें हैं; इन की कहीं सत्ता नहीं है। प्रत्येक वस्तु का अपना अलग गुण है; सामान्य गुण नहीं पाए जाते। संसार के सारे पदार्थ 'स्वलक्षण' हैं; स्वलक्षणों का समुदाय ही जगत है। सामान्य-लक्षणों का अभाव है; अथवा वे कल्पना की चीज़ें हैं। वैभाषिकों के मत में इसी प्रकार गुण, कर्म, नाम, और द्रव्य भी काल्पनिक हैं। यह हमारी बुद्धि की धारणाएं मात्र हैं। बाह्य जगत में इन जैसी कोई वस्तु नहीं है। सर्वास्तित्ववादियों का यह मत कुछ-कुछ अरस्तू और कांट से मिलता है। अरस्तू ने सामान्यों (यूनिवर्सल्स) की अलग सत्ता नहीं मानी और कांट ने भी द्रव्य, गुण आदि को धारणाओं को मनः-सापेक्ष या बुद्धि-सापेक्ष ठहराया है।

सामान्य लक्षण का निषेध[1]

नैयायिकों के मत में सत्पदार्थ उसे कहते हैं जिस का सत्ता सामान्य से योग हो (सत्तासामान्ययोगित्वं सत्त्वम्)- असत् पदार्थ वह है जिस का 'सत्ता' नामक महासामान्य से संबंध नहीं है। 'अश्वत्व' 'गोत्व' 'घटत्व' आदि जातियां छोटी या कम व्यापक जातियां हैं; इन्हें अपर सामान्य कहते हैं। पशुत्व जाति अश्वत्व या गोत्व की अपेक्षा बड़ी है अर्थात् ज़्यादा व्यापक है इस-लिए पशुत्व जाति अश्वत्व की अपेक्षा 'पर सामान्य' है। 'सत्ता' जाति सब से बड़ी जाति है; सत्ता की अपेक्षा कोई जाति 'पर' नहीं है। इस सत्ता जाति से जिस का योग हो वह 'सत्पदार्थ' है।

सत्पदार्थ का लक्षण

बौद्ध लोग इस मत का खंडन करते हैं। यदि हम नैयायिकों का

[1] देखिए हिरियन्ना, पृ० २०४

मत मानें तो स्वयं 'सत्ता' जाति में सत्पदार्थ का यह लक्षण नहीं घटता। इस लिए नैयायिकों का लक्षण 'अव्याप्त' है। फिर बौद्ध विचारक सामान्य लक्षण या जाति के पृथक् अस्तित्व में विश्वास भी नहीं रखते। प्रश्न यह है कि बौद्धों के मत में सत्पदार्थ का क्या लक्षण है?

सत्पदार्थ वह है जो कुछ करे, जिस में अर्थ-क्रिया-कारिता हो (अर्थ-क्रियाकारित्वं सत्त्वम्)। जो कुछ करता नहीं वह असत्पदार्थ है। सत्पदार्थ की मुख्य पहचान यही है कि वह अपने अस्तित्व के प्रत्येक क्षण में कुछ करता रहे। सत्पदार्थ प्रतिक्षण अपने कार्यों को उत्पन्न करता रहता है। प्रत्येक सत्पदार्थ प्रत्येक क्षण में किसी कार्य का कारण होता है; वह कुछ न कुछ कार्य उत्पन्न करता रहता है। सत्पदार्थ के इस लक्षण से 'क्षणिक-वाद' का सिद्धांत सिद्ध होता है।

क्षणिकवाद

संसार के सारे पदार्थ क्षणिक हैं; वे प्रतिक्षण बदलते रहते हैं। विश्व में कुछ भी स्थिर नहीं है। आध्यात्मिक जगत और भौतिक जगत में सभी कुछ परिवर्तन-शील है। जिन्हें हम 'वही' कह कर पहचानते और स्मरण करते हैं वे वास्तव में 'वही' नहीं होते। जीवन के किन्हीं दो क्षणों में हम स्वयं 'वही' नहीं रहते। ऊपर हम देख चुके हैं कि क्षणिकवाद में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा की व्याख्या नहीं हो सकती। प्रश्न यह है कि इन कठिनाइयों के होते हुए ऐसी कौन सी युक्ति है जिस के कारण क्षणिकवाद को विचारणीय सिद्धांत कहा जा सके?

क्षणिकवाद की युक्ति सत्पदार्थ की परिभाषा से प्राप्त होती है। 'सर्व-दर्शन-संग्रह' में इस युक्ति को स्पष्ट रूप में व्यक्त किया गया है। कार्य को उत्पन्न करने का अर्थ है कारण का कार्यरूप में परिणत हो जाना। मिट्टी घट नामक कार्य को उत्पन्न करती है इस का अर्थ है कि मिट्टी घट-रूप हो जाती है। हम देख चुके हैं कि सत्पदार्थ का लक्षण 'कुछ करते रहना' अर्थात् अनवरत कार्यों को उत्पन्न करते रहना है। इस का अर्थ यह

हुआ कि प्रत्येक सत्पदार्थ प्रतिक्षण कार्य उत्पन्न करता रहता है अथवा कार्य-रूप होता रहता है। प्रत्येक सत्पदार्थ प्रतिक्षण अपना स्वरूप परिवर्तित करता रहता है। इस का साफ़ अर्थ यही है कि प्रत्येक सत्पदार्थ क्षणिक है (यत्सत् तत्क्षणिकम्)।

आप कहेंगे कि 'सत्पदार्थ वह है जो कार्य उत्पन्न करे'। इसे मान कर भी क्षणिकवाद से बचा जा सकता है। यह क्या ज़रूरी है कि एक सत्पदार्थ अभी अपना कार्य उत्पन्न करे। मिट्टी आज या अभी ही घड़ा क्यों बन जाय, कल क्यों न बने? लेकिन बौद्ध इस आलोचना से सह-मत नहीं होंगे। मान लीजिए कि विवाद-ग्रस्त सत्पदार्थ 'क' है जो कि 'ख' 'ग' आदि कार्यों को उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। यदि 'क' में 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता है तो वह 'ख' को तुरंत उत्पन्न कर डालेगा; और यदि उस में यह क्षमता नहीं है तो वह 'ख' को कभी उत्पन्न नहीं करेगा। 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हुए 'क' अकर्मण्य रहे अर्थात् 'ख' को उत्पन्न न करे, यह असंभव है। यदि 'ख' को उत्पन्न करने के लिए 'क' को किसी और वस्तु 'व' की आवश्यकता पड़ती है तो कहना चाहिए कि 'क' में 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है। परंतु यदि 'क' में किसी भी कार्य को उत्पन्न करने की क्षमता नहीं है तो वह 'है' वह सत्पदार्थ है, इसी में संदेह है।

प्रत्येक वर्तमान पदार्थ को या तो अपना कार्य अभी उत्पन्न करना चाहिए या कभी नहीं। 'ख' को उत्पन्न करने की क्षमता रखते हुए। यदि 'क' आज अकर्मण्य रह सकता है तो कल क्यों नहीं रह सकता? जो वर्तमान क्षण में कुछ नहीं कर सकता उस से भविष्य में क्या आशा की जा सकती है? और अगर 'क' अभी 'ख' को उत्पन्न करता है तो इस का अर्थ यह है कि 'क' 'ख' में परिणत हो जाता है, बदल जाता है। 'क' के नष्ट होने पर ही 'ख' उत्पन्न होता है इस प्रकार हम देखते हैं कि सारे सत्पदार्थ क्षणिक हैं।

क्षणिकवाद की कुछ आलोचना हम पहले भाग में दे चुके हैं। प्रायः सभी आस्तिक और नास्तिक विचारकों ने क्षणिकवाद का खंडन किया है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' में जैनों की ओर से क्षणिकवाद की समीक्षा इस प्रकार की गई है।

क्षणिकवाद की आलोचना

कृतप्रणाशाकृतकर्मभोग-भवप्रमोक्षस्मृतिभंग दोषान्।
उपेक्ष्य साक्षात्क्षण भंगमिच्छु न्नहो महा साहसिकः परोऽसौ (पृष्ठ २५)

क्षणिकवाद को मानने पर किए हुए कर्मों का फल नहीं मिल सकता इस लिए 'कृतप्रणाश' (कृत कर्म के फल की अप्राप्ति) दोष आता है। इसी प्रकार वर्तमान कर्ता को जो कर्मफल प्राप्त होता है वह भी न्याय-संगत नहीं है। क्योंकि जिन कर्मों का फल मिल रहा है वह अन्य कर्ता ने किए थे। यह 'अकृत कर्म भोग' अथवा 'अकृताभ्यागम' दोष हुआ। स्मृति भी नहीं बन सकती। क्षणिकवाद के अनुसार बंध-मोक्ष भी नहीं हो सकते। इतने आक्षेपों के रहते हुए क्षणिकवाद का माननेवाला प्रतिपक्षी सचमुच बड़ा साहसी है।

सांख्य-सूत्र का कहना है कि क्षणिकवाद को मानने पर कार्य-कारण-व्यवस्था नहीं बन सकती। क्यों कि—

पूर्वापाये उत्तरायोगात्। (अ० १। ३६)

पूर्वस्य कारणस्यापाय काले उत्तरस्य कार्यस्य उत्पत्त्यनौ चित्यादपि न क्षणिकवादे संभवति कार्यकारणभावः। (विज्ञान भिक्षु)

जब तक कार्य उत्पन्न होता है तब तक कारण नष्ट हो चुकता है। नष्ट हुए कारण से कार्य की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अन्यथा किसी वस्तु के नाश होने से कुछ भी उत्पन्न हो जाय।

नैयायिकों ने भी साधारण आक्षेपों के साथ ही एक महत्त्वपूर्ण आक्षेप किया है। बौद्धों ने नैयायिकों के सत्पदार्थ के लक्षण का खंडन किया और नई परिभाषा दी है। नैयायिक लोगों का कथन है कि बौद्धों की परि-

आपा मान लेने पर किसी चीज़ का ज्ञान नहीं हो सकता। 'अर्थक्रिया-कारिता' सत्पदार्थ का लक्षण है। इस का अर्थ यह है कि किसी पदार्थ को जानने के लिए उस की 'अर्थक्रियाकारिता' या 'व्यावहारिक योग्यता' को जानना चाहिए। यदि आप किसी पदार्थ को जानना चाहें तो आप को उस की व्यावहारिक क्षमता का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इस का अर्थ यह है कि आप उस पदार्थ के 'कार्य' का ज्ञान प्राप्त करें। लेकिन उस 'कार्य' का ज्ञान—'ख' का ज्ञान—कार्य के कार्य अर्थात् 'ग' को जाने बिना नहीं हो सकता। इसी प्रकार 'ग' को जानने के लिए 'ग' के कार्य 'घ' को जानना ज़रूरी है। यह अनवस्था दोष है।

यदि कुछ भी स्थिर नहीं है तो व्याप्ति को ग्रहण करके अनुमव करने वाला कर्ता भी नहीं मिल सकता। इस प्रकार अनुमान-प्रमाण असंभव हो जायगा। यह नैयायिकों की दूसरी आलोचना है।

क्षणिकवाद के सिद्धांत को सभी बौद्ध मानते हैं। इस के बाद हम वैभाषिक मत का विशेष वर्णन करेंगे।

वैभाषिक संप्रदाय

सर्वास्तित्ववादी वाह्य जगत की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार करते हैं। उन्हें हम यथार्थवादी और बहुत्ववादी या अनेकवादी कह सकते हैं। वैभाषिकों के मत में, समस्त विश्व परस्पर-निरपेक्ष अनंत स्वलक्षणों का समुदाय है। प्रत्येक स्वलक्षण अपने ही समान है और उस का वर्णन उसी के समान हो सकता है। किन्हीं दो स्वलक्षणों का एक-सा वर्णन नहीं हो सकता। वैभाषिक परमाणु-वादी हैं। स्वलक्षण परमाणुओं के बने हुए हैं। इन के परमाणुओं को परिवर्तन-शील समझना चाहिए। वैभाषिक चार तत्वों में विश्वास रखते हैं अर्थात् पृथिवी, जल, वायु और तेज। वे आकाश-तत्व को नहीं मानते। परमाणु को चक्षु, श्रोत्र, नासिका आदि इंद्रियों से ग्रहण नहीं कर सकते। सर्वास्तित्ववादी दो और तीन परमाणुओं के समुदाय नहीं मानते। संसार के सारे पदार्थ या तो भूत और भौतिक है अथवा चित्त और

चैत्त[1] सर्वास्तित्ववादी नैरात्म्यवाद के समर्थक हैं। वाह्य विषयों से टकरा कर इंद्रियां विज्ञानों को उत्पन्न करती हैं। विज्ञानों के अतिरिक्त कोई आत्मा नहीं है। इंद्रियां भौतिक हैं।

वाह्य पदार्थ चित्त में अपना आकार अथवा अपने आकार के विज्ञान उत्पन्न करते हैं। इन विज्ञानों और वाह्य पदार्थों दोनों का 'प्रत्यक्ष' होता है। इंद्रिय-ज्ञान ठीक पर अस्पष्ट होता है बौद्धिक ज्ञान कल्पना-प्रसूत और झूठा होता है।

बुद्ध एक साधारण मनुष्य थे जिन्हों ने अपने प्रयत्न से निर्वाण प्राप्त किया। मरने के साथ ही उन की सत्ता का अंत हो गया।

सौत्रांतिक-दर्शन

वाह्य जगत की सत्ता है लेकिन उस का ज्ञान प्रत्यक्ष से प्राप्त नहीं होता। वाह्य पदार्थों की तस्वीरें मन पर खिंच जाती हैं, जिन की सहायता से वाह्य वस्तुओं का अनुमान किया जाता है। यदि प्रत्यक्ष मानसिक तस्वीरों का ही होता है तो वाह्य जगत को मानने की क्या ज़रूरत है? सौत्रांतिकों का कथन है कि बिना वाह्य जगत की स्वतंत्र सत्ता माने काम नहीं चल सकता। प्रत्येक मानसिक तस्वीर या विज्ञान के प्रत्यक्ष के साथ ही वाह्य पदार्थ का भी प्रत्यक्ष होता है। मानसिक विज्ञान के ज्ञान का एक अंग 'वाह्यता' का ज्ञान भी होता है। विज्ञान किसी वाह्य पदार्थ की ओर संकेत करता है, यह विश्वास इतना स्वाभाविक है कि इस में अविश्वास करने वाले को हेतु देना चाहिए न कि विश्वास करने वाले को। यदि दृष्ट पदार्थ विज्ञान का ही विकार होता तो उस के साथ उस के 'बाहरपन' या बाहर होने का ज्ञान न आता। वाह्यता विज्ञानों में नहीं पदार्थों में है। श्री शंकराचार्य ने भी योगाचारों के विरुद्ध इसी तर्क का प्रयोग किया है। 'वाह्यता'-ज्ञान की सिद्धि के लिए बुद्धि-निरपेक्ष वाह्य जगत की सत्ता स्वी-

[1] पाँच भूतों के बने हुए पदार्थों को 'भौतिक' कहते हैं; चित्त के विकारों को 'चैत्त' कहा जाता है, जैसे सुख, दुःख, मोह, विचार आदि।

कार करना आवश्यक है। दूसरे, बिना बाह्य पदार्थों को माने विज्ञानों की विचित्रता समझ में नहीं आ सकती। किसी विशेष क्षण में एक विशेष विज्ञान क्यों उत्पन्न होता है इस का कारण विभिन्न वस्तुओं की उपस्थिति के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। पाश्चात्य विज्ञानवादी बर्कले ने विज्ञानों की विभिन्नता का कारण ईश्वर को बतलाया था। परंतु ईश्वर की सत्ता सिद्ध करना सरल नहीं है। बर्कले धार्मिक व्यक्ति था और उस के युग में भी ईश्वर की सत्ता में सहज विश्वास था। बौद्ध लोग जन साधारण के अर्थ में ईश्वर को नहीं मानते।

क्योंकि स्वलक्षणों का ज्ञान अनुमान से होता है इस लिए उन के विषय में संशयात्मक भाषा का ही प्रयोग करना चाहिए। वास्तव में वैभाषिकों के मत में भी 'स्वलक्षणों' का ज्ञान सिद्ध नहीं होता। जो संसार के सब पदार्थों से विलक्षण है ऐसे स्वलक्षण का वर्णन ही नहीं हो सकता; इस प्रकार के अनंत स्वलक्षण अनंत अज्ञेय पदार्थ ही समझने चाहिए। सौत्रांतिक के मत में तो स्वलक्षणों की सत्ता भी अनुमान-साध्य है। स्वलक्षणों का प्रत्यक्ष नहीं होता। इस लिए उन के विषय में कुछ भी कहना और भी कठिन है। फिर भी सौत्रांतिक मानते हैं कि बाह्य पदार्थ क्षणिक हैं।

सौत्रांतिकों के इस मत का कि बाह्य पदार्थों की उपस्थिति अनुमान-द्वारा जानी जाती है, वैभाषिकों ने खंडन किया है। वास्तव में सौत्रांतिक-कृत अवेक्षण का[1] का विश्लेषण मनुष्यों की साधारण-बुद्धि के विरुद्ध है। मेरा अनुभव यही है कि मैं पेड़ को देखता हूं। यह कहना कि वास्तव में मैं पेड़ की मानसिक तस्वीर या विज्ञान देखता हूं और उस से पेड़ का अनुमान करता हूं व्यर्थ का पांडित्य है। "तुम पहले पेड़ का मानसिक या चैत्त विकार देखते हो और फिर उस के द्वारा बाह्य पेड़ की ओर संकेत करते हो",

[1] अवेक्षण अर्थात् देखने की क्रिया या घटना; 'दर्शन-क्रिया' में क्या होता है इस का विश्लेषण अथवा निरूपण।

यह वस्तु-स्थिति का ठीक वर्णन नहीं मालूम होता। सीधी बात यह है कि मैं आँख खोलते ही तुरंत पेड़ को देख लेता हूं।

वैभाषिकों के समान सौत्रांतिक भी परमाणुवाद, नैरात्म्यवाद और अनीश्वरवाद के समर्थक हैं। सम्यक् ज्ञान से सारी इच्छाएं पूरी हो सकती हैं। सारा ज्ञान व्यावहारिक या प्रयोजन-मूलक होता है। मिथ्या ज्ञान वह है जिस से प्रयोजन-सिद्धि न हो सके। स्वप्न के जल से प्यास नहीं बुझती। धर्मोत्तर ने अपने न्यायबिंदु में उस दर्शन या प्रेक्षण अथवा इंद्रिय-प्रत्यक्ष को सत्य कहा है जो सर्वथा दृष्ट पदार्थ पर निर्भर हो, जिस में कल्पना ने कुछ जोड़ना या घटाना न कर दिया हो। नाम और संबंध बौद्धिक हैं, इस लिए सत्य को विकृत करनेवाले हैं। नाम और संबंधहीन निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में स्वलक्षणों का वास्तविक रूप प्रकट होता है।

संसार का कोई बनाने वाला नहीं है। यह सृष्टि अनादि काल से यों ही चली आ रही है। प्रत्येक घटना के एक से अधिक कारण होते हैं, इस लिए एक सृष्टि-कर्ता जगत का कारण नहीं हो सकता।

हीनयान के दो दार्शनिक संप्रदायों का वर्णन हम कर चुके। महायान के अंतर्गत भी दो प्रसिद्ध दर्शन हैं—योगाचार और माध्यमिक। योगाचार को विज्ञानवाद और 'ज्ञानाद्वैतवाद' भी कहते हैं। योगाचार मत में अनेक शिक्षक हुए हैं और उन के सिद्धांतों में कहीं-कहीं भेद हैं। योगाचार नाम से प्रकट होता है कि इस मत के माननेवालों की यौगिक क्रियाओं में आस्था है और उन्हों ने अपने दार्शनिक सिद्धांतों को योगाभ्यास-जनित अनुभव के बल पर प्रतिपादित किया है।

योगाचार अथवा विज्ञानवाद

सौत्रांतिकों की आलोचना ही योगाचार-दर्शन को गति-प्रदान करती है। सौत्रांतिकों ने मानसिक तस्वीरों अथवा विज्ञानों को प्रत्यक्ष-गोचर और बाह्य पदार्थों को अनुमेय ठहराया था। मानसिक तस्वीरों का कोई बाह्य कारण होना चाहिए। विज्ञानवादी बाह्य संसार की सत्ता को एकदम

अस्वीकार कर देता है। सौत्रांतिकों की जो आलोचना वैभाषिकों ने की थी उस से योगाचार की आलोचना भिन्न है। योगाचार मानता है कि हमें प्रत्यक्ष 'विज्ञानों' का ही होता है, बाह्य पदार्थों का नहीं। इस विषय में उस का सौत्रांतिक से मतभेद नहीं है। पर वह आगे बढ़ कर सौत्रांतिक के विरुद्ध कहता है—इसीलिए बाह्य पदार्थों की सत्ता मानने की ज़रूरत नहीं है। जिन पदार्थों का कभी प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता उन के मानने से क्या लाभ ? यह आवश्यक नहीं कि विज्ञानों के प्रादुर्भाव के कारण बाह्य पदार्थ ही हों। विज्ञानों के कारण स्वयं विज्ञान भी हो सकते हैं। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे क्षणिक विज्ञान को उत्पन्न करके नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार विज्ञानों का प्रवाह चलता रहता है। विज्ञानों का यह प्रवाह या विज्ञान-संतान, ही चरम तत्व है। विज्ञानों की धारा के अतिरिक्त संसार में कुछ भी नहीं है। योगाचार बाह्य जगत और आत्मा दोनों की सत्ता से इनकार करते हैं।

यदि सब कुछ विज्ञान-मात्र ही है तो पदार्थ 'बाहर' क्यों दीखते हैं ? विज्ञान तो द्रष्टा के भीतर होते हैं, यही नहीं बल्कि यह विज्ञान-संतति ही आत्मा या द्रष्टा है, तो फिर सब पदार्थ मुझ में हैं या मैं ही सब कुछ हूं, ऐसा अनुभव होना चाहिए। इस के विपरीत, यह पदार्थ मुझ से भिन्न और बाहर हैं, ऐसा अनुभव क्यों होता है।

विज्ञानवाद का उत्तर है कि द्रव्य, गुण आदि की भाँति 'बाहरपन' की धारणा भी काल्पनिक या बुद्धि-सापेक्ष है। इस लिए यह आक्षेप कोई बड़ी कठिनाई उपस्थित नहीं करता।

विज्ञानवाद का सब से बड़ा तर्क स्वप्नों की सृष्टि से मिलता है। स्वप्न में, विपक्षियों के अनुसार भी, बाह्य भौतिक पदार्थ नहीं होते। फिर भी वहां तरह-तरह के पदार्थ दीखते हैं। वैचित्र्य की व्याख्या के लिए बाह्य जगत् आवश्यक नहीं है। स्वप्न के हाथी-घोड़े भी द्रष्टा के 'बाहर' दिखाई देते हैं। इस लिए 'बाहरपन' की सिद्धि के लिए बाह्य जगत की सत्ता

मानना आवश्यक है।

योगाचारों की मिथ्या-दर्शन की व्याख्या आत्म-ख्याति कहलाती है।

आत्म-ख्याति

शुक्ति या सीप में रजत या चाँदी दिखाई पड़ती है, रज्जु (रस्सी) में सर्प दिखाई देता है, इस का क्या कारण होता है? योगाचार का उत्तर है कि मानसिक विज्ञान ही बाहर रजताकार में परिणत हो जाता है। विज्ञान-संतान या विज्ञान-शृंखला की ही एक कड़ी, जिसे दूसरी कड़ियों से अलग करके नहीं देखा जा सकता, रजत-रूप में दिखाई देने लगती है। रजत का दूसरा कोई आधार नहीं होता।

आत्म-ख्याति के आलोचकों का कहना है कि सुख, दुःख आदि की तरह रजत को आंतरिक नहीं माना जा सकता। फिर 'बाहरपन' का भ्रम क्यों होता है, यह विज्ञानवादी नहीं बता सकते। जिस ने कभी सर्प नहीं देखा है उसे सर्प का भ्रम नहीं हो सकता, इस प्रकार जिसे बाह्यता (बाहरपन) का स्वतंत्र अनुभव नहीं है, उसे उस का भ्रम भी नहीं हो सकता। जिस का भ्रम होता है उस का कहीं सत्य अनुभव भी होना चाहिए। विष्णुमित्र वंध्या-पुत्र (बाँझ का बेटा) प्रतीत होता है, ऐसा भ्रम किसी को नहीं होता।[1] कारण यही है कि बाँझ के पुत्र का प्रत्यक्ष अनुभव किसी ने नहीं किया है।

विज्ञानवाद स्कॉटलैंड के प्रसिद्ध दार्शनिक बर्कले के सिद्धांतों से मिलता-जुलता है। बर्कले ने विज्ञानों (आइडियाज़) का कारण ईश्वर और व्यक्तिगत आत्माओं को भी माना था। यहाँ बर्कले विज्ञानवादियों की अपेक्षा कम संगत था। वास्तव में अनुभव ईश्वर और जीवात्माओं की सत्ता की गवाही नहीं देता। बर्कले के बाद ह्यूम ने ईश्वर आदि को मानने से इनकार कर दिया। अनुभव के बल पर विज्ञानों के अतिरिक्त किसी वस्तु की सत्ता सिद्ध नहीं होती। ह्यूम ने कार्य-कारण संबंध की सत्यता

[1]वेदांत सूत्र, शांकरभाष्य, २, २, २८

में भी संदेह किया। हमारी द्रव्य, गुण, कारणता, व्याप्तता आदि की बौद्धिक धारणाएं सृष्टि-क्रम के अनुकूल ही हैं, यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता।

इस के बाद हम विज्ञानवाद के कुछ विशिष्ट विचारकों का वर्णन करेंगे। इन विचारकों में आंतरिक मतभेद भी हैं। विज्ञानवाद का सब से प्राचीन विचारक 'अश्वघोष' है।

अश्वघोष का भूत-तथता-दर्शन

संसार की सारी वस्तुएं विज्ञान का ही विकार हैं। विज्ञान के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है। नदी, पर्वत, वृक्ष जीवजंतु सब विज्ञान स्वरूप हैं—सर्वं बुद्धिमयं जगत्। यह विज्ञानवाद की मूल शिक्षा है। इस विज्ञान-प्रवाह के पीछे क्या कोई शाश्वत तत्त्व है? विज्ञानवाद के अत्यंत प्राचीन शिक्षक अश्वघोष ने इस का उत्तर भावात्मक दिया था। अश्वघोष कनिष्क का समकालीन था (१०० ईसवी)। वह दार्शनिक और कवि दोनों था। प्रसिद्ध 'बुद्धचरित' की रचना अश्वघोष ने ही की है। विज्ञान-संतान के पीछे जो विश्व-तत्त्व है उसे अश्वघोष ने 'भूततथता' नाम दिया था। अश्वघोष ने उपनिषदों का अध्ययन किया था और उस की 'भूततथता' का वर्णन निष्प्रपंच ब्रह्म के वर्णन से मिलता है। हमारे आध्यात्मिक जीवन के दो पहलू हैं, एक का संबंध भूततथता से है और दूसरे का परिवर्तनशील विज्ञान-प्रवाह से। मनुष्य स्थिर और अस्थिर का मिश्रण है। वास्तव में भूततथता निःस्पंद और एक-रस है। अनादि वासना के कारण हमें उस में विज्ञान-बुद्बुद उत्पन्न होते दीखते हैं।[1] भूततथता का वर्णन नहीं हो सकता। वह न सत् है न असत्, न एक है न अनेक। भूततथता अभावात्मक है क्योंकि वह जो कुछ है, उस से परे है। वह भावात्मक है क्योंकि सब कुछ उस के अंतर्गत है, उस से परे

[1] इंडियन आइडियलिज़्म, पृ० ८०

कुछ भी नहीं है। अविद्या से मुक्त होने पर भूततथता या विश्वतत्व का वास्तविक रूप प्रकट होता है। अज्ञान के झोंकों से चलायमान चित्त में वासना की लहरें उत्थित होती हैं। अविद्या के कारण 'अहंभाव' उत्पन्न होता है जिस से दुःख होता है। वस्तुतः न दुःख है, न बंधन। सब सदा से मुक्त ही हैं। भूततथता में सृष्टि और प्रलय का दृश्य अज्ञान के कारण है। चित्त के शांत होने पर वस्तुओं की अनेकता अपने आप नष्ट हो जाती है।

लंकावतारसूत्र

लंकावतार सूत्र का दर्शन अश्वघोष के सिद्धांतों से काफ़ी समानता रखता है। यह ग्रंथ महायानों में पवित्र माना जाता है। 'भूततथता' के स्थान पर लंकावतार सूत्र में 'आलयविज्ञान' शब्द का प्रयोग भी किया गया है। हमारा दृश्य जगत का ज्ञान बिलकुल निराधार है। दृश्य पदार्थों में कोई तत्व नहीं है। दृश्य जगत न तो आलय विज्ञान ही है न उस से भिन्न; लहरों को समुद्र से न भिन्न कहा जा सकता है न अभिन्न।[1] वास्तव में लंकावतार में दो प्रकार का दर्शन पाया जाता है, एक उच्च और एक नीची श्रेणी का।[2] कहीं-कहीं तो एक चरम तत्व—आलयविज्ञान या भूततथता—में विश्वास प्रकट किया गया है, कहीं अश्वघोष के सिद्धांत की आलोचना की गई है।[3] एक आलय-विज्ञान या भूततथता नाम का अंतिम तत्व है, यह कथन लोकबुद्धि के साथ एक प्रकार की रियायत है। अश्वघोष की 'तथता' शून्यता नहीं है बल्कि एक भावात्मक पदार्थ है। 'लंकावतार' का किसी भाव पदार्थ में विश्वास नहीं है।[3] सत् असत् की धारणाएं झूठी हैं। कार्य-कारण में विश्वास भी मिथ्या है। संसार के पदार्थ माया-मात्र हैं और स्वप्न सृष्टि के समान झूठे हैं। लंकावतार कहीं-कहीं

---

[1] इंडियन आइडियलिज़्म, पृ० ९२ [2] वही, १०३

[3] वही, पृ० १०१

'आलय-विज्ञान' के चरम तत्व होने का वर्णन करता है, परंतु उस का अंतिम मत यही है कि विश्व में कोई तत्व नहीं है। अश्वघोष ने भूततथता का सुंदर वर्णन किया है। 'भूततथता के अनेक नाम है। यदि इसे चित्त को शांति देने वाला कहें तो यह निर्वाण है। यही बोधि है जो अज्ञान का नाश करती है। प्रेम और बुद्धि का स्रोत होने से यही धर्मकाय कहलाती है। यही कुशलमूल है।' (यामाकामी) लंकावतार को यह वर्णन स्वीकार नहीं होगा।

असंग और वसुबन्धु

दर्शन-क्रिया वास्तव में सृष्टि-क्रिया है। देखने और जानने का अर्थ दृश्य और ज्ञेय पदार्थों को उत्पन्न करना है। स्मरण भी एक प्रकार की सृष्टि है। विज्ञानवाद के मुख्य सिद्धांत का प्रचार करने का बहुत कुछ श्रेय असंग और वसुबंधु को है। स्वप्न की समता के अतिरिक्त जगत को विज्ञानमय सिद्ध करने के लिए विज्ञानवाद के दो तर्क हमें और देख लेने चाहिए।

आत्मावगति (अपनी अवगति या अनुभूति) में आत्मा स्वयं ही ज्ञेय और ज्ञाता होता है। 'मैं हूं' के ज्ञान में जानने वाला और ज्ञेय एक ही पदार्थ है। इसी प्रकार सारे विज्ञान ज्ञाता और ज्ञेय दोनों हैं। ज्ञातृरूप से देखने पर विज्ञान-संतान 'आत्मा' प्रतीत होता है और ज्ञेयरूप से देखने पर पदार्थ-समूह; वास्तव में विज्ञानों के अतिरिक्त कहीं कुछ नहीं है।

तीसरी युक्ति 'सहोपलंभ नियम' पर निर्भर है। नीला रंग और नीले रंग की बुद्धि या विज्ञान साथ ही साथ ग्रहण किए जाते हैं। इस लिए दोनों में अभेद है (सहोपलंभ नियमादभेदो नील तद्धियोः)। दो चीज़ों में भेद ज्ञान होने के लिए यह आवश्यक है कि उन का अनुभव अलग-अलग हो। जो वस्तुएं हमेशा साथ-साथ अनुभूत होती हैं उन में भेद-ज्ञान असंभव है। यह तीसरी युक्ति मनोविज्ञान के अनुकूल है।

असंग और वसुबंधु के दर्शन में आलय विज्ञान का प्रयोग अश्वघोष के 'श्रद्धोत्पाद सूत्र' से भिन्न अर्थ में हुआ है। यहां आलय विज्ञान भेद-

शून्य अनिर्वचनीय पदार्थ की संज्ञा नहीं हैं। आलय-विज्ञान का अर्थ शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधमय वैचित्र्य-पूर्ण संसार है।[1] यही वैयक्तिक चेतना-केंद्रों का आधार है। अश्वघोष की भूततथता या लंकावतार के आलय-विज्ञान के लिए यहां "विज्ञप्ति मात्र" का प्रयोग होता है जोकि अनुभव से परे है[2]। वेदांतियों के ब्रह्म के समान ही 'विज्ञप्ति' विशुद्ध चैतन्य और आनंद-स्वरूप है; वह अपरिवर्तनीय और अनिर्वचनीय है। आलय विज्ञान का प्रवाह 'प्रतीत्यसमुत्पाद' के सिद्धांत का अनुसरण करता है। एक क्षणिक विज्ञान दूसरे को उत्पन्न करता है। पहले विज्ञान का अवसान और दूसरे का उदय साथ ही होते हैं। मुक्ति या निर्वाण का अर्थ है किसी विशेष चेतना-केंद्र से संबद्ध विज्ञानों या वासनाओं के प्रवाह का रुक जाना। मुक्त चेतना-केंद्र से संबद्ध होकर आलय-विज्ञान सक्रिय नहीं रहता। जब किसी चैतन्य-केंद्र की सारी वासनाएं और भावनाएं विशुद्ध आनंद में निमग्न हो जाती हैं तब उसे मुक्त हुआ कहते हैं। इस प्रकार असंग और वसुबंधु की मुक्ति अश्वघोष की अपेक्षा वेदांत से अधिक मिलती है। उन्हें हम इस मत का प्रारंभक नहीं कह सकते।

विज्ञानवाद का महत्त्व

उपनिषदों के अद्वितीय ब्रह्म में गति नहीं है इस लिए वह जगत की व्याख्या करने में असमर्थ है। ज्ञानाद्वैत या विज्ञानवाद इस कमी को पूरी करने की कोशिश करता है। आलय-विज्ञान स्थिर तत्त्व नहीं है बल्कि गत्यात्मक है। वस्तुतः अंतिम तत्त्व में गति या परिवर्त्तनीयता है या नहीं, इस विषय में विज्ञान-वाद के विभिन्न विचारकों का एकमत नहीं है। अश्वघोष की भूततथता के विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। वसुबन्धु की 'विज्ञप्ति' ब्रह्म से विशेष भिन्न नहीं है। फिर भी यदि क्षणिकवाद को बौद्धों का व्यापक सिद्धांत माना जाय तो भेद-रहित चरम तत्त्व भी गत्यात्मक ही होना चाहिए, भले ही वह गति एकरस हो। वेदांतियों की भाँति बौद्धों ने भी विश्व-

[1] इंडियन आइडियलिज़्म, पृ० ११९ [2] वही, पृ० ११९

वैचित्र्य की व्याख्या के लिए अविद्या का आह्वान किया। वासना-प्रवाह अनादि और अविद्या-मूलक है। भेद इतना ही है कि बौद्धों ने विश्व-तत्व को मान कर भी उसे सर्वथा जड़ और स्पंद हीन नहीं बना दिया।

विश्व के दर्शन-साहित्य में विज्ञानवाद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। जहां जड़वादी विचारक आत्मा और आध्यात्मिक पदार्थों की सत्ता से इनकार करते हैं अथवा उन्हें जड़ का विकार बतलाते हैं वहां विज्ञानवादी विश्व की जड़ से जड़ वस्तुओं को आध्यात्मिकता का जामा पहना कर मनोमय सिद्ध कर देते हैं। किसी भी जड़ पदार्थ को चेतन के ज्ञान से अलग नहीं किया जा सकता। जिसे कोई नहीं जानता उस के विषय में तो कुछ भी कहना असंभव है। इस लिए चेतन का ज्ञेय होना पदार्थों का सामान्य गुण मालूम होता है। जितनी चीज़ें हैं वे सब ज्ञेय हैं। ज्ञेयत्व पदार्थों का आवश्यक धर्म है। इस का अर्थ यह है कि सारे पदार्थ एक प्रकार से ज्ञाता के भीतर हैं। यदि स्वप्न के पदार्थ मनोमय हो सकते हैं तो जाग्रति काल में भी बाह्य जगत के मनोमय होने में आश्चर्य नहीं करना चाहिए। बिना चेतन विज्ञानों के विश्व के पदार्थों की सत्ता ही नहीं हो सकती। सहोपलंभ नियम भी इसी की पुष्टि करता है।

विज्ञानवाद की आलोचना

ज्ञानाद्वैतवाद या चेतनाद्वैतवाद भारतवर्ष की ही चीज़ें नहीं हैं, योरुप में भी इन दर्शनों का यथेष्ट प्रचार रहा है। उन्नीसवीं शताब्दी के प्रमुख योरुपीय विचारक चेतनाद्वैतवादी थे। फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां का मत विज्ञानवाद से बहुत समानता रखता है। प्रसिद्ध चेतनाद्वैती ब्रेडले ने अपने ग्रंथ 'ऐपि-यरेंस एंड रिअलटी' में लिखा है—संसार की जितनी चीज़ें हैं सब चेतन अनुभव-केंद्रों से संबद्ध हैं, आप कोई चीज़ ऐसी नहीं बतला सकते जिस का किसी चेतन के अनुभव से संबंध न हो; इस लिए विश्व के सारे पदार्थ चेतन-अनुभव के स्वभाव के हैं। चेतन-अनुभूति ही विश्व का चरम तत्व है। ब्रेडले का चरम तत्व सत्, असत्, गत्यात्मक या गतिशून्य कुछ भी

नहीं कहा जा सकता। सारे पदार्थ उस में लीन होकर उस के समंजस रूप की रक्षा करते हैं। विश्वतत्त्व की समंजसता और शांति दुख-सुख आदि से नष्ट नहीं होती। यही नहीं देश-काल, सुख-दुख, सत्य और मिथ्याज्ञान के विवर्तों (एपियरेंसेज़) के बिना विश्वतत्त्व अपने सामंजस्य को अक्षुण्ण नहीं रख सकता। संसार की सारी वस्तुएं जैसी हैं वैसी ही विश्वतत्त्व या ब्रह्म के निर्बाध और निर्विरोध रूप के लिए आवश्यक हैं।

ब्रेडले 'अविद्या' का ज़िक्र नहीं करता। हमारा ज्ञान परिमित या विपरीत क्यों है, हमें विश्वतत्त्व खंड-खंड होकर क्यों दीखता है, इस का कारण बतलाने में ब्रेडले असमर्थ है। दृश्यमान जगत् जैसा है वैसा क्यों है, यह मानव-बुद्धि कभी नहीं जान सकती। फिर भी यह निश्चित है कि (१) विश्वतत्त्व एक और निर्विरोध है; (२) विश्व-तत्त्व का स्वरूप चेतनानुभूति है।

भारतीय दार्शनिकों ने प्रायः विश्वतत्त्व के विवर्तों का कारण अविद्या को बतलाया है। वे हमारे अनुभव के संसार को चरमतत्त्व से सर्वथा भिन्न प्रकार का और अविद्या-कल्पित बतलाते हैं। वेदांत का यही मत है। विज्ञानवाद का मत इस से विशेष भिन्न नहीं है।

विज्ञानाद्वैत या चेतनाद्वैत का मुख्य तर्क यही है कि 'संसार के पदार्थों को द्रष्टा या साक्षी के अनुभव या विज्ञानों से अलग नहीं किया जा सकता।' ज्ञेय होना विश्व के पदार्थों का साधारण धर्म है। इस कथन के दो जुदे-जुदे अर्थ हो सकते हैं। प्रथमतः यह कि संसार के सारे पदार्थ ज्ञेय हैं; कोई ऐसी चीज़ नहीं है जो ज्ञाता की बुद्धि के नियमों के प्रतिकूल हो और जिसे बुद्धिद्वारा न जाना जा सके। दूसरा अर्थ यह है कि संसार की सारी चीज़ें किसी न किसी के ज्ञान में रहती हैं; कोई चीज़ सर्वथा अज्ञात नहीं रह सकती। पहले अर्थ में उक्त कथन को माना जा सकता है। दूसरे अर्थ में यह कथन आपत्ति-जनक है। वैज्ञानिकों का अनुमान है कि महाशून्य में करोड़ों, अरबों तारे और तारापुंज हैं जिन्हें

दूरवीक्षण यंत्र से भी नहीं देखा जा सकता। विज्ञानवाद के अनुसार उन की सत्ता किसी चेतन अनुभव-केंद्र के विज्ञानों के साथ ही हो सकती है (सहोपलंभनियम)। इस का अर्थ यह हुआ कि कोई न कोई उन्हें जानता है। परंतु वह 'कोई' कौन है यह बताना टेढ़ी खीर है। शायद वेदांती अपने ब्रह्म की ओर संकेत कर दें। विज्ञानवादी कह सकते हैं कि विज्ञान किसी अनुभव-केंद्र के आश्रित ही हों, यह आवश्यक नहीं है। परंतु विज्ञाता के बिना विज्ञान का क्या अर्थ हो सकता है, यह समझना कठिन है।

सहोपलंभ-नियम से भी पदार्थों और विज्ञानों की एकता सिद्ध नहीं होती। पत्थर गिरने और पानी में लहरें उठने का अनुभव साथ साथ होता है पर इस का यह अर्थ नहीं कि पत्थर का पतन और लहरों का उत्थान एक ही चीज़ है। स्वप्न का उदाहरण भी संतोष-प्रद नहीं है। स्वप्नों का आपेक्षिक मिथ्यापन जाग्रत जगत के विरोध के कारण होता है। जाग्रतकाल का अनुभव स्वप्नकाल के अनुभव का विरोधी है। स्वप्न में बाह्य पदार्थ नहीं होते यह ज्ञान जाग्रतावस्था की अपेक्षा से है। जाग्रतावस्था को स्वप्न बना देने पर दोनों में कोई भेद नहीं रह जायगा और विज्ञानवादी स्वप्न का उदाहरण भी नहीं दे सकेंगे। उस दशा में 'स्वप्न में बाह्य पदार्थ नहीं होते' यह कथन अर्थ-हीन हो जायगा। दूसरे, मनोविज्ञान की दृष्टि से, यह कहना कि स्वप्न निर्विषयक होते हैं, ठीक नहीं। पहले इंद्रिय-विज्ञानों के संस्कार ही स्वप्नों का कारण होते हैं। कुछ मानस शास्त्रियों का तो यह भी कहना है कि स्वप्न का आरंभ सोते समय बाहर से ज्ञानेंद्रियों पर किसी प्रकार का आघात हुए बिना नहीं हो सकता।

विज्ञान-संतान स्वयं ही ज्ञाता और ज्ञेय कैसे हैं, यह भी समझ में नहीं आता। विज्ञानों को पिरोने के लिए एक सूत्र चाहिए जो विज्ञानवाद में नहीं मिलता। विभिन्न विज्ञानों में एकता का कारण उपस्थित किए

बिना एक जीवन की वैयक्तिकता की व्याख्या नहीं की जा सकती। क्या कारण है कि एक विशेष विज्ञान-समूह मेरे अपने मालूम होते हैं? विज्ञान-संतति में व्यक्तित्व की एकता कहां से आती है यह विज्ञानवाद की सब से जटिल समस्या है। बड़े आश्चर्य की बात है कि व्यक्तियों के जीवन में एक विज्ञान सारे विज्ञानों की एकता का अनुभव करता है। 'यह मैं ने देखा था, सुना था, मैं वही हूं' इस अभूतपूर्व विज्ञान या अनुभव का कारण समझ में नहीं आता। विज्ञानवाद में स्मृति और प्रत्यभिज्ञा बनती, यह पहले ही कह चुके हैं।

माध्यमिक का शून्यवाद

सौत्रांतिकों का कहना था कि बाह्य जगत् के पदार्थों का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं हो सकता। इस पर योगाचार ने एक क़दम आगे बढ़ कर कहा कि यदि बाह्य पदार्थों का ठीक ज्ञान ही नहीं हो सकता तो उन्हें मानना अनावश्यक है। जो बुद्धिगम्य नहीं हैं, जिस का ठीक से विचार नहीं किया जा सकता, वह असत् अथवा मिथ्या है। इसी प्रकार शून्यवादी भी जगत् को बुद्धिगम्यता की कसौटी पर कस कर उस की सत्यता और असत्यता का निर्णय करना चाहते हैं। हमारी जगद्-विषयक सारी धारणाएं असंगत हैं; हम द्रव्य, गुण, गति, परिवर्तन, आकाश, काल आदि शब्दों का प्रयोग करते हैं लेकिन उन का कोई निश्चित अभिप्राय भी है, इस पर विचार नहीं करते 'मूलमध्यमकारिका' का लेखक इन धारणाओं की विविध व्याख्याओं की आलोचना करके यह परिणाम निकालता है कि यह सारी धारणाएं विरोधाभासों से भरी पड़ी हैं। क्योंकि विज्ञान या मानसिक कल्पनाएं भी बाह्य पदार्थों की भाँति बुद्धिगम्य नहीं हैं, इस लिए बाह्य जगत् की तरह उन की भी सत्ता नहीं माननी चाहिए। संसार में शून्यता ही तत्त्व है, शून्य के अतिरिक्त कहीं कुछ भी नहीं है।

'प्रतीत्य समुत्पाद' के माननेवाले अन्य बौद्ध संप्रदायों ने वस्तुओं की उत्पत्ति में विश्वास प्रकट किया है; नागार्जुन का मत है कि उत्पत्ति की

धारणा ही विरोधमूलक है। आप उत्पत्ति शब्द की व्याख्या नहीं कर सकते। उत्पत्ति का कोई भी संगत अर्थ विचार करने पर नहीं मिल सकता। नागार्जुन की शैली अभावात्मक है; उस के तर्क भी वैसे ही हैं। उत्पत्ति क्या है, यह बताना उस का उद्देश्य नहीं है; उत्पत्ति का कोई भी अर्थ युक्तियुक्त नहीं है, यह सिद्ध कर देना ही उस का काम है। 'मूल-मध्यमकारिका' का पहला श्लोक इस प्रकार है—

न स्वतो नापि परतो न द्वाभ्यां नाप्यहेतुतः।
उत्पन्ना जातु विद्यते भावाः क्वचन केचन।

न स्वतः उत्पद्यन्ते भावाः तदुत्पादवैयर्थ्यात्। अति प्रसंग दोषाच्च। नहि स्वात्मना विद्यमानानां पदार्थानां पुनरुत्पादे प्रयोजनमस्ति। न परतः उत्पद्यन्ते भावाः सर्वत्र सर्व-संभव-प्रसंगात्। द्वाभ्यामपि नोत्पद्यन्ते उभय पक्षाभिहित दोष-प्रसंगात्। अहेतुतो नोत्पद्यन्ते भावाः सदा च सर्वतश्च सर्वसंभवप्रसंगात् (बुद्धपालित)

उक्त कारिका पर बुद्ध पालित का उपर्युक्त भाष्य चंद्रकीर्ति ने उद्धृत किया है। कारिका कहती है कि संसार में अपने से उत्पन्न, दूसरे भाव पदार्थों से उत्पन्न, उभयथा उत्पन्न अथवा हेतु बिना उत्पन्न भाव पदार्थ कहीं कोई भी नहीं है। भाव पदार्थों का सर्वथा अभाव है।

यदि कहो कि भाव पदार्थ अपने से उत्पन्न होते हैं तो ठीक नहीं क्यों कि ऐसी दशा में उत्पत्ति व्यर्थ हो जायगी। कोई नई चीज़ पैदा न हो सकेगी। अतिप्रसंग दोष भी होगा। जो पदार्थ मौजूद हैं उन की उत्पत्ति का प्रयोजन ही क्या हो सकता है ? यदि कहा जाय कि स्वेतर (अपने से भिन्न) भाव पदार्थों से दूसरे पदार्थ उत्पन्न होते हैं तो भी ठीक नहीं क्यों-कि उस दशा में किसी वस्तु से कोई भी दूसरी वस्तु उत्पन्न हो जायगी। भावपदार्थ अपने से और अपने से भिन्न दोनों से उत्पन्न होते हैं, यह पक्ष भी ठीक नहीं क्योंकि इस में पहले दोनों पक्षों के दोष मौजूद हैं।

यदि कहो कि बिना कारण के ही भावपदार्थ उत्पन्न हो जाते हैं, तो यह भी असंगत है। कारण के बिना कार्य नहीं होता यह सर्वमान्य सिद्धांत है। यदि बिना हेतु के पदार्थ उत्पन्न हो सकते तो सर्वत्र सब चीजें संभव होतीं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव पदार्थों की उत्पत्ति समझ में नहीं आती। इस लिए कहीं से भी उत्पन्न हुए भाव पदार्थ नहीं हैं। माध्यमिक का यह विचार बड़ा दुस्साहस मालूम होता है। शून्यवाद की सिद्धि के लिए यही एक तर्क यथेष्ट है पर पाठकों को मानों विश्वास दिलाने के लिए ही नागार्जुन विविध बौद्धिक धारणाओं की परीक्षा करने को अग्रसर होता है।

अनुभूत पदार्थों में गति का अनुभव बहुत साधारण है। प्रत्येक भौतिक क्रिया में गति या स्पंदन होता है। नागार्जुन का कथन है कि गति नाम को कोई चीज़ तर्क के आगे नहीं ठहरती। इसी प्रकार गमन, गन्ता और गत (गया हुआ मार्ग) की धारणाएं भी निरर्थक हैं। नीचे हम कुछ कारिकाएं अनुवाद सहित देते हैं (द्वितीय प्रकरण देखिए):—

यदेव गमनं गंता स एव हि भवेद्यदि
एकीभावः प्रसज्येत कर्त्तुः कर्मण एव च।
अन्य एव पुनर्गन्ता गतेर्यदि विकल्प्यते
गमनं स्यादृते गन्तुर्गन्ता स्याद् गमनादृते।
एकीभावेन वा सिद्धि र्नाना भावेन वाययोः।
न विद्यते तयोः सिद्धिः कथं नु खलु विद्यते।

अर्थः— जो गमन (जाना) है वही यदि गंता (जाने वाला) भी हो तो कर्ता और कर्म का एकीभाव हो जायगा। और यदि गंता को गमन से अलग माना जाय तो गंता के बिना गमन (जाने वाले के बिना जाने का कर्म) और गमन के बिना गंता को मानना पड़ेगा, जो संभव नहीं है। जिन की अलग-अलग सिद्धि नहीं होती और जो एक करके

भी समझ में नहीं आते उन की (वास्तविकता की) सिद्धि किस प्रकार हो सकती है ?

गतं न गम्यते तावदगतं नैव गम्यते
गतागतविनिर्मुक्तं गम्यमानं न गम्यते।
गन्ता न गच्छति तावदगन्ता नैव गच्छति
अन्यो गन्तुरगन्तुश्च कस्तृतीयो हि गच्छति।
गन्ता तावद् गच्छतीति कथमेवोपपत्स्यते
गमनेन विना गन्ता यदा नैवोपपद्यते
गते नारभ्यते गन्तुं गन्तुं नारभ्यतेऽगते।
नारभ्यते गम्यमाने गन्तुमारभ्यते कुह।

भावार्थः— जिस रास्ते पर चला जा चुका उसे 'गत' कहते हैं; जहां नहीं चला जा चुका उसे 'अगत' कहना चाहिए। जो गत है उस पर नहीं जाया जाता—जो रास्ता तय कर लिया उस पर नहीं चला जाता—जो अगत है उस पर भी 'चला जा रहा है' ऐसा नहीं कह सकते। गत और अगत के अतिरिक्त गम्यमान कोई स्थान नहीं है जहां चलने की क्रिया की जाती है।

रास्ता दो ही प्रकार का हो सकता है, या तो वह जिस पर गंता चल चुका या वह जिस पर अभी नहीं चला है। नागार्जुन का कहना है कि गत और अगत दोनों पर ही जाने की क्रिया संभव नहीं है। तीसरा कोई स्थान नहीं है जहां गमन-क्रिया संभव हो सके।

'गंता जाता है' यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि गमन के बिना 'गंता' संज्ञा ही नहीं हो सकती। गंता के साथ 'जाता है' जोड़ना व्यर्थ है। 'अगंता जाता है' यह तो स्पष्ट ही ठीक नहीं है। गंता और अगंता के अतिरिक्त तीसरा कौन है जिस के साथ 'जाता है' क्रिया लगाई जा सके ?

जो रास्ता तय कर चुके उस पर जाना शुरू नहीं किया जाता; जो रास्ता तय नहीं किया गया है उस पर भी जाना शुरू नहीं हुआ—अन्यथा

वह 'अगत' न कहलाता। इन दोनों के अतिरिक्त कौन सा स्थान है जहां जाना शुरू किया जाता है?

इसी प्रकार स्थिति भी संभव नहीं है। जो स्थित है वह स्थित होना प्रारंभ नहीं करता, जो स्थित नहीं है उसने भी स्थित होना शुरू नहीं किया है; इसका अर्थ यह है कि, स्थित होने' का आरंभ नहीं हो सकता।

नवम प्रकरण का नाम है 'अग्नीन्धन-परीक्षा'। नागार्जुन कहता है कि अग्नि के बिना इंधन और इंधन के बिन अग्नि समझ में नहीं आते। इंधन के बिना अग्नि की सत्ता संभव नहीं है और जो अग्नि के लिये जलाया नहीं जाता, उसका नाम इंधन नहीं हो सकता।

माध्यमिक कारिका के प्रकरण किसी क्रम का अनुसरण नहीं करते। दार्शनिक धारणाओं की समीक्षा करके नष्ट-भ्रष्ट करना ही उनका उद्देश्य मालुम होता है। चौथे प्रकरण में कार्य-कारण संबंध का विरोध दिखाया गया है। यदि कार्य-पदार्थ कारण-पदार्थ से भिन्न है तो इसका मतलब यह हुआ कि कारणहीन कार्य संभव है। कार्य की भिन्नता कारणता की घातक है। यदि कार्य कारण से अभिन्न है तो दो नाम देना व्यर्थ है। कारणता में उत्पत्ति की भावना वर्तमान है—कारण-कार्य को उत्पन्न करता है, लेकिन हम देख चुके हैं कि उत्पत्ति सर्वथा असंभव है।

बारहवें प्रकरण में नागार्जुन ने सिद्ध किया है कि 'दुख' नाम की वस्तु मिथ्या है। दुःख न स्वयंकृत हो सकता है न परकृत, न दोनों, न निर्हेतुक (अकारण); इसलिये दुःख नहीं हो सकता।

पन्द्रहवें प्रकरण में यह परिणाम निकाला गया है कि किसी वस्तु का, किसी भाव पदार्थ का 'स्वभाव' या स्थिर धर्म नहीं है। वस्तुओं में कोई ऐसा गुण या धर्म नहीं पाया जाता जिनसे उनकी निश्चित पहचान हो सके।

सोलहवें प्रकरण का नाम है बंधन-मोक्ष-परीक्षा। जिस प्रकार दुःख संभव नहीं है उसी प्रकार बंधन और मोक्ष भी संभव नहीं हैं। कर्मफल की धारणा भी विरोधग्रस्त है, यह अगले प्रकरण का विषय है।

सब प्रकार के परिवर्तन में गति होती है। गति न हो सकने का अर्थ है परिवर्तन का अभाव। इसका अभिप्राय यह हुआ कि नैतिक उन्नति भी भ्रम है। बाईसवें प्रकरण में बतलाया है कि 'तथागत' अथवा बुद्ध या मुक्त की सत्ता भी स्वविरोधिनी है। जिसके पंचस्कंध हों, वह तथागत नहीं होता; बिना स्कंधों के भी तथागत के अस्तित्व का क्या अर्थ होगा?

नागार्जुन के समझने में पाठकों को एक भूल से बचना चाहिए। नागार्जुन यह नहीं कहता कि हमें गति या परिवर्तन का अनुभव नहीं होता; उसका अभिप्राय यही है कि हम संसार की किसी भी वस्तु को बुद्धि द्वारा नहीं समझ सकते। वास्तविक पदार्थों को बुद्धिगम्य होना चाहिए।[1] चूँकि संसार में कोई चीज़ समझ में नहीं आती, इसलिए संसार सत् नहीं है, शून्यरूप है। इस प्रकार 'शून्यता' का एक विशेष अर्थ हो जाता है।

नागार्जुन की 'शून्यता' का क्या आशय है, यह विवादास्पद है।[2] हिंदू और जैन लेखक 'शून्य' का सीधा अर्थ लेते हैं, सब चीज़ों का 'अभाव'। कुछ न होने का नाम ही शून्यता है। सब पदार्थों का अत्यंताभाव ही शून्य है। यह नागार्जुन की अभावात्मक (निगेटिव) व्याख्या है। सर राधाकृष्णन् माध्यमिक दर्शन की कुछ भावात्मक व्याख्या के पक्षपाती हैं। जब नागार्जुन विश्व-तत्त्व को 'शून्य' कहता है तो उसका अभिप्राय यही है कि विश्वतत्त्व का वर्णन नहीं हो सकता। संसार के विषय में 'यह ऐसा है', इस प्रकार नहीं कह सकते। विश्वतत्त्व बुद्धिगम्य नहीं है। कारिका के आरंभ में ही हम पढ़ते हैं:—

अनिरोध मनुत्पाद मनुच्छेद मशाश्वतम्।
अनेकार्थमनानार्थ मनागममनिर्गमम्॥

अर्थात्—चरम तत्त्व नाशहीन और उत्पत्तिरहित है; यहां न

---

१ राधाकृष्णन्, भाग १, पृ० ६४८ २ वही, पृ० ६६७–७०३

उच्छेद है न नित्यता; यह अनेकार्थक है और अनेकार्थक नहीं भी है; यह आगम (आना) रहित है और निर्गम (जाना) रहित भी है। संसार विरोध-मूलक है, विरोधग्रस्त पदार्थों का समूह है; इसमें विरुद्ध गुण पाए जाते हैं। नागार्जुन के कुछ श्लोक शून्यवाद का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं,

क्लेशाः कर्माणि देहाश्च, इत्यादि
गंधर्व नगराकारा मरीचिस्वप्न सन्निभाः

अर्थात् क्लेश, कर्म, देह आदि गंधर्व नगर, मृग-मरीचिका और स्वप्नजगत् की भाँति असत् हैं। परन्तु माध्यमिकों का ही विश्व-तत्त्व के विषय में कथन है,

शून्यमिति न वक्तव्यम शून्यमिति वा भवेत्
उभय नोभयच्चेति प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते ॥[1]

अर्थात् इसे न शून्य कहना चाहिए न अशून्य, न दोनों, न दोनों से भिन्न; लोगों के समझाने के लिये कुछ कहना पड़ता है। वस्तुतः विश्व-तत्त्व अनिर्वचनीय है।

यदि यही नागार्जुन का वास्तविक मत है तो यह अद्वैत वेदांत और अश्वघोष या वसुबंधु के मत से सर्वथा भिन्न नहीं है। भेद यही है कि माध्यमिक जहां खण्डन करने में सबसे मुखर है वहां अपने मत को प्रतिपादन करने में सबसे कम बोलनेवाला है। इस मत को रहस्यवाद कहा जाय या अज्ञेयवाद यह निर्णायकों के वैयक्तिक पक्षपात और स्वभाव पर निर्भर होगा।

असत् ख्याति

माध्यमिकों की भ्रम या मिथ्याज्ञान की व्याख्या असत्-ख्याति कहलाती है। सीपी में चाँदी का भ्रम होता है। जहां चाँदी नहीं है वहां चाँदी दिखाई देती है, जहां सर्प नहीं है वहां (रस्सी में) सर्प दिखाई देता है। विश्व-

१ राधाकृष्णन, भाग १, पृ० ६६३

पदार्थों का दर्शन भी इसी प्रकार है। वास्तव में जगत् के पदार्थों की सत्ता नहीं है, पर वे दीखते हैं। इस प्रकार हमारा सारा इन्द्रिय-ज्ञान झूठा है। बौद्धिक धारणाएं भी झूठी हैं। ज्ञान कहीं नहीं है सर्वत्र अज्ञान है।

आलोचना

हिंदू दार्शनिक शून्यवाद को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। शून्यवाद पर विचार करना भी उन्हें स्वीकार नहीं है। जो कुछ नहीं मानता, दूसरों का खण्डन करना ही जिसका ध्येय है उसे न्याय की भाषा में वितण्डावादी या वैतण्डिक कहते हैं। माध्यमिक भी वितण्डावादी है। यदि सब कुछ शून्य है तो स्वयं माध्यमिकों का आचार्य और उसका मत भी शून्य ही समझना चाहिए। यदि असत्पदार्थों की प्रतीति हो सकती तो वंध्यापुत्र, खपुष्प (आकाशकुसुम) और *शशशृंग (खरगोश का सींग)* भी प्रतीत होते। माध्यमिक का अत्यंत अनादर करते हुये श्री शंकराचार्य लिखते हैं—शून्यवादिपक्षस्तु सर्वप्रमाणविप्रतिषिद्ध इति तन्निराकरणायनादरः क्रियते;[1] अर्थात् शून्यवादी का पक्ष तो सब प्रमाणों से प्रतिषिद्ध है, इसलिये उसके निराकरण की आवश्यकता नहीं। सब प्रमाणों से सिद्ध लोक-व्यवहार का अपह्नव (अभावोपदेश) नहीं हो सकता।

श्री वाचस्पति मिश्र का कथन है—अथनिस्तत्त्वं चेत्कथमन्यतत्त्वम-व्यवस्थाप्य शक्यमेवं वक्तुम्, अर्थात् किसी तत्व पदार्थ की स्थापना किये बिना निस्तत्वता का उपदेश नहीं बनता। 'तत्व' और 'निस्तत्व' शब्द एक दूसरे की अपेक्षा से ही समझे जा सकते हैं।

रत्नप्रभा कहती हैं:—

न च सत्वासत्वाभ्यां विचारासहत्वाच्छून्यत्वम्। मिथ्यात्व संभवात्। (देखिये वेदांतसूत्र, २।२।३१)

अर्थात् जगत् को सत् और असत् नहीं कहा जा सकता। इसका यही

---

[1] ब्रह्मसूत्र भाष्य, २।२।३१

अर्थ नहीं है कि जगत् 'शून्य' है। इसका यह अर्थ भी हो सकता है कि जगत् 'मिथ्या' है। मिथ्यात्व और शून्यत्व का भेद वेदांत के प्रकरण में स्पष्ट होगा। संभव है नागार्जुन के शून्य और वेदांतियों के 'मिथ्या' का एक ही अर्थ अभिप्रेत हो। तब तो वेदांतियों की आलोचना नागार्जुन को ठीक-ठीक न समझ सकने का परिणाम कही जायगी।

दूसरा अध्याय

न्याय-वैशेषिक

इसके बाद जिन संप्रदायों का वर्णन किया जायगा वे 'आस्तिक दर्शन' कहलाते हैं। वेद या श्रुति में विश्वास ही उनकी आस्तिकता है। न्याय और वैशेषिक में बहुत कुछ सैद्धान्तिक साहश्य है; भेद शैली या आलोचना-प्रकार मात्र का है। वैशेषिक की तत्वदर्शन में अधिक अभिरुचि है और न्याय की प्रमाण-शास्त्र या तर्कशास्त्र में। सर्वसाधारण में नैयायिक का अर्थ तार्किक समझा जाता है। वस्तुतः न्याय और वैशेषिक एक दूसरे के पूरक या सहायक हैं। दोनों को मिलाकर ही सम्पूर्ण दर्शन बनता है। दोनों के अनुयायियों ने भी इस बात को समझ लिया था। यही कारण है कि कुछ काल के बाद दोनों दर्शनों पर सम्मिलित ग्रन्थ लिखे जाने लगे। कुछ ऐसे लेखकों ने न्याय के अंतर्गत वैशेषिक का वर्णन कर डाला, कुछ ने वैशेषिक के अंतर्गत न्याय का। इस प्रकार के ग्रन्थों में अन्नंभट्ट का 'तर्कसंग्रह' और विश्वनाथ की 'कारिकावली' सबसे प्रसिद्ध हैं।

न्याय का साहित्य

न्याय का साहित्य बहुत विस्तृत है और आयतन में शायद वेदांत से ही कम हैं। गौतम का 'न्याय सूत्र' सबसे प्राचीन ग्रंथ है। 'न्याय सूत्र' का ठीक समय नहीं बताया जा सकता। 'भारतीय तर्कशास्त्र का इतिहास' (अंगरेज़ी में) के प्रसिद्ध लेखक श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण न्याय के प्रवर्त्तक मेधा तिथि गोतम का समय (५५०—५०० ई० पू०) बतलाते हैं।[1] अष्टावक्र का

---

[1] पृ० १७

भी लगभग यही समय है।[1] भारतीयों ने वाद-विवाद और शास्त्रार्थ करना ईसा से बहुत पहले सीख लिया था। बृहदारण्यक में तो गार्गी जैसी स्त्रियां भी शास्त्रार्थ में निपुण बतलाई गई हैं। गार्गी को याज्ञवल्क्य भी कठिनता से निरुत्तर कर सके। जनक जैसे प्राचीन राजा पण्डितों का शास्त्रार्थ सुनते थे। महाभारत में नारद के विषय में लिखा है—पंचावयव युक्तस्य वाक्यस्य गुणदोष वित्[2] अर्थात् कोई नारद पंचावयव-युक्त वाक्य के गुणदोषों को जाननेवाले थे। न्यायशास्त्र का सबसे प्राचीन नाम 'आन्वीक्षिकी' है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र (तृतीय शताब्दी ई० पू०) में आन्वीक्षिकी का नाम आदरपूर्वक लिया गया है।

आन्वीक्षिकी त्रयी वार्ता दण्डनीतिश्चेतिविद्याः।[3]
प्रदीपः सर्वविद्यानामुपायः सर्व कर्मणाम्।
आश्रयः सर्व धर्माणां शश्वदान्वीक्षिकी मता।[4]

अर्थात् आन्वीक्षिकी, त्रयी (वेद), वार्ता और दण्डनीति यह चार विद्याएं हैं। इस उद्धरण में आन्वीक्षिकी का नाम सबसे पहले लिया गया है। न्याय को हेतु-विद्या भी कहते हैं। 'न्याय' शब्द पारिभाषिक है। पंचावयवों का समूह न्याय कहलाता है; अंगरेज़ी में इसे 'सिलॉजिज़्म' कहते हैं। कौटिल्य ने लगभग ३२ पारिभाषिक शब्दों की सूची दी है। अत्यंत प्राचीन ब्राह्मण ग्रन्थों और उपनिषदों में प्रत्यक्ष, ऐतिह्य, अनुमान, तर्क, वाद, युक्ति, निर्णय, जल्प, प्रयोजन, प्रमाण, प्रमेय, वितण्डा आदि शब्द प्रयुक्त पाये जाते हैं। चरक-संहिता में मेधातिथि गौतम के सिद्धांतों का वर्णन है।

न्याय सूत्रों[5] पर वात्स्यायन का 'न्याय भाष्य' सबसे प्राचीन टीका

---

१ वही, पृ० ४३ २ वही, पृ० ५

३ वही, पृ० ३८ ४ वही, पृ० ३८

५ श्री विद्याभूषण के मत में सूत्रों के लेखक अक्षपाद हैं जिनका समय १५० ई० पू० है। यह मत वात्स्यायन और उद्योतकर के अनुकूल है देखिये, वही, पृ० ४७

है। वात्स्यायन ने विज्ञानवाद और क्षणिकवाद का खण्डन किया है। उनका समय चौथी शताब्दी ईसवी समझना चाहिए। दिङ्नाग (५०० ई०) ने वात्स्यायन की आलोचना की जिसका उत्तर उद्योतकर (६०८—६८८) ने अपने वार्त्तिक में दिया। उद्योतकर शायद हर्षवर्धन के समकालीन थे। उनका वार्त्तिक, प्रोफ़ेसर रेण्डिल के शब्दों में, तर्कशास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है जिसका स्थान विश्व-साहित्य में है।[1] वार्त्तिक पर प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र (८४१ ई०) ने तात्पर्यटीका लिखी जिसपर श्री उदयानाचार्य (१० वीं शताब्दी) ने 'तात्पर्यटीका परिशुद्धि' की रचना की। वाचस्पति मिश्र ने अपनी तात्पर्य-टीका दिङ्नाग के समर्थक धर्मकीर्त्ति के 'न्यायबिंदु' ग्रन्थ के उत्तर में लिखी थी। 'न्याय सूची निबन्ध' और 'न्याय सूत्रोद्धार' का नाम भी वाचस्पति की कृतियों में है। नवीं शताब्दी में धर्मोत्तर ने 'न्याय-बिंदु-टीका' लिखी। उदयनाचार्य का सबसे प्रसिद्ध ग्रन्थ 'कुसुमाञ्जलि' है जिसमें ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिए अनेक प्रमाण विस्तार-पूर्वक दिये गये हैं। उन्होंने 'किरणावली और 'न्यायपरिशिष्ट' भी लिखे। जयंतभट्ट ने सूत्रों पर न्यायमञ्जरी लिखी। इसका समय निश्चित नहीं है[2]।

दसवीं शदाब्दी के बाद न्याय-वैशेषिक पर मिलाकर ग्रन्थ लिखे जाने लगे। बारहवीं शताब्दी में गंगेश ने 'तत्त्वचिंतामणि' लिखकर नव्य-न्याय की नींव डाली। 'तत्त्वचिंतामणि' युग-प्रवर्तक ग्रन्थों में है। इस पुस्तक ने नैयायिकों की युक्तिशैली अथवा तर्क करने की रीति को बिलकुल बदल दिया। जटिल परिभाषाओं की सृष्टि हुई। नवीन नैयायिक 'घट' की जगह 'घटत्वावच्छिन्न' कहना पसंद करते हैं। नव्य-न्याय ने सभी दर्शनों को प्रभावित किया है। अलंकारशास्त्र भी इसके प्रभाव से नहीं बचा। 'तत्त्वचिंतामणि' की रचना के बाद सूत्रों

१ इण्डियन लाजिक, पृ० ३५
२ विद्याभूषण के अनुसार जयन्त भट्ट का समय दसवीं सदी है।

का अध्ययन कम हो गया। सूत्रों के अध्ययन का पुनरुज्जीवन हमारे समय में हुआ है। इसमें संदेह नहीं कि नव्य नैयायिकों में शब्दाडंबर बहुत हैं और दार्शनिकता कम। फिर भी युक्तियों की अभिव्यक्ति को वैज्ञानिक बनाने में नव्यन्याय का काफ़ी हाथ रहा है।

'तत्त्वचिंतामणि' पर अनेक टीकाएं और उपटीकाएं लिखी गईं। वासुदेव सार्वभौम (१५०० ई०) की 'तत्त्वचिंतामणि व्याख्या' और रघुनाथ की 'दीधिति' प्रसिद्ध हैं। गंगेश के बाद नव्य न्याय में सबसे बड़ा नाम गदाधर मिश्र (१६५० ई०) का है जिन्होंने 'दीधिति' पर टीका लिखी। बाद के ग्रंथों में तर्कसंग्रह, कारिकावली, तर्कामृत, तर्क-कौमुदी आदि उल्लेखनीय हैं। इनका समय सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दियां समझना चाहिए।

वरदराज की 'तार्किकरक्षा' और केशव मिश्र की 'तर्कभाषा' न्याय-वैशेषिक का सम्मिलित वर्णन करनेवाले आरंभिक ग्रंथ हैं जो ग्यारहवीं औप बारहवीं शताब्दी में लिखे गए। इनमें वैशेषिक पदार्थों को न्यायोक्त 'प्रमेय' के अंतर्गत वर्णित किया गया है। *शिवादित्य की 'सप्त पदार्थी'* में वैशेषिक में न्याय का संनिवेश किया गया है।

वैशेषिक का साहित्य

वैशेषिक का उत्तरकालीन साहित्य न्याय से भिन्न नहीं है। तर्क-संग्रह को वैशेषिक और न्याय दोनों का ही ग्रंथ कह सकते हैं। वैशेषिक सूत्रों पर प्रशस्तपाद ने 'पदार्थ धर्म संग्रह' लिखा है। इसपर चार टीकाएं लिखी गईं—व्योम-केश की 'व्योमवती', श्रीधर की 'न्याय कन्दली', उदयन की 'किरणावली' और श्रीवत्स की 'लीलावती'। शंकरमिश्र का वैशेपिकसूत्रोपस्कार आधुनिक रचना है जो कुछ महत्त्व की है। अन्य ग्रंथों का वर्णन ऊपर कर चुके हैं। वैशेषिककार कणाद का नाम उलूक और कणभुक् भी है; वैशेषिक मत को औलूक्य-दर्शन भी कहते हैं।

न्यायन्दर्शन पर अनेक ग्रंथ लिख जाने पर भी न्यायसूत्रों का महत्त्व

न्याय-दर्शन का परिचय

कम नहीं हुआ है। न्याय-सूत्र की शैली बड़ी वैज्ञानिक और भाषा प्रौढ़ है। प्रमाणों तथा तर्कशास्त्र के प्रश्नों में आचार्य की विशेष रुचि दिखाई देती है। पहले सोलह ज्ञेय पदार्थों का नामोद्देश है; फिर उनके लक्षण दिये गये हैं; उसके बाद लक्षणों की परीक्षा है। पूर्वपक्ष का प्रतिपादन करने में आचार्य हमेशा निष्पक्षता और उदारता से काम लेते हैं। प्रतिपक्षी की कठिन से कठिन शंकाओं को उठाने से वे नहीं डरते। सूत्रकार का अपने सिद्धांतों में अटल विश्वास और उनपर अभिमान जगह-जगह प्रकट होता है। युक्तियों की सूक्ष्मता से मन मुग्ध हो जाता है। न्यायदर्शन में पाँच अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में दो आह्निक। प्रत्येक आह्निक में साठ-सत्तर से अधिक सूत्र नहीं हैं। अंतिम अध्याय सबसे छोटा है। नीचे हम न्याय के कुछ सूत्रों आ अनुवाद देते हैं जिससे पाठकों को सूत्रों की शैली और गांभीर्य का कुछ अनुमान हो जाय पाठकों से अनुरोध है कि इन सूत्रों को ध्यान से पढ़े। कुछ बातें सिर्फ़ सूत्रों के अनुवाद के रूप में ही दी गई हैं ; इसपुस्तक में आकार बढ़ाने के लिये एक अक्षर भी नहीं लिखा गया है।

प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टांत, सिद्धांत, अवयव, तर्क निर्णय, वाद, जल्प, हेत्वाभास, वितण्डा, छल, जाति और निग्रहस्थानों के तत्वज्ञान से निःश्रेयस् (मुक्ति) की प्राप्ति होती है। (१।१।१)

प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द यह चार प्रमाण हैं। (१।१।३)

इन्द्रिय और अर्थ या विषय के संनिकर्ष (संबंध या संपर्क) से उत्पन्न ज्ञान को, जिसमें संदेह न हो और जो व्यभिचारी भी न हो, प्रत्यक्ष कहते हैं। (१।१।४)

[दूर से रेता पानी दिखाई देता है और स्थाणु (सूखा वृक्ष) पुरुष जैसा दीखता है; यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हुआ क्योंकि यह संदिग्ध और व्यभिचारी है। प्रत्यक्षज्ञान का कारण इंद्रियां 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहलाती हैं।

यथार्थ ज्ञान को 'प्रमा' कहते हैं; प्रमाणों द्वारा जाननेवाले की 'प्रमाता' संज्ञा है; जिस वस्तु का ज्ञान होता है उसे 'प्रमय' कहते हैं ।]

अनुमान तीन प्रकार का है पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट । अनुमान प्रत्यक्ष-पूर्वक होता है; व्याप्ति का प्रत्यक्ष हुए बिना अनुमान नहीं हो सकता । [कारण द्वारा कार्य का ज्ञान 'पूर्ववत्' अनुमान है जैसे घनघोर बादलों को देखकर वृष्टि का अनुमान करना । कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना 'शेषवत्' अनुमान है जैसे भीगे फर्श को देखकर 'वृष्टि हुई है' ऐसा अनुमान करना । धुएं को देखकर वह्नि का अनुमान 'सामान्यतोदृष्ट' है ।] (१।१।५)

प्रसिद्ध साधर्म्य (गुणों की समता) से साध्य का साधन उपमान प्रमाण है । ['नीलगाय गौ के समान होती है' यह सुनकर कोई व्यक्ति वन में जाकर नीलगाय की पहचान कर सकता है] (१।१।६)

आप्तों का उपदेश शब्द प्रमाण है । (१।१।७)

आत्मा, शरीर, इंद्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग यह प्रमेय हैं । (१।१।९)

[आत्मा के गुण इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुख और ज्ञान हैं । कर्मों में प्रवृत्त करानेवाले 'दोष' हैं । पुनरुत्पत्ति को प्रेत्यभाव कहते हैं । प्रवृत्ति-दोषों का परिणाम 'फल' कहलाता है । अपवर्ग मोक्ष का नाम है । दुःखों से अत्यंत मुक्त होना अपवर्ग है ।]

पहले अध्याय में सोलह पदार्थों का नाम और लक्षण बताकर शेष ग्रंथ में उन लक्षणों की परीक्षा की गई है । द्वितीय अध्याय में प्रतिपक्षी पूर्वपक्ष करता है कि 'संशय' या 'संदेह' होना ही असंभव है जिसे दूर करने के लिये विवाद और शास्त्रोपदेश किया जाय । जिस वस्तु को जानते हैं उसके विषय में संदेह नहीं होता; जिसको नहीं जानते उसके बारे में भी संदेह संभव नहीं है । अज्ञात वस्तु के विषय में प्रश्न कैसे हो सकता है ? इसलिये संशय नहीं होता । ऋषि का उत्तर है कि वाद-विवाद

की सत्ता ही संशय का अस्तित्व सिद्ध करती है। अन्यथा वाद-विवाद और झगड़ा न हो सकता।

प्रमाणों द्वारा सब प्रमेयों को जाना जाता है, फिर प्रमाणों को किसके द्वारा जाना जाय? यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। सूत्रकार उत्तर देते हैं कि जैसे दीपक और पदार्थों के साथ अपने को भी प्रकाशित करता है उसी प्रकार प्रमाण अपनी सिद्धि भी करते हैं। जब हम प्रमाणों की परीक्षा करते हैं तब वे 'प्रमेय' बन जाते हैं। सब प्रमाणों का प्रतिषेध भी बिना प्रमाण नहीं हो सकता इसलिये प्रमाणों का मानना अनिवार्य है। जैसे बाट पहले स्वयं तोले जाकर बाद को सब चीज़ों को तोलने के काम आते हैं इसी प्रकार 'प्रमाण' कुछ देर को प्रमेय बनकर भी बाद को 'प्रमेयों' के ज्ञान का साधन बन जाते हैं।

इसके बाद हम वैशेषिक दर्शन का परिचय और उसके कुछ सूत्रों का अनुवाद और व्याख्या देते हैं।

वैशेषिक का परिचय

वैशेषिक दर्शन में दस अध्याय हैं जिनमें से प्रत्येक में दो आह्निक हैं। अंतिम तीन अध्यायों में न्याय-दर्शन की भाँति प्रमाणों, कारणता आदि का विचार है। व्यवहार-शास्त्र के प्रश्नों पर छठवें अध्याय में विचार किया गया है। चौथे अध्याय में परमाणुवाद का वर्णन है। शेष अध्यायों में द्रव्यादि पदार्थों का विवेचन किया गया है। वैशेषिक का आरंभ 'अथ धर्म की व्याख्या करेंगे' इस सूत्र से होता है। दूसरे सूत्र में धर्म का लक्षण दिया है।

यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः (१।१।२)

अर्थात् जिससे संसार में अभ्युदय हो और जिससे मोक्ष प्राप्ति हो वह धर्म है। धर्म से मोक्ष किस प्रकार प्राप्त हो सकती है?—

"धर्म विशेष से उत्पन्न द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय इन छः पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य-पूर्वक तत्वज्ञान से मुक्ति या निःश्रेयस की प्राप्ति होती है। (१।१।४)"

पंचभूत, काल, दिक्, आत्मा और मन यह द्रव्य हैं। (१।१।५)

रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न यह गुण हैं। (१।१।६) सूत्रकार के अनुसार पदार्थों की संख्या छः और गुणों की सत्रह है।

सत्ता, अनित्यता, द्रव्यवत्ता, कार्यत्व, कारणत्व, सामान्य और विशेष वाला होना यह द्रव्य, गुण, कर्म के सामान्य धर्म हैं। (१।१।८)

क्रिया और गुणवाला, समवायिकारण द्रव्य होता है। (१।१।१५)

कारण के अभाव से कार्य का अभाव होता है। (१।२।२) परंतु कार्य केअभाव से कारण का अभाव नहीं होता। (१।२।१)

सामान्य और विशेष बुद्धि की अपेक्षा से हैं अर्थात् सामान्य और विशेष की सत्ता बुद्धि के अधीन या बौद्धिक है; यह देश-काल में रहने-वाली चीज़ें नहीं हैं। (१।२।३)

रूप, रस, गंध, स्पर्शवाली पृथ्वी है। (२।१।१)

जल में रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व और स्निग्धता गुण हैं। (२।१।२)

नित्य पदार्थों में काल का अनुभव नहीं होता, अनित्यों में होता है। इसलिये काल को उत्पत्तिवाले पदार्थों का निमित्तकारण कहते हैं। (२।२।६)

सत् और कारणहीन पदार्थ को नित्य कहते हैं। (४।१।१)

क्रिया और गुण का व्यपदेश (कथन) न होने के कारण उत्पत्ति से पहले कार्य असत् होता है। (६।१।१)

ईश्वर का वचन होने के कारण...वेदों का प्रामाण्य है। (१०।२।६)

प्रमाणों का वर्णन

नैयायिक चार प्रमाण मानते हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। वैशेषिक के मत में उपमान नवीन प्रमाण नहीं है बल्कि उसका

अंतर्भाव अनुमान में हो जाता है। अन्नंभट्ट और विश्वनाथ (तर्क संग्रह और कारिकावली के लेखक) चार ही प्रमाण मानने हैं।

न्याय-दर्शन की प्रत्यक्ष की परिभाषा हम दे चुके हैं। 'अव्यपदेश्य' शब्द जो सूत्र में आया है उसकी दूसरी व्याख्या भी की गई है। प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है, निर्विकल्पक और सविकल्पक। असाधारण कारण को 'करण' कहते हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान के 'करण' को प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि चक्षु, रसन, घ्राण, त्वक्, श्रोत्र और मन[1] इंद्रियां प्रत्यक्ष प्रमाण हैं। इंद्रियां प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का हेतु हैं। इंद्रिय और अर्थ के संनिकर्ष से उत्पन्न ज्ञान को प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जो वस्तु जैसी है उसे वैसा ही जानना यथार्थ ज्ञान या 'प्रमा' है। विपरीत ज्ञान को 'अप्रमा' कहना चाहिए।

प्रत्यक्ष प्रमाण

जब हम किसी पदार्थ को देखते हैं तो प्रथम उसके रूप, आकार आदि की प्रतीति होती है। उसके बाद हमारी बुद्धि काम करने लगती है और हम स्मरण आदि द्वारा वस्तु को नाम दे देते हैं। केवल चक्षु आदि इंद्रियों से, बुद्धि या मस्तिष्क की क्रिया शुरू होने से पहले, जो ज्ञान होता है उसे 'निर्विकल्पक प्रत्यक्ष' कहते हैं। निष्प्रकारक या प्रकारता-हीन ज्ञान निर्विकल्पक कहलाता है। पदार्थ किस श्रेणी का है इसका ज्ञान प्रकारता-ज्ञान है। यह डित्थ (स्थाणु) है, यह श्याम है, यह ब्राह्मण है इस प्रकार का ज्ञान सप्रकारक या सविकल्पक ज्ञान है। निर्विकल्पक ज्ञान झूठा नहीं हो सकता। सविकल्पक ज्ञान में ही भ्रम का भय होता है।

---

१ वात्स्यायन के भाष्य में मन की गणना इंद्रियों में भी गई है। सुख, दुख आदि का प्रत्यक्ष मन या अंतरिंद्रिय [अंदर की इंद्रिय] द्वारा होता है। सुख, दुःख आदि आत्मा के गुण हैं यह मानसिक प्रत्यक्ष से जाना जाता है।

प्रत्यक्ष ज्ञान कब होता है? जब (१) आत्मा का मन से (१) मन का इंद्रिय से और (२) इंद्रिय का अर्थ या विषय से संयोग होता है तब प्रत्यक्ष अनुभव होता है। जब हमारा मन कहीं दूसरी जगह होता है तब हम आँखें खुली रहने पर भी नहीं देखते, और कान होते हुए भी नहीं सुनते। तीर बनानेवाले ने गुजरती हुई राजा की सेना को नहीं देखा। इसलिये प्रत्यक्ष में मन का जागरूक का होना ज़रूरी है। मन अणु होने पर भी शीघ्रगामी है; इसलिये जल्दी-जल्दी एक विषय के बाद दूसरे पर पहुँच जाता है। वास्तव में एक समय में एक ही ज्ञान हो सकता है। हम एक ही पल में देखते, सुनते और अनेक क्रियाएं करते हैं, यह प्रतीति मन की तेज़ी के कारण होती है।

अन्यथा-ख्याति

शुक्ति में रजत क्यों दिखलाई देती है? यदि रजत का अत्यंताभाव होता तो शश-शृङ्ग अर्थात् खरगोश के सींगों की तरह उसको कभी प्रतीति नहीं होती। शून्यवादी की असत्ख्याति ठीक नहीं। आत्म-ख्याति (योगाचार की) भी संगत नहीं है। नैयायिक लोग भ्रम का कारण अन्यथा-ख्याति बतलाते हैं। इंद्रिय के दोपवश शुक्ति को देखकर रजत के धर्म (गुणों) का स्मरण होता है। रजत-धर्म का मानसिक उदय होते ही जहां-जहां पहले रजत देखी है वहां-वहां की रजत का अलौकिक प्रत्यक्ष होता है। गुण और गुणी में समवाय संबंध है। दोनों को अलग अलग नहीं किया जा सकता। इसलिये रजत के गुणों का मानसिक उदय पहले देखी हुई रजत केप्रत्यक्ष का कारण हो जाता है। इस आलौकिक प्रत्यक्ष से देखी ई रजत के गुणों का आरोप समीपवर्त्ती शुक्ति में कर दिया जाता है जिससे भ्रम या मिथ्याज्ञान होता है। इसी को 'अन्यथा-ख्याति' कहते हैं। अन्यथा-ख्याति का शाब्दिक अर्थ अन्य वस्तु के गुणों का अन्य वस्तु में प्रतीत होना है।

अन्यथा-ख्याति के आलोचकों का कथन है कि 'अलौकिक प्रत्यक्ष'

मानना संगत नहीं है। यदि अलौकिक प्रत्यक्ष मान लिया जाय तो हर समय हर पदार्थ का प्रत्यक्ष होना चाहिए। अलौकिक प्रत्यक्ष का सिद्धांत मनुष्य को सर्वज्ञ बना देता है, जो अनुभव के विरुद्ध है।

अनुमान प्रमाण

प्रत्यक्ष के वर्णन में हमने देखा कि प्रत्यक्ष ज्ञान का कारण या करण (इंद्रियां) प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती हैं। इसी प्रकार अनुमिति का करण अनुमान प्रमाण है। अनुमिति अथवा अनुमान-जन्य ज्ञान फल है और व्याप्तिज्ञान करण है। पाठकों को सुविधा के लिये हम कुछ परिभाषाएं देते हैं। उन्हें ठीक-ठीक ध्यान में रखकर ही अनुमान-प्रकरण समझ में आ सकता है। यहां पाठकों को हम बतलादें कि न्यायदर्शन में अनुमान प्रमाण बहुत ही महत्त्वपूर्ण और कठिन विषय है।

व्याप्ति—'जहां जहां धुआं होता है वहां वहां अग्नि होती है' इस साहचर्य-(एक साथ होने के) नियम को व्याप्ति कहते हैं। रसोई-घर में धूम और अग्नि के साहचर्य का अनुभव हुआ है जिसके बल पर पर्वत में धूम देख कर वह्नि का अनुमान किया जाता है।

पक्ष—अग्नि साध्य है; पर्वत में अग्नि है यह सिद्ध करना है। जहां साध्य की संदिग्ध सत्ता हो उसे 'पक्ष' कहते हैं। पर्वत 'पक्ष' है।

सपक्ष—जहां साध्य (अग्नि) की उपस्थिति निश्चित है वह स्थान या वस्तु सपक्ष कहलाती है। रसोई घर (महानस) सपक्ष है।

विपक्ष—जहां साध्य (अग्नि) का अभावनिश्चित है उसे 'विपक्ष' कहते हैं जैसे 'सरोवर'। सरोवर में अग्नि के अभाव का निश्चय है।

व्यापक और व्याप्य—इस उदाहरण में अग्नि व्यापक है और धूम व्याप्य। बिना अग्नि के धूम नहीं रह सकता। धूम की उपस्थिति अग्नि की उपस्थिति से व्याप्त है।

पक्ष-धर्मता—व्याप्य (धूम) का पर्वतादि में रहनेवाला होना 'पक्ष धर्मता' है।

परामर्श—व्याप्ति-सहित (जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है इस ज्ञान सहित) पक्ष धर्मता का ज्ञान (पर्वत में धूम है, यह ज्ञान) परामर्श कहलाता है।

अनुमिति—परामर्श से उत्पन्न ज्ञान को अनुमिति कहते हैं। 'पर्वत अग्निवाला है' यह ज्ञान अनुमिति है। यह ज्ञान 'वह्निव्याप्य अथवा अग्नि से व्याप्त धूमवाला यह पर्वत है' इस परामर्श से उत्पन्न होता है।

अनुमान प्रमाण—अनुमिति का करण या असाधारण कारण ही अनुमान प्रमाण है। प्रत्यक्ष प्रमाण की तरह अनुमान-प्रमाण कोई इंद्रिय नहीं है। नैयायिक लोग आंख, कान आदि इंद्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अनुमान प्रमाण किसी इंद्रिय का नाम नहीं है।

वास्तव में 'लिंग परामर्श' को अनुमान कहते हैं। यह 'लिंग परामर्श क्या है ? लिंग परामर्श को 'तीसरा ज्ञान' भी कहते हैं। रसोई घर में धूम और अग्नि की व्याप्ति ग्रहण करके जो धूम का ज्ञान होता है वह 'प्रथम ज्ञान' है। पक्ष (पर्वत) में धूम का ज्ञान 'द्वितीय ज्ञान' है। वहीं धूम का अग्नि द्वारा व्याप्य होने का ज्ञान 'तृतीय ज्ञान' है; इसी को 'लिंग परामर्श' कहते हैं। (देखिये तर्क संग्रह, पद कृत्य, चंद्रजसिंह कृत)।

पञ्चावयव वाक्य अथवा न्याय

अँगरेज़ी में इसे सिलॉजिज़्म कहते हैं। नैयायिक दो प्रकार का अनुमान मानते हैं, स्वार्थ और परार्थ। स्वार्थानुमान अपने लिए होता है और परार्थानुमान दूसरों को समझाने के लिए। परार्थानुमान में पंचावयव-वाक्य की आवश्यकता होती है; स्वार्थानुमान में केवल तीन ही अवयव (पहले तीन या अंतिम तीन) अपेक्षित होते हैं। पांच अवयवों के नाम क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन है।

पर्वत अग्निवाला है—यह प्रतिज्ञा है।

क्योंकि उसमें धुँआ है—यह हेतु है।

जहां जहां धूम होता है वहां वहां अग्नि होती है जैसे रसोई घर में —यह उदाहरण है।

वैसा ही, अग्नि के व्याप्य धूमवाला, यह पर्वत है—यह उपनय है।

इसलिए यह पर्वत अग्नि वाला है—यह निगमन है।

योरुप के कुछ पंडितों ने अवयवों की संख्या पर आक्षेप किया है।

पांच अवयव क्यों?

योरुपीय सिलॉजिज़्म में, जिसका स्वरूप यूनान के प्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू के स्थिर किया था, तीन ही वाक्य या अवयव होते हैं। आलोचकों का कहना है कि नैयायिकों ने व्यर्थ ही अनुमान-प्रक्रिया को जटिल बना दिया है। इसका उत्तर कई प्रकार से दिया गया है।

पहला उत्तर यह है कि उक्त आक्षेप निराधार है। स्वार्थानुमान में नैयायिक भी तीन अवयव मानते हैं। भारत के दूसरे मतों ने कम अवयव माने हैं। वेदान्त-परिभाषा तीन अवयवों के पक्ष का मंडन करती है।[1] कुछ बौद्ध तर्क-शास्त्रियों ने तो दो ही अवयवों को यथेष्ट माना है। पर देखने की बात यह है कि पाँच अवयवों का एक आलंकारिक प्रभाव होता है। अनुमान-प्रक्रिया बिलकुल स्पष्ट हो जाती है।

दूसरा उत्तर यह है कि अरस्तू का 'न्याय' या सिलॉजिज्म न्याय की दृष्टि से सदोष है। अरस्तू के पहले दो 'प्रेमिसेज़' न्याय के परामर्श वाक्य में संमिलित हो जाते हैं। परामर्श को ही नैयायिक अनुमान का हेतु मानते हैं। 'वह्नि व्याप्य धूम वानयं पर्वतः' (वह्नि का जो व्याप्य है ऐसे धूमवाला यह पर्वत है), वास्तव में यह परामर्श वाक्य ही अनुमान का कारण है। भारतीय सिलाजिज़्म का एक गुण यह है कि उसका 'मेजार प्रेमिस' अपनी यथार्थता के लिए परमुखापेक्षी नहीं है। यहां 'इंडक्शन'

---

१ वेदांत परिभाषा [सटीक, बंबई] पृ० २१२

ननु पंचावयवरूपा अवयवत्रयेणैव व्याप्तिपक्षधर्मतयोरुप दर्शन संभवेनाधिकावयव द्वयस्य व्यर्थत्वात्।

और 'डिडक्शन' दोनों परामर्श वाक्य में मिल जाते हैं। अनुभव और तर्क दोनों से काम लिया जाता है। बर्नार्ड बोसांक्वेट की भाषा में हम कह सकते हैं कि *दी इंडियन सिलाजिज़्म कंटेंस इट्स ओन नैसेसिटी* भारतीय सिलाजिज़्म की यह संपूर्णता सर्वथा श्लाघनीय है। अरस्तू का न्याय इस प्रकार है :—

सब मनुष्य मरणशील हैं;
सुकरात मनुष्य है;
इसलिए, सुकरात मरणशील है।

यहां पहले वाक्य की सत्यता स्वतः-सिद्ध नहीं है; उसके लिए प्रमाण अपेक्षित है। न्याय की भाषा में हम इसे इस प्रकार कहेंगे :—

सुकरात में मर्त्यता या मरणशीलता है ;
क्योंकि सुकरात में मनुष्यता है।
जहां जहां मनुष्यता है वहां वहां मर्त्यता है, जैसे देवदत्त में।
सुकरात में मनुष्यता है जो कि मर्त्यता से व्याप्त है,
इसलिए सुकरात में मर्त्यता है।

चौथा वाक्य लिंगपरामर्श है जिसमें अरस्तू के पहले दोनों वाक्यों का सत्य निहित है; इस मिश्रित वाक्य के बिना अनुमान समझ में नहीं आ सकता। न्याय के अनुमान में व्याप्ति का सत्य उदाहरण द्वारा सुबोध बना दिया जाता है; उदाहरण से व्याप्ति की सिद्धि होती है, यह समझना भ्रम है। व्याप्ति को झूठी सिद्ध करने का भार नैयायिक प्रतिपक्षी पर डाल देता है, जब कि अरस्तू के सिलाजिज़्म में मेजार प्रमिस के सत्य होने का प्रमाण अनुमान करनेवाले को देना चाहिए।

लिंग-परामर्श अनुमिति का करण है, यह बताया जा चुका है। लिंग तीन प्रकार का होता है केवलान्वयी, केवलव्यतिरेकी, और अन्वय-व्यतिरेकी। जिसमें अन्वय-व्याप्ति और व्यतिरेक-व्याप्ति दोनों हों वह अन्वय-व्यतिरेकी लिंग है। भावात्मक व्याप्ति को अन्वय व्याप्ति कहते हैं

जैसे 'जहां जहां धूम है वहां वहां अग्नि है।' अभावात्मक व्याप्ति को व्यतिरेक-व्याप्ति कहते हैं, जैसे 'जहां अग्नि नहीं है वहां धूम भी नहीं है।' पर्वत में वह्नि का अनुमान करने के उपर्युक्त उदाहरण में दोनों प्रकार की व्याप्ति मिल जाती है। रसोई घर में धूम है और अग्नि भी; सरोवर में अग्नि नहीं है इसलिए धूम भी नहीं है।

जिस उदाहरण में सिर्फ़ अन्वय-व्याप्ति मिल सके वह केवलान्वयी अनुमान कहलाएगा। 'घट अभिधेय (नामकरण करने योग्य या नामवाला) है क्योंकि घट प्रमेय है' इस अनुमान में अन्वय-व्याप्ति ही मिलती है—जो जो प्रमेय है वह वह अभिधेय है। 'जो प्रमेय नहीं है वह अभिधेय नही है', इस प्रकार की व्यतिरेक-व्याप्ति नहीं मिल सकती क्योंकि संसार की सारी चीज़ें प्रमेय (प्रमाणों से जानने योग्य) और अभिधेय (वर्णन करने योग्य) दोनों हैं।

नैयायिक किसी वस्तु को अज्ञेय या अप्रमेय नहीं मानते। इस संपूर्ण जगत् का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

अनुमान के जिस उदाहरण में सिर्फ़ व्यतिरेक-व्याप्ति मिल सके वह केवल व्यतिरेकी अनुमान कहलाएगा। 'पृथ्वी अन्य भूतों से भिन्न है, गंधवाली होने के कारण।' गंध पृथ्वी का गुण है, जल, वायु अग्नि और आकाश का नहीं। 'जो जो गंधवान है वह इतरों (अन्य भूतों) से भिन्न है, ऐस अन्वय-व्याप्ति यहां नहीं है। 'जो इतर भूतों से भिन्न नहीं है वह गंधवान् नहीं है, जैसे जल, इस प्रकार की व्यतिरेक व्याप्ति ही उपलब्ध है जिससे 'पृथ्वी दूसरे भूतों से भिन्न है' यह अनुमान किया जाता है।

साध्य यह है कि पृथ्वी दूसरे भूतों से भिन्न है। पृथ्वी मात्र ही पक्ष है, इसलिए 'जो गंधवान् है वह अन्य द्रव्यों से भिन्न है' ऐसी व्याप्ति नहीं मिलती। यदि संपूर्ण पृथ्वी के बदले कोई पार्थिव चीज़ पक्ष होती तो अन्वय-व्याप्ति संभव थी।

वेदांती और मीमांसक केवलान्वयी और केवल-व्यतिरेकी अनु-

मान नहीं मानते। वे इसके बदले अर्थापत्ति नाम का अलग प्रमाण मानते हैं।

अब तक ठीक हेतुओं का वर्णन हुआ। दुष्ट हेतुओं को हेत्वाभास कहते हैं। जो ठीक हेतु की तरह मालूम हो पर ठीक हेतु न हो, वह हेत्वाभास है। तर्कसंग्रह के लेखक अन्नंभट्ट पाँच हेत्वाभास मानते हैं, जो न्यायसूत्र के हेत्वाभासों से कुछ भिन्न हैं। गोतम के पाँच हेत्वाभासों के नाम सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत हैं। अन्नंभट्ट के पाँच हेत्वाभास सव्यभिचार, विरुद्ध, सत्प्रतिपक्ष, असिद्ध और बाधित हैं।

हेत्वाभास

१. सव्यभिचार—उस हेतु को कहते हैं जो अभीष्ट साध्य से उलटा भी सिद्ध कर दे। धुँआ अग्नि-सहित पर्वत में ही हो सकता है। यहाँ धुँआ लिंग (चिह्न) कहाता है। यदि लिंग साध्य के अभाव-स्थल में भी पाया जाय तो सव्यभिचार हेतु होगा। जैसे 'पर्वत अग्निवाला है, प्रमेय होने के कारण' यह हेतु ठीक नहीं। क्योंकि साध्य के अभावस्थल या 'विपक्ष' (सरोवर) में भी प्रमेयत्व पाया जाता है। सरोवर भी प्रमेय है, उसे भी अग्निवाला होना चाहिए। इस हेत्वाभास को 'साधारण सव्यभिचार' कहते हैं।

असाधारण सव्यभिचार उस लिंग को कहते हैं जो सपक्ष या विपक्ष में कहीं न पाया जाय, सिर्फ़ पक्ष में ही पाया जाय। जैसे, 'शब्द नित्य है, शब्द होने के कारण'; यहां शब्दत्व शब्द के सिवाय कहीं नहीं पाया जाता।

जिसका अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार का दृष्टांत न मिल सके उसे 'अनुपसंहारी सव्यभिचार' कहते हैं। सब चीज़ें अनित्य हैं, प्रमेय होने के कारण, यहां सब संसार के पक्ष होने के कारण दृष्टांत ही नहीं मिल सकता।

२ जो हेतु साध्य के अभाव में व्याप्त हो उसे 'विरुद्ध' कहते हैं।

शब्द नित्य है, कार्य होने के कारण। कार्यत्व अनित्यत्व से व्याप्त है न कि नित्यत्व से। इसलिये कार्यत्व हेतु विरुद्ध है।

३. सत्प्रतिपक्ष—जिसका प्रतिपक्ष मौजूद हो, साध्य के अभाव को सिद्ध करनेवाला दूसरा हेतु वर्त्तमान हो, उसे सत्प्रतिपक्ष कहते हैं। 'शब्द नित्य है, श्रवणेन्द्रिय ग्राह्य होने के कारण' इसका प्रतिपक्ष भी है— 'शब्द अनित्य है, कार्य होने के कारण।'

४. असिद्ध हेत्वाभास तीन प्रकार का है, आश्रयासिद्ध, स्वरूपासिद्ध और व्याप्यत्वासिद्ध।

'गगनारविन्द या आकाशकमल सुरभि होता है, कमल होने के कारण; सरोवर कमल की तरह' यह 'आश्रयासिद्ध' है। यहां गगनारविंद आश्रय है जिसकी सत्ता नहीं है।

स्वरूपासिद्ध—'शब्द गुण है, चक्षु-ग्राह्य होने के कारण'; चाक्षुष होना शब्द में नहीं है।

उपाधि-सहित हेतु को 'व्याप्यत्वासिद्ध' कहते हैं। 'पर्वत धूमवाला है, अग्निवाला होने के कारण।' भीगे ईंधन की उपस्थिति में ही अग्नि में धुँआ होता है, इसलिये आर्द्र इंधन का संयोग उपाधि है। अग्नि सोपाधिक हेतु है।

५. जिसका साध्याभाव प्रमाणों से निश्चित है वह बाधित हेतु है। 'अग्नि ठंडी होती है, द्रव्य होने के कारण' यहां अनुष्णता या ठंडापन साध्य है जिसका अभाव उष्णत्व, स्पर्श नामक प्रत्यक्ष प्रमाण से गृहीत होता है। इसलिये यह हेतु 'बाधित' है।

अनुमान-प्रकरण समाप्त हुआ। अब उपमान का वर्णन करते हैं।

उपमान प्रमाण

यह प्रमाण नैयायिकों की विशेषता है। संज्ञा-संज्ञि (पद और पद का अर्थ) के संबंध का ज्ञान 'उपमिति' कहलाता है। उसके असाधारण कारण को उपमान-प्रमाण कहते हैं। सादृश्य ज्ञान ही उपमिति का हेतु है। मान लीजिए कि कोई

व्यक्ति 'गवय' (नील गाय) को नहीं जानता। किसी वनवासी ने उससे कहा, "गाय के समान गवय होता है!" यह सुनकर वह वन में जाकर उस वाक्य के अर्थ का स्मरण करता है और गाय के समान पशु को देखता है। तब उसे यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि 'यही गवय शब्द का वाच्य है।' यही ज्ञान उपमिति है। इस प्रकार गवय पद या शब्द के अर्थ का बोध हो जाता है; यही संज्ञा-संज्ञि का संबंध ज्ञान है। गाय में रहनेवाला गवय का सादृश्य ही इसका कारण है। यह ज्ञान व्याप्ति ज्ञान के बिना हो जाता है, इसलिये उपमान का अनुमान में अंतर्भाव नहीं हो सकता।

शब्द प्रमाण

यथार्थवादी को आप्त कहते हैं। जैसा जानना, वैसा कहना, यही यथार्थवादिता है। आप्त का वाक्य ही शब्द प्रमाण है। वाक्य पदों के समूह को कहते हैं। शक्तिवाले या शक्त को पद कहते हैं, शक्ति क्या है? 'इस पद या शब्द से इस अर्थ का बोध होगा' यह ईश्वर का संकेत ही शक्ति है। शब्दों का अर्थ ईश्वर ने निश्चित किया है। यही ईश्वर-संकेत गुरु-शिष्य-परंपरा से हम तक चला आया है।

वाक्य का अर्थ-बोध आकांक्षा, योग्यता और संनिधि से होता है। वाक्य के पदों का अन्वय होना चाहिए। 'गाय, घोड़ा, हस्ती' यह वाक्य नहीं हुआ; इसमें 'आकांक्षा' का अभाव है। 'अग्नि से सींचे' यह वाक्य प्रमाण नहीं है क्योंकि इसमें 'योग्यता' का अभाव है। यदि एक-एक घंटे बाद कोई कहे 'पानी' 'लाओ' आदि तो उसका वाक्य अप्रमाण होगा, क्योंकि उसके पदों (विभक्ति सहित शब्दों) में संनिधि (समीपता) नहीं है।

वाक्य दो प्रकार का होता है, लौकिक और वैदिक। वैदिक वाक्य ईश्वरोक्त होने के कारण सभी प्रमाण हैं। लौकिक वाक्य आप्तका कहा हुआ ही प्रमाण होता है, और किसी का नहीं।

संस्कारों से उत्पन्न ज्ञान को स्मृति कहते हैं। स्मृति से भिन्न ज्ञान अनुभव कहलाता है जो कि यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार का होता है। यथार्थ ज्ञान या अनुभव का लक्षण पीछे बता चुके हैं। स्मृति भी यथार्थ और अयथार्थ दो प्रकार की हो सकती है। प्रमाजन्य स्मृति को यथार्थ स्मृति कहते हैं; अप्रमाजन्य को अयथार्थ। यथार्थ ज्ञान का ही नाम प्रमा है।

स्मृति

कारणता विचार

प्रत्यक्षप्रमाण की परिभाषा में हमने कहा था—प्रत्यक्षज्ञान के असाधारण कारण (करण) को प्रत्यक्षप्रमाण कहते हैं। अब प्रश्न यह है कि 'कारण' किसे कहते हैं? इसी से संबद्ध प्रश्न यह भी है कि कार्य किसे कहते हैं? कार्य के विषय में न्याय का सिद्धान्त 'असत्कार्यवाद' कहलाता है। उत्पत्ति से पहले जो घट का अभाव होता है उसे घट-प्रागभाव कहते हैं। प्रागभाव के प्रतियोगी का नाम कार्य है (कार्य-प्रागभाव प्रतियोगि)।

प्रतियोगिता एक प्रकार का संबंध है। घट और घट के प्रागभाव में विरुद्धत्व संबंध है। घट की उत्पत्ति घट के प्रागभाव का नाश कर देती है, उसकी विरोधिनी है। उस भाव पदार्थ को जिससे किसी अभाव का स्वरूप समझा जाता है, उस अभाव का प्रतियोगी कहते हैं। घटाभाव का प्रतियोगी घट होगा। कार्य की इस परिभाषा का सीधा अर्थ यही है कि उत्पत्ति से पहले घट का अभाव होता है, घट या कार्य की किसी रूप में कहीं उपस्थिति नहीं होती। यह सिद्धांत सांख्य का ठीक उलटा है। सांख्य का मत 'सत्कार्यवाद' कहलाता है। उत्पत्ति से पहले कार्य कारण में छिपा रहता है; उत्पत्ति का अर्थ अभिव्यक्ति मात्र है। मूर्त्ति जिसे स्थपति या मूर्त्तिकार खोद देता है, धातु या पत्थर में छिपी रहती है। मूर्त्तिकार अपने प्रयत्न से उसे अभिव्यक्त कर देता या व्यक्त रूप दे देता है। असत्कार्यवाद की आलोचना और सत्कार्यवाद की युक्तियों के विषय में हम आगे लिखेंगे।

कारण सत् होता है और कार्य असत्; सत् से असत् की उत्पत्ति होती है यह नैयायिकों का मत हुआ। सर्वदर्शन संग्रह कार कहते हैं :—

कारण की परिभाषा

इह कार्य कारण भावे चतुर्धा विप्रतिपत्तिः प्रसरति। असतः सज्जायते इति सौगताः संगिरन्ते। नैयायिकादयस्तु सतो सज्जायत इति। वेदान्तिनः सतो विवर्तः कार्यजातं न तु वस्तुसदिति। सांख्याः पुनः सतः सज्जायत इति।[1]

अर्थात्—कार्य-कारण-भाव में चार प्रकार का मत है। असत् से सत् उत्पन्न होता है यह बौद्धों का मत है। सत् से असत् की उत्पत्ति न्याय का मत है। सत् से विवर्त उत्पन्न होता है न कि सद्वस्तु, यह वेदांत का सिद्धांत है। सत् से सत् ही उत्पन्न होता है, यह सांख्यों का विश्वास है।

बौद्धों को छोड़ कर शेप तीनों उपर्युक्त दर्शन कारण को सत् मानते हैं। उन्हें हम सत्कारणवादी कह सकते हैं। प्रश्न यह है कि कारण किसे कहते हैं? साधारण लोग समझते हैं कि कार्य से पहले आनेवाली चीज़ कारण होती है। लेकिन कार्य से पहले बहुत सी चीज़ें आती रहती हैं। घट की उत्पत्ति से पहले कुम्हार, उसका दण्ड, गधा आदि अनेक वस्तुएं हैं। इनमें से किसे कारण कहना चाहिये? न्याय का उत्तर है,

कार्यनियत पूर्ववृत्ति कारणम्

जो कार्य के पहले नियम पूर्वक उपस्थित होता है उसे कारण कहते हैं। कुम्हार, मिट्टी और दण्ड नियमपूर्वक घटोत्पत्ति से पहले उपस्थित होते हैं, इसलिए उन्हें घट का कारण कहना चाहिए। गर्दभ का होना आवश्यक नहीं है, इसलिए वह कारण नहीं है।

परन्तु यह लक्षण अतिव्याप्त है। जिस चीज़ का लक्षण किया जाय, उसके अतिरिक्त पदार्थ में भी घट जानेवाले लक्षण में अतिव्याप्ति दोप

[1] सर्वदर्शन संग्रह, पृ०१२१

होता है। जिन चीज़ों का या जिस श्रेणी की चीज़ों का लक्षण किया जाय उनमें से कुछ में जो लक्षण न घट सके, उसे अव्याप्त लक्षण कहते हैं और उसका दोष 'अव्याप्ति' कहलाता है। लक्षण का तीसरा दोष असंभवता होता है, जैसे अग्नि का लक्षण पदार्थ ठण्डा करना।

'जानदार वस्तु को पशु कहते हैं', यह लक्षण अतिव्याप्त है। मछलियां और पक्षी भी जानदार पदार्थ हैं। 'दो सींगवाले को पशु कहते हैं,' यह लक्षण अव्याप्त है। कुत्ता भी पशु होता है जो कि इस लक्षण में नहीं आता। तीनों दोषों से मुक्त लक्षण ही ठीक लक्षण होता है।

कार्य के पहले नियम से उपस्थित होने वाली चीज़ों में आकाश, काल, ईश्वर आदि नित्य पदार्थ, कुम्हार का पिता आदि भी होते हैं। तो क्या इन सब को कारण कहना चाहिए? इसके उत्तर में नैयायिक कारण के लक्षण में कुछ सुधार करते हैं। सही लक्षण यह है।

अनन्यथा सिद्धत्वे सति कार्य नियतपूर्ववृत्ति कारणम्—अर्थात् जो कार्य के पहले नियम से उपस्थित हो और जो अन्यथा-सिद्ध न हो उसे कारण कहते हैं। यह अन्यथा-सिद्ध क्या बला है? वास्तविक कारण से संबद्ध होने के कारण जिसको पूर्ववर्तिता[1] होती है—जिसकी पूर्ववर्तिता वास्तविक कारण की पूर्ववर्तिता पर निर्भर हो, उसे अन्यथा-सिद्ध कहते हैं। विश्वनाथ के मत में अन्यथा सिद्ध पांच प्रकार के होते हैं। तर्क संग्रह की 'दीपिका' में अन्नंभट्ट ने तीन प्रकार के अन्यथा-सिद्ध बतलाए हैं जो हम नीचे देते हैं।

१—वे पदार्थ जो कारण से समवाय संबंध से सम्बद्ध हों जैसे 'दण्डत्व' 'और दण्ड रूप'। दण्डत्व और 'दण्डरूप' को दण्ड से, जो घट का कारण है, अलग नहीं कर सकते। 'समवाय' का अर्थ है नित्य-संबध।

---

२ पूर्ववर्त्तिता का अर्थ है पहले स्थिति। जो किसी चीज़ के पहले मौजूद हो वह उस चीज़ का पूर्ववर्त्ती कहलाता है।

२—वे वस्तुएं जो कारण के भी पहले वर्त्तमान हैं और इसलिए कार्य से पहले भी वर्त्तमान होती हैं, जैसे ईश्वर, काल, कुम्हार का पिता।

३—कारण के समकालीन या सहकारी जो कारण से समवाय संबंध द्वारा संबद्ध नहीं हैं, जैसे रूपप्रागभाव। घट के रूप का प्रागभाव कारण का समकालीन है।

कारण तीन प्रकार का होता है, समवायिकारण, असमावायिकारण और निमित्त कारण।

कारण के भेद

समवायिकारण—जिससे समवेत होकर या समवाय संबंध से संबद्ध होकर कार्य उत्पन्न होता है उसे समवायि कारण कहते हैं। मिट्टी घड़े का समवायि कारण है। इसी को उपादान कारण भी कहते हैं।

असमवायिकारण—कार्य या कारण के साथ एक जगह समवेत होकर जो कारण हो उसे असमवायिकारण कहते हैं। तन्तु (डोरे) पटका समवायिकारण हैं। तन्तुओं का रंग वस्त्र के रंग का असमवायिकारण है। तन्तु-संयोग तन्तु नामक एक अर्थ (वस्तु या जगह) में पटरूप कार्य से समवेत (समवाय कारण से संबद्ध) होता हैं। इसी प्रकार तन्तु-रूप वस्त्र के साथ, जो कि अपने रूप अर्थात् वस्त्र के रूप का असम-वायिकारण है, एक अर्थ तन्तु में समवेत होता है और वस्त्र के रूप का असमवायिकारण बन जाता है। वस्त्र अपने रूप का समवायिकारण है, तन्तुओं का रंग उसी का असमवायिकारण है।

इन दोनों से भिन्न जो कुछ कारण होता है उसे निमित्त कारण कहते हैं, जैसे कुम्हार घट का या कुविन्द (जुलाहा) पट का। दण्ड भी घट का निमित्त कारण है।

इन तीनों कारणों में जो असाधारण कारण है वही 'करण' है। पाणिनि का सूत्र है—साधक तमं करणम् अर्थात् सब से अधिक अपेक्षित साधक को करण कहते हैं। आशा है अब पाठक 'प्रत्यक्षज्ञान का करण प्रत्यक्ष प्रमाण है' इस परिभाषा को समझ गए होंगे।

प्रामाण्यवाद, प्रमा की परख

यथार्थ ज्ञान या प्रमा की उत्पत्ति का हेतु तो प्रत्यक्षादि प्रमाण हैं, परंतु यथार्थज्ञान की परख व्यावहारिक होनी चाहिए। प्रत्यक्ष, अनुमान आदि के उत्पन्न होने से ही उनकी सत्यता का विश्वास नहीं हो जाना चाहिए। इन्द्रियां और तर्क-बुद्धि दोनों धोखा दे सकती हैं। यथार्थ ज्ञान की असली परीक्षा तब होती हैं जब उससे व्यवहार में सफलता होती है। यह कोहरा नहीं है धुँआं है, इस ज्ञान को यथार्थ तभी कहा जायगा जब हमें पास जाकर इच्छित अग्नि मिल या दीख जायगी। इस प्रकार नैयायिक 'परतः प्रामाण्य वादी' हैं। ज्ञान की परख उस ज्ञान से वाह्य व्यावहारिक सफलता से होती है।

आधुनिक समय में सत्य की व्यावहारिकता पर अमरीका के प्रोफेसर जेम्स (मनोवैज्ञानिक और दार्शनिक) तथा इंगलैण्ड के शिलर ने बहुत ज़ोर दिया है। परंतु जेम्स और न्याय के सिद्धांतों में भेद है। जेम्स के मत में सत्य-ज्ञान का लक्षण ही सफलज्ञान है। न्याय के मत में सत्य की परिभाषा तो 'जैसे को तैसा जानना' या ज्ञान और वस्तु की संवादिता (कारेस्पाण्डेन्स) ही है; केवल उसकी परख या पहचान व्यावहारिक सफलता पर निर्भर है। प्रामाण्यवाद भारतीय दर्शन की पुरानी सम्पत्ति है। योरुप और अमरीका ने इस पर विचार करना अभी ही शुरू किया है

इस विषय में मीमांसक नैयायिकों के कट्टर शत्रु हैं। वे 'स्वतःप्रामाण्य-वादी' हैं। उनकी युक्तियों और आलोचना का वर्णन आगे करेंगे।

अवयव और अवयवी

वैशेषिक के सात पदार्थों का वर्णन करने से पहले नैयायिकों के अवयवी-विषयक सिद्धांत पर और दृष्टिपात कर लें। नैयायिक अवयवी को अवयवों से भिन्न मानते हैं। घट पदार्थ उस मिट्टी या उन परमाणुओं से जिनका घट बना है, भिन्न है। वात्स्यायन ने अपने न्याय भाष्य में अवयवी के अवयवों से भिन्न होने पर अनेक युक्तियां दी हैं। सबसे बड़ा तर्क यह है कि अवयवी का

अवयवों से अलग प्रत्यक्ष होता है। घट का प्रत्यक्ष घट के किसी विशेष भाग तक सीमित नहीं होता। यदि अवयवी की अलग सत्ता होती तो उसका अलग प्रत्यक्ष भी नहीं होता। यदि अवयवी का प्रत्यक्ष न मानें, तो द्रव्य, गुण, जाति आदि का प्रत्यक्ष न हो सके। यदि कहो कि वास्तव में अवयवों के अतिरिक्त अवयवी की सत्ता नहीं होती; भ्रमवशात् अवयवों में एकता दीखने लगती है जिसे अवयवी का प्रत्यक्ष कहते हैं, तो ठीक नहीं। यदि कहीं भी 'एकता' की सत्ता न हो तो उसका भ्रम भी न हो। जिसे देखा नहीं है, उसका भ्रम भी नहीं हो सकता। इसलिए घड़ा परमाणुओं का समुदायमात्र नहीं है, उसकी अलग सत्ता है।

सप्त पदार्थ [1]

वैशेषिक सूत्र के रचियता ने छः पदार्थ माने थे; उनके आधुनिक अनुयायी सात पदार्थ मानते हैं। द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय और अभाव यह सात पदार्थ हैं। जिस किसी वस्तु का कोई नाम हो, उसे पदार्थ कहते हैं। पदार्थ न्याय-वैशेषिक की सबसे बड़ी श्रेणी है। वैशेषिक के पदार्थ अरस्तु की कैटेगरीज़ से भिन्न हैं। अरस्तू की कैटेगरीज़ 'सामान्य विशेषण' थीं। कणाद के पदार्थ तत्त्व-दर्शन की चीज़ हैं, उनका विभाग अरस्तू की तरह 'लॉजीकल' नहीं बल्कि ओण्टोलॉजिकल है। न्याय के पहले सूत्र में जो सोलह नाम गिनाये गए हैं उन्हें 'विवेचन के विषय' समझना चाहिये। सात पदार्थों में द्रव्य सबसे मुख्य हैं। पहले हम द्रव्यों का ही वर्णन करेंगे।

द्रव्य नौ हैं, पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक् या दिशा, आत्मा और मन। वात्स्यायन ने मन की गणना इन्द्रियों में की थी; वह अलग द्रव्य भी है। अब हम क्रमशः इनका वर्णन करते हैं।

१ इस अध्याय में अब तक जो पाठक पढ़ चुके हैं उसे ठीक-ठीक समझ लेने से आगे का ग्रंथ सुगम हो जायगा। सातों पदार्थों का वर्णन महत्वपूर्ण नहीं है। जीवात्मा, ईश्वर, परमाणुवाद, सामान्य पदार्थ, समवाय संबंध और अभाव ही महत्व के विषय हैं।

पृथ्वी—किसी पदार्थ के लक्षण में उसका एक ऐसा गुण बतलाना चाहिए, जो उसके अतिरिक्त किसी पदार्थ में न पाया जाय। अरस्तू के मतानुसार लक्षण में 'जीनस' (पदार्थ किस श्रेणी या सामान्य के अंतर्गत है) और डिफ़रेंशिया (व्यावर्तक गुण) बतलाना चाहिए। पृथ्वी द्रव्य है यह उसके 'जीनस' का कथन हुआ। वह गंधवाली है यह उसका व्यावर्तक गुण हुआ। बहुधा भारतीय विचारक उपर्युक्त लक्षण के पहले भाग को छोड़कर देते हैं। गंधवान् (पदार्थ) को पृथ्वी कहते हैं, यही लक्षण पर्याप्त समझा जाता है। वह पृथ्वी दो प्रकार की है, नित्य और अनित्य। परमाणु रूप से पृथ्वी नित्य है। कार्यरूप पृथ्वी अनित्य है। पृथ्वी एक और विभाग के अनुसार तीन प्रकार की भी है, शरीर इंद्रिय और विषय के भेद से। हमारा शरीर पार्थिव है। गंध का ग्रहण करनेवाली घ्राणेन्द्रिय भी पार्थिव है जो नासिका के अग्र भाग में रहती है। विषय मिट्टी पत्थर आदि हैं, जिनका प्रत्यक्ष होता है।

गंध तो पृथ्वी का व्यावर्तक गुण है, वह गुण जो उसे अन्य भूतों से अलग करता है। इसके अतिरिक्त पृथ्वी में रूप, रस, और स्पर्श भी पाए जाते हैं।

जल—शीतस्पर्शवान् जल है। पृथ्वी की तरह जल भी नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। शरीर, इंद्रिय और विषय भेद से तीन प्रकार का भी है। शरीर वरुण लोक में है, इंद्रिय रस का ग्रहण करनेवाली रसना है। जो जिह्वा के अग्र भाग में रहती है। विषय हैं नदी, समुद्र आदि हैं। शीत स्पर्श के अतिरिक्त जल में रूप और रस भी हैं।

तेज या अग्नि—उष्ण-स्पर्श लक्षण है। परमाणु रूप से नित्य और कार्यरूप से अनित्य होती है। शरीर आदित्य लोक में है। इंद्रिय रूप-ग्राहक चक्षु है जो काले तारे के अग्र भाग में रहती है। विषय चार प्रकार का है; एक पार्थिव जैसे अग्नि; दूसरा दिव्य (आकाश से संबद्ध) जैसे

बिजली; तीसरा उदर्य, वह अग्नि जो पेट में भोजन पचाती है; चौथा खनिज, जैसे सुवर्ण।

नैयायिक सुवर्ण को तैजस पदार्थ मानते हैं। वास्तव में सुवर्ण पार्थिव है। अग्नि के संयोग से कुछ पार्थिव भाग सुवर्ण बन जाते हैं। सुवर्ण को तैजस सिद्ध करने के लिये दी गईं युक्तियां महत्त्व-पूर्ण नहीं हैं। अग्नि में रूप गुण भी है।

वायु—रूपरहित स्पर्शवान् को वायु कहते हैं। वह नित्य और अनित्य दो प्रकार का है। शरीर वायुलोक में है। इंद्रिय स्पर्श का ग्रहण करनेवाली त्वचा (खाल) है जो सारे शरीर को ढके है। विषय वृक्षादि को कँपानेवाली हवा और शरीर के अंदर संचार करनेवाले प्राण हैं। शरीर में एक ही वायु संचार करता है लेकिन उपाधि भेद से उसके अनेक नाम हो जाते हैं।

हृदि प्राणो गुदेऽपानः समानो नाभि मण्डले
उदानः कण्ठदेशस्थो व्यानः सर्व शरीरगः।

हृदय में 'प्राण', गुदा में 'अपान', नाभि में 'समान' और कण्ठ में 'उदान' संज्ञा हो जाती है। 'व्यान' सारे शरीर में व्याप्त है।

आकाश—आकाश में सिर्फ़ शब्द गुण है; वह एक और नित्य है। आकाश व्यापक पदार्थ है।

पृथ्वी, जल, तेज और वायु नित्यदशा में परमाणु रूप होते हैं।

परमाणुवाद

परमाणुओं का प्रत्यक्ष नहीं होता। फिर परमाणुओं का अनुमान किस प्रकार किया जाता है? हम देखते हैं कि वस्तुओं के टुकड़े हो जाते हैं। प्रत्येक दीखनेवाली चीज़ अवयवों की बनी हुई है। अवयवों के और छोटे अवयव या टुकड़े हो सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि हम किसी चीज़ के जितने चाहें उतने छोटे टुकड़े कर सकते हैं। लेकिन अनुभव यह है कि किसी वस्तु के खंड-खंड करने की सीमा है। इसका अर्थ यह है कि वस्तु

को तोड़ते-तोड़ते एक ऐसे स्टेज पर पहुँचा जा सकता है जब उस वस्तु के और टुकड़े न हो सकें। खंड-खंड करना एक सीमा तक ही हो सकता है। यदि हम इस सीमा को न मानें तो क्या कोई हर्ज है? सीमा न मानने से हर एक वस्तु अनंत अवयवों की बनी हुई माननी पड़ेगी। इसका अर्थ यह होगा कि तिल के दाने और पहाड़ दोनों के अनंत अवयव हैं और इसलिये दोनों बराबर हैं। इस नतीजे से बचने के लिये टुकड़े करने की हद माननी चाहिए।[1] दृश्यमान या इंद्रिय-ग्राह्य पदार्थों का वह छोटे से छोटा भाग जिसके फिर अवयव या टुकड़े न हो सकें, परमाणु कहलाता है। एक श्लोक है :—

जालसूर्य मरीचिस्थं यत्सूक्ष्मं दृश्यते रजः
तस्य षष्ठतमो भागः परमाणुः स उच्यते।

'गवाक्ष' में आती हुई सूर्य की किरणों में जो सूक्ष्म रज के कण दिखाई देते हैं उनके छठवें अंश को परमाणु कहते हैं, सब परमाणुओं का एक ही परिमाण है। प्रत्येक भूत के परमाणु अलग-अलग प्रकार के हैं। पृथ्वी के परमाणुओं का गुण गंध है; जल के परमाणुओं का शीत स्पर्श; तेज के परमाणुओं का उष्ण स्पर्श इत्यादि। दो परमाणुओं के संघात को 'द्वयणुक' कहते हैं। तीन द्वयणुकों का एक 'त्र्यणुक' होता है त्र्यणुक में छः परमाणु होते हैं। परमाणु का अणु परिमाण है। द्वयणुक का भी यही परिमाण है। त्र्यणुक का मध्यम महत् परिमाण है। त्र्यणुक दिखलाई देता है। त्र्यणुक के परिमाण का कारण परमाणु या द्वयणुक का अणुपरिमाण नहीं होता। परमाणुओं की संख्या बड़े परिमाणों (महत्परिमाण) का कारण होती है। परमाणुओं में बाहर भीतर का भेद नहीं है। उनमें स्वाभाविक गति नहीं है। गति का कारण अदृश्य बतलाया जाता है। दृश्यमान पदार्थों के गुण उनके उपादान-कारण परमाणुओं के गुणों के अनुसार हैं। प्रलय-काल में सारे पदार्थ परमाणुरूप हो जाते हैं।

---

1 दे० कारिकावली पर मुक्तावली, प्रत्यक्षखण्ड, ३७.

पकाने से कच्चे घड़े का रंग बदल जाता है और घड़ा पक्का हो जाता है। प्रश्न यह है कि परिवर्तन परमाणुओं में होता है या अवयवी घड़े में। वैशेषिक का मत

पीलुपाक और पिठरपाक[1]

'पीलुपाकवाद' कहलाता है। पकाने पर पहला घड़ा परमाणुओं में विशीर्ण होकर नष्ट हो जाता है। गर्मी लगने से विशीर्ण परमाणुओं का रंग लाल पड़ जाता है। यह परमाणु फिर घट रूप में परिवर्त्तित हो जाते हैं। एक घड़ा नष्ट होकर दूसरा घड़ा उत्पन्न होता है।

न्याय का सिद्धांत इससे भिन्न है; उसे 'पिठरपाकवाद' कहते हैं। रंग का परिवर्तन अवयवों या परमाणुओं और अवयवी या घड़े दोनों में साथ साथ होता है। यह मत ठीक मालूम होता है। यदि सचमुच एक घड़ा नष्ट होकर दूसरा घड़ा उत्पन्न होता है तो दूसरे घड़े को 'वही' घड़ा नहीं कह सकते। अनुभव में तो वही घड़ा दिखाई देता है; वही आकार रहता है; सिर्फ़ रंग में भेद हो जाता है।

निरवयव होने पर भी परमाणुओं को परिमाण्डल्य या गोले के आकार का कहा जाता है।

कुछ पश्चिमी विद्वानों का विचार है कि भारतीय परमाणुवाद, सिकंदर के हमले के समय, भारत का यूनान से संपर्क होने का फल है। यह मत समीचीन

यूनान का प्रभाव?

नहीं मालूम होता। यूनान में परमाणुवाद का जन्मदाता 'डिमोक्रिटस' था। उसके और कणाद के परमाणुवाद में बहुत भेद है। जैन-परमाणुवाद भी यूनानी से भिन्न है। पहली बात यह है कि डिमॉक्रिटस चैतन्यतत्त्व को नहीं मानता था; वह जड़वादी था। जैन और कणाद दोनों आत्मा की अलग सत्ता मानते हैं। भारतीयों के परमाणु आत्माओं से भिन्न हैं जब कि डिमोक्रिटस का आत्मा सूक्ष्म परमाणुओं का ही विकार है। दूसरे, भारतीय परमाणुओं में रूप, रस आदि 'सेकण्डरी क्वॉलिटीज़' मानी जाती

[1] राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० १९९

हैं, जिनका अभाव यूनानी और योरुपीय परमाणुवाद की विशेषता है। तीसरे, भारतीय परमाणुओं में गति स्वाभाविक नहीं है, बल्कि अदृष्ट या ईश्वर या (जैनों के) धर्मास्तिकाय से आती है। डिमोक्रिटस के परमाणुओं में स्वयं-सिद्ध गति है। कणाद के परमाणु नाना प्रकार के हैं; डिमोक्रिटस के सब परमाणु एक से गुणवाले हैं जिन में सिर्फ़ आकार और परिमाण का भेद है।

आधुनिक विज्ञान ने परमाणुओं के भी खण्ड कर डाले हैं। सब तत्वों के परमाणु अन्ततः विद्युत्-तरंगों के विकार हैं। वे या तो भावात्मक (पॉज़ीटिव) या अभावात्मक (निगेटिव) विद्यदणुओं के संघात-मात्र हैं।

कुछ मीमांसकों का मत है कि तम या अंधकार को अलग द्रव्य मानना चाहिए। नीला अन्धकार चलता हुआ मालूम होता है। दीपक को हटाने से अन्धकार हटता हुआ प्रतीत होता है। यदि अंधकार में क्रिया (चलना) और गुण (नीलरूप) हैं तो उसे नया द्रव्य क्यों न मानें ? न्याय का उत्तर है कि प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है। अभाव को पदार्थ मान ही लिया है। न्याय का मत वैज्ञानिक भी है। अंधकार का चलना भ्रम से प्रतीत होता है। नीलरूप भी भ्रम है। अब अन्य द्रव्यों का वर्णन करते हैं।

काल—अतीत, वर्तमान, भविष्य आदि के व्यवहार का कारण काल है। 'ऐसा हुआ', 'ऐसा होगा' आदि व्यवहार बिना काल के नहीं हो सकते। काल एक और व्यापक तथा नित्य है।

दिक्—पूर्व, पश्चिम आदि के व्यवहार का कारण दिशा है। यह भी एक, नित्य और विभु है। प्राची, प्रतीची आदि भेद औपाधिक अर्थात् सूर्योदय आदि की अपेक्षा से हैं। इसी प्रकार काल के तीन भेद भी औपाधिक हैं।

आत्मा—जिसमें ज्ञान रहता है वह आत्मा है। जानना बिना जानने वाले के नहीं हो सकता। आत्मा दो प्रकार का है, एक जीवात्मा और

दूसरा परमात्मा। जीवात्मा हर शरीर में अलग-अलग है। प्रत्येक जीव व्यापक और नित्य है। सर्वत्र ईश्वर एक ही है।

आत्मा शरीर से भिन्न है; वह इंद्रियों का अधिष्ठाता है। इंद्रियां प्रत्यक्ष ज्ञान की करण हैं और करण बिना कर्त्ता के नहीं रह सकता। इसलिये इंद्रियों से भिन्न आत्मा को मानना चाहिए।[1] आत्मा इंद्रियों और शरीर का चैतन्य-संपादक है। शरीर भी आत्मा नहीं है। मरे हुये व्यक्ति का भी शरीर वर्त्तमान होता है। फिर उसे मरा हुआ क्यों कहते हैं? क्योंकि उसमें आत्मा नहीं रहती। यदि शरीर ही आत्मा होता तो मृत शरीर भी जान सकता; उसमें भी चैतन्य होता।[2] शरीर के अवयव घटते बढ़ते रहते हैं; शरीर बदलता रहता है। यदि परिवर्त्तनशील शरीर आत्मा होता तो बचपन की बातें बड़ी उम्र में याद न रहतीं।

यदि कहो कि पहले शरीर से उत्पन्न संस्कार दूसरे शरीर में संस्कार उत्पन्न कर देते हैं तो ठीक नहीं। अनंत संस्कारों की कल्पना में 'गौरव' है। जहां एक वस्तु मानने से काम चलता हो वहां अनेक वस्तुएं मानने में गौरव दोष होता है।

जन्मते ही बालक की स्तन-पान में प्रवृत्ति होती है, यह पिछले जन्म के संस्कारों के कारण है। 'इससे मेरा भला होगा' (इष्ट-साधनता-ज्ञान) यह ज्ञान ही, न्याय के मानस-शास्त्र में, प्रवृत्ति का कारण है। मा के स्तनपान से भलाई होगी, यह ज्ञान संपादन करने का अवसर बालक को इस जन्म में नहीं मिला है, इसलिए पिछला जन्म मानना चाहिए। यदि पूर्व जन्म है तो उसका स्मरण क्यों नहीं होता? उत्तर यह है कि स्मरण के लिये उद्‌बोधक (स्मृति को जगाने के हेतु) की आवश्यकता होती है। इस जन्म में भी हम हर समय हर चीज़ को याद नहीं करते। उद्-बोधक होने पर ही पहले अनुभव की हुई चीजें याद आती हैं। इसलिए स्मृति का अभाव पुनर्जन्म के विरुद्ध नहीं है।

---

[1] करणं हि सकर्तृकम्-कारिकावली प्रत्यक्ष-खंड, ४७ [2] वही, ४८

इंद्रियों को ही आत्मा मानने में क्या हर्ज है? वे ज्ञान की करण और कर्त्ता दोनों क्यों नहीं हो सकतीं? उत्तर यह है कि एक इंद्रिय का नाश हो जाने पर उस इंद्रिय से प्रत्यक्ष किये पदार्थों की स्मृति बनी रहती है, जो कि आक्षेप करनेवाले के मत में नहीं होनी चाहिए। यदि कोई कुछ अवस्था के बाद अंधा हो जाय तो उसकी देखे हुये पदार्थों की स्मृति नष्ट नहीं हो जाती। यह स्मृति-ज्ञान आत्मा में रहता है।

'मैं अपने देखे हुये पदार्थ को सूंघता हूं' यहां देखना और सूँघना किसी एक ही पदार्थ का ज्ञान है। देखे हुये का स्मरण घ्राणेन्द्रिय (नासिका) नहीं कर सकती। इसलिये दोनों ज्ञानों का आश्रय आत्मा को मानना चाहिए जो आँख और नाक दोनों से भिन्न है।

चक्षु आदि इंद्रिय चेतन न सही, मन को चैतन्य-युक्त मानने में क्या हर्ज है? न्याय का मत है कि मन अणु है, उसका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। यदि सुख, दुःख अणु मन के धर्म होते तो उनका प्रत्यक्ष न होता। प्रत्यक्ष महत्परिमाण के बिना नहीं हो सकता। मन अणु है, यह आगे बताया जायगा। इस प्रकार शरीर, इंद्रियों और मन से भिन्न आत्मा की सत्ता सिद्ध होती है।

जैसे रथ की गति से सारथि का अनुमान होता है इसी प्रकार ज्ञान, प्रयत्न आदि चेष्टाओं से, दूसरों के शरीर में आत्मा है, ऐसा अनुमान होता है। अहंकार (मैं हूं) का आश्रय भी आत्मा है, शरीरादि नहीं। आत्मा मानस प्रत्यक्ष का विषय है। दूसरी इन्द्रियां उसे नहीं देख सकतीं।[1] आत्मा विभु है। बुद्धि अर्थात् ज्ञान, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार आदि उस के गुण हैं। बुद्धि दो प्रकार की है, अनुभूति और स्मृति। अनुभूति चार प्रकार की है, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। संस्कार-जन्य ज्ञान को स्मृति कहते हैं।

जीवात्मा को सिद्ध करने के बाद परमात्मा की सत्ता की सिद्धि करनी

---

[1] वही, ५०

न्याय का ईश्वरवाद

चाहिए। ईश्वर की सिद्धि के लिये नैयायिकों का सबसे प्रसिद्ध तर्क इस प्रकार है:—

पृथ्वी, अंकुर आदि कर्तृ-जन्य (कर्त्ता से उत्पन्न) हैं,

क्योंकि वे कार्य हैं,

जो जो कार्य होता है वह कर्तृ-जन्य होता है, जैसे घट।

इस अनुमान से यह सिद्ध होता है कि पृथ्वी, तारागण, सूर्यादि का कोई कर्त्ता है। चूंकि मनुष्यों में इनका कर्तृत्व संभव नहीं है, इसलिये इनके कर्त्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वर का होना आवश्यक है।[1]

इस युक्ति के आलोचकों ने बतलाया है कि जगत् को 'कार्य' मान लेना वास्तव में जो सिद्ध करना है, जो साध्य है, उसे सिद्ध मान लेना है। जगत् का कार्य होना स्वयं-सिद्ध सत्य नहीं है, उसे प्रमाण की अपेक्षा है। यह कहना कि सावयव होने के कारण जगत् कार्य है, ठीक नहीं। प्रत्येक सावयव पदार्थ कार्य ही हो, यह आवश्यक नहीं है। दूसरे, कर्त्ता शरीरवान ही देखा गया है। यदि ईश्वर जगत का कर्त्ता है तो उसे शरीरी होना चाहिए। परंतु शरीरवान् कर्त्ता सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सब प्रकार शुद्ध नहीं हो सकता; न उसका शरीर ही नित्य हो सकता है। अनित्य शरीर के कर्त्ता की अपेक्षा होगी। ईश्वर के शरीर का कर्त्ता कौन हो सकता है?

श्री उदयनाचार्य ने अपनी 'कुसुमाञ्जलि' में ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये कुछ और प्रमाण दिये हैं। वे कहते हैं,

कार्यायोजन धृत्यादेः पदात्प्रत्ययतः श्रुतेः
वाक्यात्संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वविदव्ययः। (५/१)

इस श्लोक में आठ युक्तियां दी गई हैं जिन का हम क्रमशः वर्णन देते हैं।

१—जगत् कार्य है, उसका कर्त्ता आवश्यक है। यह युक्ति ऊपर दी जा चुकी है।

---

[1] वही, मंगलाचरण।

२—आयोजन—सृष्टि के प्रारंभ में दो परमाणुओं को मिलाकर द्व्यणुक बनाना बिना ईश्वर के नहीं हो सकता। परमाणुओं का संयोग-कर्त्ता ईश्वर है।

३—धृति—ईश्वर जगत् को धारण करता है, अन्यथा पृथिवी आदि लोक गिर पड़ें।

४—पदात्—कपड़ा बुनने आदि की कलाएं गुरु-शिष्य-परंपरा से चली आती हैं। इनका आविष्कार प्रारंभ में ईश्वर द्वारा हुआ होगा। पतंजलि का कथन है कि ईश्वर प्राचीनों का भी गुरु है; उसकी कालकृत सीमा नहीं है।

५—प्रत्ययतः—वेदों का प्रामाण्य ईश्वर से आया है। वेद जो यथार्थ ज्ञान उत्पन्न करते हैं इसका श्रेय ईश्वर को है।

६—श्रुतेः—श्रुति भी कहती है कि ईश्वर है।

७. वाक्यात्—वेद वाक्यमय हैं, वाक्यात्मक हैं। इन वाक्यों का रचयिता होना चाहिए।

८—संख्या विशेषात्—दो परमाणुओं के मेल से द्व्यणुक बना जिससे त्र्यणुकों और जगत् की सृष्टि संभव हुई। इस 'दो' संख्या की कल्पना करनेवाला ईश्वर था।

उदयन ने ईश्वर की सत्ता में एक और भी प्रमाण दिया है। पहले उन्होंने अदृष्ट की स्थापना की है और फिर यह दिखलाया है कि अदृष्ट का नियमपूर्वक व्यापार ईश्वर के बिना नहीं हो सकता। 'अदृष्ट' को नियमितरूप से व्यापृत (व्यापारवान) करने से लिए ईश्वर अथवा एक बुद्धिमान् और शक्तिमान् पदार्थ का होना आवश्यक है।

इन युक्तियों का आधुनिक काल में क्या महत्त्व रह गया है, यह बताना कठिन है। भिन्न-भिन्न व्यक्तियों को भिन्न-भिन्न प्रकार की युक्तियां अच्छी मालूम होती हैं। अदृष्ट से संचालन अथवा कर्मफल के

नियमन के लिए ईश्वर की आवश्यकता है यह तर्क पुनर्जन्म और कर्म-सिद्धांत में विश्वास रखनेवालों के लिये काफ़ी महत्त्वपूर्ण है।

मन—मन नौ द्रव्यों में अंतिम द्रव्य है। सुख, दुःख आदि की उपलब्धि का साधन मन है। मन एक इंद्रिय है। प्रत्येक आत्मा एक अलग मन से संबद्ध है। मन परमाणुरूप और अनंत हैं।

द्रव्यों का वर्णन हो चुका अब अन्य पदार्थों का वर्णन करते हैं।

गुण पदार्थ

वैशेषिक सूत्र में १४ गुण गिनाए गए थे, नवीन विचारकों ने उनमें सात और जोड़ दिए हैं। सूत्र में 'च' के प्रयोग से इन सात गुणों की ओर संकेत के, ऐसा टीकाकारों का मत है (देखिये वैशेषिक सूत्रोपस्कार)। विश्वनाथ कहते हैं,

अथ द्रव्याश्रिता ज्ञेया निर्गुणा निष्क्रिया गुणाः

अर्थात् गुण द्रव्यों के आश्रित रहते हैं; उनमें और गुण नहीं होते, न क्रिया होती है। चौबीस गुण यह हैं—रूप, रस, गंध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, शब्द, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म और संस्कार।

नेत्रेन्द्रिय से ग्राह्य गुण को 'रूप' कहते हैं जो सात प्रकार का है अर्थात् सफ़ेद, नीला, पीला, हरा, लाल, कपिश और चित्र। पृथ्वी, जल और वायु रूपवान् पदार्थ हैं। जल में अभास्वर शुक्ल, अग्नि में भास्वर (चमकनेवाला) शुक्ल गुण है। पृथ्वी में सातों रंग हैं। रस छः प्रकार का है—मधुर, खट्टा, नमकीन, कटु या कड़वा, कषाय और तिक्त। गंध दो प्रकार की है, सुगंध और दुर्गंध। स्पर्श शीतल, उष्ण और अनुष्णाशीत (न गर्म न ठंडा) तीन प्रकार का है। रस पृथ्वी और जल में रहता है, गंध पृथ्वी में, स्पर्श पृथ्वी, जल और तेज में। नित्य पदार्थों, के रूपादि अपाकज और नित्य होते हैं। पाकज का अर्थ है अग्नि-संयोग-जन्य।

एक, दो, आदि के व्यवहार का हेतु संख्या है। नवों द्रव्यों में रहती

है। मानव्यवहार (कम और ज़्यादा) के व्यवहार का कारण परिमाण है। वह चार प्रकार का होता है—अणु, महत्, दीर्घ और ह्रस्व। परमाणुओं और द्वयणुकों का अणु परिमाण है। मन भी अणु है। घट का महत् परिमाण है; आकाश का परम महत् या दीर्घ। द्वयणुक का ह्रस्व परिमाण भी कहा जाता है।

पृथक् व्यवहार का कारण पृथक्त्व गुण है। सब द्रव्यों में रहता है। संयुक्त व्यवहार का हेतु 'संयोग' गुण है। संयोग का नाश करनेवाला गुण 'विभाग' है। 'परत्व' और 'अपरत्व' देश और काल दोनों की अपेक्षा से होता है। दूर को 'पर' और समीप को 'अपर' कहते हैं। प्रथम पतन का असमवायिकारण गुरुत्व गुण है जो सिर्फ़ पृथ्वी और जल में रहता है।

बहने का असमवायिकारण 'द्रवत्व' है। पिंडीभाव (पिंड बनने) का हेतु स्नेह गुण है, जलमात्र में रहता है। कान से ग्रहण करने योग्य गुण शब्द है। नैयायिक शब्द को जैनियों की तरह द्रव्य नहीं मानते। शब्द नित्य भी नहीं है। शब्द दो प्रकार का है, ध्वन्यात्मक और वर्णात्मक। भेरी आदि का शब्द ध्वन्यात्मक होता है। संस्कृतभाषा वर्णात्मक—शब्दमय है। सब प्रकार के व्यवहार का हेतु ज्ञान ही बुद्धि कहलाता है। वह स्मृति और अनुभव भेद से दो प्रकार की है, इसका वर्णन हो चुका है।

जो सबको अनुकूल मालूम हो वह 'सुख' है। प्रतिकूल महसूस होनेवाला 'दुख' है। इच्छा कामना को कहते हैं; क्रोध को द्वेष, प्रयत्न कृति को। विहित कर्मों से धर्म उत्पन्न होता है; निषिद्ध कर्मों से अधर्म।

संस्कार तीन प्रकार का है। वेग संस्कार पहले चार भूतों और मन में रहता है; भावना संस्कार आत्मा में। भावना अनुभव से उत्पन्न होती है और स्मरण का हेतु है। किसी चीज़ का रूप परिवर्तन, अन्यथा-भाव हो जाने पर उसे पहली दशा में पहुँचाने वाला 'स्थिति-स्थापक संस्कार' है; यह पार्थिव पदार्थों में रहता है। गुणों का वर्णन समाप्त हुआ।

कर्म पदार्थ

गतिमात्र को कर्म कहते हैं जो उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुञ्चन, प्रसारण और गमन भेद से पाँच प्रकार का है। उत्क्षेपण ऊर्ध्वदेश के संयोग का हेतु है; अपक्षेपण अधोदेश के। शरीर से संनिकृष्ट पदार्थ के संयोग का हेतु आकुञ्चन, दूर पदार्थ के संयोग का हेतु प्रसारण कर्म है। इनके अतिरिक्त सबको 'गमन' कहते हैं।

सामान्य

अनेकों में उपस्थित, नित्य, एक पदार्थ सामान्य कहलाता है। सामान्य का अर्थ है जाति जैसे गोत्व जाति अश्वत्व और मनुष्यत्व जाति। सामान्य द्रव्य, गुण और कर्म में रहता है। सत्ता को 'परसामान्य' कहते हैं; द्रव्यत्व, गुणत्व आदि 'अपरसामान्य' हैं। पर और अपर आपेक्षिक शब्द हैं। पदार्थत्व जाति 'द्रव्यत्व' की अपेक्षा 'पर' है। इसका अर्थ यह हुआ कि पदार्थ के अंतर्गत के सब चीज़ें तो हैं ही जो द्रव्य के अंतर्गत हैं; उनके अतिरिक्त चीज़ें भी हैं।

नैयायिकों के अथवा न्याय-वैशेषिक के अनुसार वस्तुओं के साधारण गुण, बहुत वस्तुओं में पाये जानेवाले गुण विशेष, का नाम सामान्य नहीं है। सामान्य गुण नहीं, एक अलग पदार्थ है। प्रत्येक सामान्य गुण को जाति या सामान्य नहीं कहते। अंधे बहुत होते हैं, पर अंधत्व जाति नहीं है। प्रशस्तपाद के मत में ज़ाति या सामान्य की स्वतंत्र सत्ता है, व्यक्तियों से भिन्न। उन्होंने सामान्य की नित्यता पर ज़ोर दिया है। यह मत प्लेटो के मत से मिलता है। बौद्धों के अनुसार सामान्य की व्यक्तियों से अलग सत्ता नहीं होती। सामान्य या जाति सिर्फ नामों में रहती है, उसकी स्वतंत्र सत्ता नहीं माननी चाहिए। यदि गाय के व्यक्तित्व के लिये एक सामान्य की आवश्यकता है, तो गोत्व, अश्वत्व आदि सामान्यों का भी सामान्य होना चाहिये। गोत्व की तरह 'सामान्यत्व' जाति भी होनी चाहिए जिसे नैयायिक नहीं मानते। सामान्य,

विशेष, समवाय और अभाव में जाति नहीं रहती। विशेष अनंत हैं और अभाव चार; यह विशेषत्व और अभावत्व जातियां नहीं हैं। जाति और व्यक्ति में समवाय संबंध रहता है। कभी न टूटनेवाला संबंध 'समवाय' कहलाता है ?

बौद्धों के अनुसार सब जातियां स्वेतरभेदरूप (अपने से अतिरिक्त पदार्थों के भेदस्वरूप) हैं ? गोत्व का अर्थ है 'गवेतरभेद'; अश्वत्व का अर्थ है अश्वेतरभेद (गो या अश्व से इतर पदार्थों से भेद)। नित्य गोत्व अश्वत्व आदि कहानी-मात्र हैं। सब गौवों और घोड़ों के नष्ट हो जाने पर, प्रलयकाल में, गोत्व, अश्वत्व आदि जातियां कहां रहती हैं ?

दूसरे, यदि जाति व्यक्तियों से भिन्न है, तो उसका व्यक्तियों से अलग, व्यक्तियों के बिना भी प्रत्यक्ष होना चाहिए; यदि व्यक्तियों से भिन्न नहीं है तो व्यक्तियों के नाश के साथ उसका नाश हो जाना चाहिए।

तीसरे, यदि जाति नित्य और प्रत्यक्षगम्य है तो उसका हर समय प्रत्यक्ष होना चाहिए।

चौथे, प्रत्येक व्यक्ति में सम्पूर्ण जाति रहती है या जाति का कोई अंश ? यदि प्रत्येक व्यक्ति में संपूर्ण जाति मानो तो बहुत सी जातियां हो जायँगी; प्रत्येक गौ में अलग अलग गोत्व जाति होगी। दूसरी दशा में, व्यक्तियों में जाति के अंश रहते हैं यह मानने पर, बिना सब व्यक्तियों को इकट्ठा किये सम्पूर्ण जाति का प्रत्यक्ष न हो सकेगा। इन आक्षेपों के कारण जाति की वास्तविक सत्ता नहीं माननी चाहिए।

यह आक्षेप नैयायिकों और मीमांसकों दोनों के विरुद्ध बौद्धों ने उठाये हैं। प्लेटो के यूनिवर्सल्स की भी ऐसी ही आलोचना की गई थी। उत्तर में कहा गया है कि व्यक्ति में जाति की अभिव्यक्ति होती है। व्यक्ति की उत्पत्ति या नाश से जाति की अभिव्यक्ति प्रकट या नष्ट हो जाती है न कि स्वयं जाति। व्यक्तियों से अतिरिक्त जाति की सत्ता का अनुभव

होता है, इसलिये अनुभव के बल पर 'सामान्य' पदार्थ स्वीकार करना चाहिए।[1]

विशेष

विशेष नित्य द्रव्यों (परमाणुओं, आकाश, काल आदि) में रहते हैं और अनन्त हैं। 'विशेष' की उपस्थिति के कारण ही एक परमाणु दूसरे परमाणुओं से और एक पदार्थ दूसरे पदार्थों से अलग रहता है। घटादि अनित्य पदार्थों में विशेष नहीं माने जाते। आलोचकों का विचार है कि 'विशेष' वैशेषिक की—वैशेषिक नाम 'विशेष' से ही पड़ा है—सबसे व्यर्थ धारणा है। यदि परमाणुओं को एक दूसरे से भिन्न करने के लिये असंख्य विशेषों की आवश्यकता है तो विशेषों को भिन्न करने के लिये और किसी की आवश्यकता क्यों नहीं? यदि विशेष अपने आप भिन्न रह सकते हैं तो परमाणुओं में भी स्वतः भेद रह सकता है। विशेष पदार्थ मानने से अनवस्था दोष आता है।

समवाय

नित्य संबंध को समवाय कहते हैं। अयुतसिद्ध पदार्थों में समवाय संबंध रहता है। जिन दो पदार्थों में एक दूसरे के आश्रय से ही रह सकता है उन्हें 'अयुत-सिद्ध' कहते हैं। अवयव-अवयवी, गुण-गुणी, क्रिया-क्रियावान्, जाति-व्यक्ति, विशेष-नित्यद्रव्य यह 'अयुत-सिद्ध' पदार्थ हैं। इनमें समवाय संबंध रहता है।

अभाव

वैशेषिक का अंतिम पदार्थ 'अभाव' है। यह चार प्रकार का है, प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अन्योन्याभाव, और अत्यन्ताभाव।

प्रागभाव अनादि और सान्त होता है। उत्पत्ति से पहले घट का अनादि प्रागभाव होता है जो घट की उत्पत्ति से नष्ट हो जाता है।

---

[1] देखिए शास्त्र दीपिका (निर्णय सागर प्रेस) पृ० १०१

प्रध्वंसाभाव सादि (आदि वाला) और अनंत होता है। उत्पत्ति के बाद नाश होने वाले घट का अभाव इसी प्रकार का होगा।

तीनों कालों के अभाव को अत्यंताभाव कहते हैं। खपुष्प (आकाश-कुसुम) और शशशृङ्ग का अत्यन्ताभाव है।

एक वस्तु का दूसरी वस्तु में जो अभाव होता है उसे 'अन्योन्याभाव' या पारस्परिक अभाव कहते हैं। घट का पट में अभाव है और पट का घट में।

अभाव पदार्थ को मानना आवश्यक है। यदि वस्तुओं का अभाव न हो तो सब पदार्थ नित्य हो जायं; किसी का नाश न हो सके। यदि प्रागभाव को न माना जाय तो सब वस्तुओं को अनादि मानना पड़ेगा। यदि प्रध्वंसाभाव को न मानें तो वस्तुओं का कभी नाश न होगा। यदि अन्योन्याभाव की सत्ता से इनकार किया जाय, तो वस्तुओं में भेद नहीं रहेगा; यदि अत्यन्ताभाव की कल्पना न की जाय तो सर्वत्र सब चीज़ों की सत्ता संभव हो जायगी।[1]

सात पदार्थों का वर्णन समाप्त हुआ। संसार की कोई चीज़ इन सात पदार्थों के बाहर नहीं रह जाती; इसलिये सात ही पदार्थ हैं, ऐसा सिद्ध होता है।

न्याय-वैशेषिक का महत्त्व; उसकी आलोचना

न्याय-वैशेषिक के दार्शनिक सिद्धांत मनुष्यों की सामान्य बुद्धि के अनुकूल हैं। जड़ और चेतन का स्पष्ट भेद तात्त्विक मान लिया गया है। पदार्थों में ज़बर्दस्ती एकता लाने की कोशिश नहीं की गई है। पृथ्वी, जल आदि भूतों को सर्वथा भिन्न मान लिया गया है। पचास वर्ष पहले योरप के वैज्ञानिक तत्त्वों में आंतरिक भेद मनाते थे परंतु अब सब तत्त्वों को विद्युदणुओं में विश्लेषणीय माना जाता है। विद्युदणु या विद्युत्तरंगें ही आधुनिक विज्ञान के अनुसार विश्व का अंतिम तत्त्व हैं। आत्मा को शरीर, इंद्रियों आदि से भिन्न सिद्ध करने के लिये न्याय ने प्रबल युक्तियां दीं। इन

[1] राधाकृष्णन, भाग २, पृ० १२१

युक्तियों का प्रयोग सभी आस्तिक विचारकों ने किया है। ईश्वर की सिद्धि के लिये तो न्याय की युक्तियां प्रसिद्ध ही हैं। भारत के किसी दूसरे दार्शनिक संप्रदाय ने ईश्वर को सिद्ध करने की इतनी कोशिश नहीं की। उदयनाचार्य की 'कुसुमांजलि' भारतीय दर्शन साहित्य में एक विशेष स्थान रखती है।

वैशेषिक सूत्रों में ईश्वर का वर्णन नहीं है। विद्वानों का अनुमान है कि वैशेषिक पहले अनीश्वरवादी था। वास्तव में न्याय और वैशेषिक दोनों में जड़वादी प्रवृत्ति पाई जाती है। जीवात्मा और परमात्मा को पृथ्वी आदि जड़भूतों के साथ जकड़कर वर्णन कर दिया है। जैनों का जीव-अजीव जैसा विभाग न्याय-वैशेषिक में नहीं है। द्रव्य की अपेक्षा शब्द को गुण मानना ज़्यादा आधुनिक है। सामान्य की अलग सत्ता मानना स्थूल सिद्धांत है। वैशेषिक-कारने सामान्य और विशेष को बुद्ध्यपेक्ष या बुद्धि-मूलक, बौद्धिक पदार्थ, बतलाया है जो ठीक मालूम होता है। द्रव्य, गुण आदि की आलोचना के बारे में आगे वर्णन होगा।

न्याय-वैशेषिक सब आत्माओं को विभु मानते हैं। यदि सब आत्मा विभु हैं तो सब का सब शरीरों और मनों से संसर्ग होता होगा, जिसका परिणाम हर एक को सब मनुष्यों के हृदय या मस्तिष्क का ज्ञान होना चाहिए। पर-चित्त-ज्ञान साधारण बात होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं है। क्यों ? क्योंकि आत्मा का एक विशेष मन से संबद्ध होना 'अदृष्ट' के अधीन है। वस्तुतः अदृष्ट न्याय-वैशेषिक की कठिनाइयों या कमियों का ही दूसरा नाम है। सृष्टि के आरंभ में परमाणुओं की गति भी अदृष्ट से होती है। बहुत सी व्यापक आत्माओं के बदले एक चैतन्य शक्ति को मानना ज़्यादा संगत है। जीवों का भेद मन आदि की उपाधि से सिद्ध हो सकता है। यह वेदांत का सिद्धांत है।

परंतु न्याय-वैशेषिक की आत्मा चेतन नहीं है। चैतन्य आत्मा का गुण है जो आता जाता रहता है। जब ज्ञान उत्पन्न होता है, तब जीव

में चैतन्य भी उत्पन्न हो जाता है। मोक्ष दशा में जीव में इन्द्रियों के न होने से ज्ञान नहीं रहता, इसलिये चैतन्य भी नहीं होता। मुक्त जीव जड़ होते हैं। यदि चैतन्य गुण उत्पादन-शील है, तो आत्मा भी वैसी ही हो सकती है। इस प्रकार आत्मा अनित्य हो जायगी।

मोक्षदशा में जीव में सुख भी नहीं होता। दुःख के अत्यंत अभाव का नाम ही मोक्ष है। निरानंद जड़ावस्था जिसे नैयायिक मोक्ष कहते हैं, स्पृहणीय नहीं मालूम होती।

न्याय-वैशेषिक का मत श्रौत या वेद-मूलक नहीं है। उपनिषदों में ब्रह्म और मुक्त पुरुष के आनंदमय होने का स्पष्ट वर्णन है। 'ब्रह्म के आनंद को जानने वाला कभी भयभीत नहीं होता। उसी को पाकर आनंदी होता है' इत्यादि। नैयायिक श्रुति पर नहीं, तर्क पर निर्भर रहते हैं।[1] भारतीय तर्कशास्त्र को उन्होंने महत्त्वपूर्ण विचार और सिद्धांत दिये हैं। तर्कशास्त्र की उन्नति का आधा श्रेय नैयायिकों को और आधा जैन, बौद्ध आदि विचारकों को मिलना चाहिए।

---

[1] नैयायिक व्याख्या के अनुसार श्रुति के 'आनन्द-युक्त' का अर्थ 'दुःख-रहित' ही है। स्पष्ट शब्दों में श्रुति का तिरस्कार न्याय ने कभी नहीं किया।

तीसरा अध्याय

सांख्य-योग

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर वेदांत के बाद सांख्य को भारतवर्ष का सबसे महत्त्वपूर्ण दर्शन मानते हैं। अन्य दर्शनों की भाँति सांख्य के सिद्धांत भी अत्यंत प्राचीन हैं। हम देख चुके हैं कि कठ, श्वेताश्वेतर और मैत्रायणी उपनिषद् में सांख्य के विचार पाए जाते हैं। भगवद्गीता में भी प्रकृति और तीन गुणों का विस्तृत वर्णन है। महाभारत के अनुगीता में पुरुष और प्रकृति का भेद समझाया गया है। पुरुष ज्ञाता है तथा अन्य चौबीस तत्त्व ज्ञेय। प्रकृति और पुरुष का भेद-ज्ञान हो जाने पर मुक्ति हो जाती है। परंतु अनुगीता पुरुषों की अनेकता को उपाधिमूलक मानती है। वास्तव में पुरुष एक है जिसे ईश्वर कहते हैं। अब तक सब ग्रंथों का सांख्यसेश्वर सांख्य था।

सांख्य का साहित्य

सांख्य-दर्शन को वैज्ञानिक रूप देने का श्रेय कपिल को दिया जाता है। श्वेताश्वेतर में 'कपिल' शब्द आता है। भगवद्गीता में भगवान् ने कपिल को अपनी विभूतियों में गिनाया है—सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं (सिद्धानां कपिलो मुनिः)। कपिल को विष्णु का अवतार भी बताया जाता है (देखिये भागवत पुराण)। श्री राधाकृष्णन् कपिल को बुद्ध से एक शताब्दी पहले का ख्याल करते हैं (दे० भाग २ पृ० २५४)। कहा जाता है कि 'सांख्य प्रवचन सूत्र' और 'तत्त्वसमास' कपिल की कृतियां हैं, पर इस विषय में कोई निश्चित प्रमाण नहीं दिया गया है।

सांख्य दर्शन पर सबसे प्राचीन उपलब्ध ग्रंथ ईश्वरकृष्ण विरचित

'सांख्यकारिका' है। इस ग्रंथ में सिर्फ़ ७२ छोटी छोटी कारिकाओं में सांख्य दर्शन का पूरा परिचय दे दिया गया है। यह कारिकाएं आर्या छंद में हैं। कारिकाएं तीसरी शताब्दी ईसवी की बतलाई जाती हैं। इन्हीं गौड़पाद ने कारिकाओं पर टीका लिखी है। यह गौड़पाद शायद मांडूक्योपनिषद् पर कारिकाएं लिखनेवाले गौड़पाद से भिन्न हैं। दोनों गौड़पादों के सिद्धांतों में बहुत अंतर है। कारिकाकार गौड़पाद श्री शंकराचार्य के गुरु के गुरु और मायावाद के आदि प्रवर्तक कहे जाते हैं। उनके विषय में हम आगे लिखेंगे। सांख्य-कारिकाओं पर वाचस्पति मिश्र ने भी टीका की है जो 'सांख्य तत्त्व कौमुदी' के नाम से प्रसिद्ध है। अपनी व्याख्या के आरंभ में श्री वाचस्पति ने महामुनि कपिल, उनके शिष्य आसुरि, पञ्चशिखाचार्य तथा ईश्वरकृष्ण को नमस्कार किया है। कारिकाओं पर नारायण ने 'सांख्य-चंद्रिका' की रचना की है।

प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने अपने 'सिक्स सिस्टम्स आफ़ इंडियन फिलासफी' नामक ग्रंथ में यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि 'तत्त्वसमास' पुस्तिका सांख्य कारिकाओं से प्राचीन है। अन्य दर्शनों के प्राचीन सूत्रों की भाँति सांख्य के सूत्र नहीं पाये जाते। उक्त प्रोफ़ेसर 'तत्त्वसमास' को सूत्रस्थानी समझते हैं।[1] परंतु उनकी इस सम्मति का आदर नहीं किया गया है। प्रोफ़ेसर कीथ ने उक्त मत का तीव्र खंडन किया है। 'तत्त्वसमास' की भाषा कारिकाओं से नवीन मालूम होती है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' में माधवाचार्य तत्त्वसमास का ज़िक्र नहीं करते। 'सर्वदर्शनसंग्रह' में 'सांख्य-प्रवचन-सूत्र' की ओर भी संकेत नहीं है। 'माधव' का समय चौदहवीं शताब्दी है (१३८० ई०), इसलिये कुछ विद्वान् सांख्यसूत्र को बहुत बाद की रचना मानते हैं।

सांख्य सूत्रों पर श्री विज्ञानभिक्षु (सोलहवीं शताब्दी) ने 'सांख्य-प्रवचन भाष्य' लिखा है। विज्ञानभिक्षु सूत्रों को कपिल की कृति मानते

---

[1] देखिए पृ० २९४

हैं। सूत्रों में बहुत सी बातें नई पाई जाती हैं। उनमें न्याय, वैशेषिक, विज्ञानवाद, शून्यवाद आदि सब का खंडन है। सूत्रों में श्रुति का महत्त्व कुछ बढ़ जाता है; सूत्रकार बार-बार यह सिद्ध करने की कोशिश करता है कि उसका मत श्रुति के अनुकूल है। अद्वैतपरक श्रुतियां सब जीवों की एकता बतलाती हैं। सूत्रकार का कथन है कि यह एकता आत्म-जाति की एकता है, इस लिये सांख्य का श्रुति से विरोध नहीं है (नाद्वैत-श्रुति विरोधो जातिपरत्वात्)। सूत्रों पर वेदांत का प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। प्राणों की महिमा बढ़ जाती है। विज्ञान भिक्षु ने शांकर मायावाद का तीव्र खंडन किया है और यह दिखाने की कोशिश की है कि सब दर्शन एक ही सत्य का उपदेश करते हैं। विज्ञानभिक्षु के मत में सांख्य निरीश्वर-वादी नहीं है। सांख्यसूत्र कहता है कि ईश्वर की सिद्धि नहीं होती (ईश्वरासिद्धेः), प्रत्यक्ष और अनुमान ईश्वर को सिद्ध नहीं कर सकते। श्रुति भी प्रधान (प्रकृति) का महिमा गान करती है या मुक्त पुरुष का। विज्ञानभिक्षु कहते हैं कि यह आचार्य का 'प्रौढ़वाद' है। अन्यथा आचार्य 'ईश्वरासिद्धेः की जगह', 'ईश्वराभावात्' ऐसा सूत्र बनाते।

विज्ञान भिक्षु ने 'सांख्यसार' 'योगवार्त्तिक'; 'योग-सार संग्रह' और ब्रह्मसूत्र पर 'विज्ञानामृत' नामक टीका भी लिखी है।

योगदर्शन और उसका साहित्य

सांख्य और योग में उतना ही घनिष्ठ संबंध है जितना कि न्याय और वैशेषिक में। तत्त्व-दर्शन में सांख्य और योग का मतैक्य है। योगदर्शन में पुरुषों से भिन्न ईश्वर को भी माना गया है, यही भेद है। परंतु वास्तव में योग का ईश्वर साधारण लोगों का ईश्वर नहीं मालूम पड़ता। उसका सृष्टि-रचना में कोई हाथ नहीं है। उस तक पहुँचना जीवन का उद्देश्य भी नहीं है। योगसूत्र सिर्फ़ यही कहता है कि मन को एकाग्र करने के लिये ईश्वर-प्रणिधान भी एक मार्ग है। ईश्वर का ध्यान एकमात्र मार्ग नहीं है; बिना ईश्वर से संबंध रक्खे भी साधक मुक्त हो सकता है। कुछ विद्वान्

जैनियों के मुक्त जीव और योग के ईश्वर में सादृश्य देखते हैं। जैनी भी मुक्त जीव को ईश्वर या परमात्मा कहते हैं। उनका मुक्त जीव भी योग के ईश्वर की तरह सर्वज्ञ होता है। लेकिन योग का ईश्वर सिर्फ मुक्त पुरुष नहीं मालुम होता। मुक्त पुरुष तो कैवल्य (केवलता, इकलापन) में स्थित रहता है; उसे पूर्व पुरुषों का गुरु और सर्वज्ञता के बीज का आधार नहीं कह सकते। कैवल्यावस्था में प्रकृति का ज्ञान नहीं रह सकता।

योग को सांख्य का व्यावहारिक पूरक कहना चाहिए। चित्तवृत्तियों का निरोध कैसे हो जिससे कैवल्य-प्राप्ति हो, यही बताना योग का उद्देश्य है। पुरुष वास्तव में प्रकृति से भिन्न है; इस भिन्नता का व्यावहारिक अनुभव योग से हो सकता है। योगद्वारा चित्त-शुद्धि हुये बिना केवल-ज्ञान की उत्पत्ति असंभव है।

योग की धारणा बहुत प्राचीन है। अथर्ववेद में योगद्वारा अलौकिक शक्तियां प्राप्त करने का विश्वास पाया जाता है। कठ, तैत्तिरीय और मैत्रायणी उपनिषदों में योग का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग हुआ है। मैत्री उपनिषद् में षडङ्ग योग का वर्णन है। ललितविस्तर में लिखा है कि बुद्ध जी के समय में तरह-तरह की यौगिक क्रियायें प्रचलित थीं। पिटकों में योग द्वारा चित्त स्थिर करने का वर्णन पाया जाता है। गीता और महाभारत में सांख्य और योग का नाम साथ-साथ लिया जाता है। जैनधर्म और बौद्धधर्म दोनों योग की व्यावहारिक योग्यता में विश्वास रखते हैं।

पतंजलि के योगदर्शन में बिखरे हुये योग-संबंधी विचारों का वैज्ञानिक ढंग से संग्रह कर दिया गया है। योग-सूत्रों की शैली बड़ी सरस है; शब्दों का चुनाव सुन्दर है। व्यास-भाष्य (४०० ई०) योग सूत्रों पर माननीय टीका है। राजा भोज की 'भोजवृत्ति' व्यास-भाष्य के ही आधार पर लिखी गई है और अधिक सरल है। वाचस्पति मिश्र ने 'व्यासभाष्य'

पर 'तत्त्ववैशारदी' लिखी। विज्ञानभिक्षु ने 'योगवार्त्तिक लिखा है। यह 'योगभाष्य' और 'योगसार' पर टीका है।

नीचे हम सांख्य-कारिका के कुछ उद्धरण अनुवाद-सहित देते हैं।

कुछ कारिकाएं

पाठक देखेंगे कि थोड़े शब्दों में कारिका-कार ने सांख्य के सिद्धांतों को कैसे स्पष्ट रूप में प्रकट किया है। गागर में सागर भरने की कला भारतीय दार्शनिकों के ही हिस्से में आई थी।

तीन प्रकार के दुःखों की निवृत्ति तत्वज्ञान के विना नहीं हो सकती। इसलिये, व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष का ज्ञान संपादन करना चाहिए।

मूलप्रकृतिरविकृतिर्महदाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त
षोडशकस्तु विकारो न प्रकृतिर्नविकृतिः पुरुषः ॥३॥

अर्थः—मूल प्रकृति (प्रधान या अव्यक्त) किसी की विकृति या विकार नहीं है; महत्, अहंकार और पाँच तन्मात्राएं यह प्रकृति और विकृति दोनों हैं; सोलह—पंचभूत, दश इंद्रियां और मन—विकार हैं, यह किसी की प्रकृति नहीं होते। पुरुष न प्रकृति है न विकृति।

हेतुमदनित्यमव्यापि सक्रिय मनेक माश्रितं लिङ्गम्
सावयवं परतन्त्रं व्यक्तं विपरीत मव्यक्तम् ॥१०॥

अर्थ :—व्यक्त का लक्षण बतलाते हैं। व्यक्त हेतुवाला, अतएव अनित्य है; व्यापक नहीं है, क्रियावान है; व्यक्त अनेक हैं, प्रत्येक पुरुष की बुद्धि आदि अलग होते हैं; अपने कारण के आश्रित है। प्रधान का लिंग अर्थात् अनुमान कराने वाला है; सावयव अर्थात् हिस्सों वाला है; परतंत्र अर्थात् अव्यक्त पर निर्भर रहने वाला है। प्रकृति इन सब बातों में व्यक्त से विरुद्धधर्म वाली है।

त्रिगुण मविवेकि विषयः सामान्य मचेतनं प्रसवधर्मि
व्यक्तं तथा प्रधानं तद् विपरीतस्तथा च पुमान् ॥११॥

अर्थ :—व्यक्त और अव्यक्त या प्रधान के सामान्य गुण यह हैं—

सत्, रज, तम गुणवाला होना, विवेक-हीनता, विषय या ज्ञेय होना, सामान्य अर्थात् बहुत पुरुषों के लिये एकसा होना, अचेतनता, प्रसव धर्मी या उत्पादनशील होना। दसवीं और ग्यारहवीं कारिका में व्यक्त और अव्यक्त के जो गुण बतलाये गये हैं, पुरुष में उनसे विपरीत गुण पाए जाते हैं।

नोट—दसवीं कारिका में व्यक्त का एक गुण 'अनेकत्व' भी बतलाया गया है। एक पुरुष में इसके विपरीत 'एकत्व, गुण मानना चाहिये? तब तो सांख्य और वेदान्त का एक बड़ा भेद जाता रहेगा।

प्रीत्यप्रीति विषादात्मकाः प्रकाशप्रवृत्ति नियमार्थाः ।
अन्योऽन्याभिभवाश्रय जनन मिथुन वृत्तयश्च गुणाः ॥१२॥
सत्वं लघु प्रकाशकमिष्ट मुपष्टम्भकं चलं च रजः
गुरु वरणकमेवहि तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति ॥१३॥

अर्थ :—सतोगुण, रजोगुण, और तमोगुण क्रमशः प्रीति, अप्रीति और विषादात्मक हैं। सतोगुण प्रकाशक है; रजोगुण प्रवर्तक (क्रिया में लगाने वाला) है; तमोगुण कर्म से रोकनेवाला, आलस्योत्पादक है। तीनों गुण एक दूसरे को दबा लेते हैं, एक दूसरे में रहते हैं, एक दूसरे को उत्पन्न करते हैं, एक दूसरे के साथ रहनेवाले हैं।

सत्वगुण को हलका और प्रकाशक मानते हैं, रज को उपष्टंभ करने वाला और चलनात्मक, तम को भारी और काम से रोकनेवाला। जैसे बत्ती, तेल और दीपक भिन्न होने पर भी एक प्रयोजन को पूरा करते हैं, वैसे ही तीनों गुण भिन्न होने पर भी एक स्थान में रहकर कार्य-सम्पादन करते हैं।

प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः
तस्मादपि षोडशकात् पंचभ्यः पंचभूतानि ॥२२।

अर्थ :—प्रकृति से महत्तत्व (बुद्धि), बुद्धि से अहंकार, उससे सोलह का समूह, उनमें से पाँच से पंचभूत प्रादुर्भूत होते हैं।

अभिमानोऽहंकारस्तस्मात् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः ।

एकादशकश्च गणस्तन्मात्रापञ्चकश्चैव ॥२४॥

अर्थ :—अभिमान को अहंकार कहते हैं, उससे दो प्रकार की सृष्टि प्रवर्तित होती है, ग्यारह इन्द्रियाँ (पाँच कर्मेन्द्रिय और मन) तथा पांच तन्मात्राएं। मन को ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय दोनों समझना चाहिए (उभयात्मकं मनः) ।

ऊर्ध्वसत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः ।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥५४॥

अर्थ :—ऊर्ध्व श्लोकों में सतोगुण की प्रधानता है, पशु, स्थावर आदि सृष्टि में तमोगुण का प्राधान्य है, मनुष्यादि सृष्टि और पृथ्वी लोक में रजोगुण की बहुलता है ।

वत्स विवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य ।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥५७॥

अर्थः - जैसे बछड़े की पुष्टि के लिए ज्ञानशून्य भी गो का दूध बहने लगता है, इसी प्रकार अचेतन होने पर भी, पुरुष की मुक्ति के लिए, प्रधान की प्रवृत्ति होती है ।

रंगस्य दर्शयित्वा निवर्त्तते नर्तकी यथा रङ्गात् ।

पुरुषस्य तथात्मानं प्रकाश्य विनिवर्तते प्रकृतिः ॥५६॥

अर्थ :—जैसे दर्शकों पर अपना स्वरूप प्रकट करके नर्तकी (नाचने वाली) नृत्य करने से रुक जाती है; वैसे ही पुरुष पर अपना स्वरूप प्रकट करके प्रकृति निवृत्त हो जाती है ।

तस्मान्न बध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥६२॥

अर्थ :—वास्तव में न पुरुषबद्ध होता है न मुक्त; विभिन्न रूपों में प्रकृति ही बँधती, छूटती और संसरण (एक जन्म से दूसरे में जाना) करती है ।

इसके बाद हम योग-दर्शन के कुछ सूत्रों का अनुवाद देते हैं; कुछ सुन्दर सूत्र भी दे देते हैं, जिन्हें पाठक याद रख सकते हैं। योगदर्शन के चार पाद हैं, समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद। इनमें दार्शनिक दृष्टि से समाधिपाद का पहला नंबर है। विभूतिपाद में योग से प्राप्त होने वाली सिद्धियों का वर्णन है। साधनपाद में योग के आठ अंगों का वर्णन है और कैवल्यपाद में मोक्ष का।

अथ योगानुशासनम् १।१

अथ योगानुशासन (योग संबंधी शिक्षा या योगशास्त्र) का आरंभ करते हैं।

योगश्चित्तवृत्ति निरोधः।

चित्त की वृत्तियों के निरोध को 'योग' कहते हैं।

तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम् ।१।३

चित्त-वृत्तियों का निरोध हो जाने पर द्रष्टा (पुरुष) की अपने स्वरूप में अवस्थिति या स्थिति हो जाती है।

वृत्तिसारूप्यमितरत्र ।१।४

योगावस्था के अतिरिक्त दशाओं में चित्त किसी न किसी वृत्ति के सरूप या समानरूप होता है।

वृत्तियां पांच हैं, प्रमाण, विपर्यय, विकल्प निद्रा और स्मृति ।१।६।

प्रमाण तीन हैं, प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। मिथ्या-ज्ञान को विपर्यय कहते हैं। जिसके ज्ञेय पदार्थ की सत्ता ही न हो उस ज्ञान को विकल्प कहते हैं। अभाव प्रत्यय ही जिसका आलंबन हो उस वृत्ति को निद्रा कहते हैं। अनुभूत विषय का ध्यान स्मृति कहलाता है ।१।७११

अभ्यास वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ।१।१२

अभ्यास और वैराग्य से इन वृत्तियों का निरोध होता है। चित्त को स्थिर करने का प्रयत्न 'अभ्यास' है। बहुत काल तक अभ्यास करने से ही फल मिलता है।

सब प्रकार के ऐहिक और पारलौकिक (स्वर्ग के) भोगों में इच्छा न होना वैराग्य है ।१।१५

सम्प्रज्ञात समाधि में वितर्क, सूक्ष्मविचार, आनंद या अहंभाव बना रहता है । इसे सालंबन समाधि भी कहते हैं । असम्प्रज्ञात समाधि में सब वृत्तियों का विराम हो जाता है; केवल संस्कार ही शेष रह जाते हैं । यह निरालंबन समाधि की दशा है ।

जिनका उपाय तीव्र वेग वाला है—जो बहुत उत्साह से प्रयत्न करते हैं—उन्हें योगावस्था जल्दी प्राप्त होती है ।१।२१

ईश्वर प्रणिधानाद्वा ।१।२३

अथवा ईश्वर के प्रणिधान से समाधिलाभ होता है । ईश्वर किसे कहते हैं ?

क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः ।१।२४

पांच क्लेशों, कर्म, कर्मफल, और आशय (कर्म-वासनाएं) इनसे असंस्पृष्ट (न छुआ हुआ) पुरुष विशेष ईश्वर है । व्यास-भाष्य कहता है :—

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति बहवः केवलिनः ते हि त्रीणि बंधनानि छित्वा कैवल्यं प्राप्ताः । ईश्वरस्य च तत्संबंधो भूतो न भावी ।

अर्थात्—पुरुष विशेष का अर्थ सिर्फ़ मुक्त पुरुष नहीं है । मुक्त पुरुष वे हैं जो पहले बंधन में थे और अब बंधन काटकर कैवल्य को प्राप्त हुये हैं । ईश्वर का तो बंधन से संबंध न कभी हुआ न होगा । वह सदा से मुक्त और सदा से ईश्वर है । इस प्रकार ईश्वर जैनमत के तीर्थंकरों से भिन्न है ।

ईश्वर में निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है—ईश्वर में सर्वज्ञता परि-समाप्त हो जाती है ।१।२५

कालकृत सीमा से रहित होने के कारण ईश्वर प्राचीनों का भी गुरु है ।१।२६

ईश्वर का वाचक प्रणव या ओ३म् है; उसका जप करने का अभिप्राय उसके अर्थ की भावना (विचार) करना है।१।२७,२८

ईश्वर-प्रणिधान या ओंकार के जप से प्रत्यक् चैतन्य का अधिगम और अंतरायों (विघ्नों) का अभाव होता है।१।२९

यथाभिमत ध्यानाद्वा।१।३९

अथवा जिस वस्तु में जी लगे उसका ध्यान करने से (योगावस्था मिलती है)।

तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान यह क्रियायोग है।२।१।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश यह पांच क्लेश हैं। इनमें अविद्या शेष चार का मूल है। अनित्य को नित्य, अशुचि को पवित्र, दुःख को सुख और अनात्मा को आत्मा समझना अविद्या है। द्रष्टा और दर्शनशक्ति (बुद्धि) को एक समझना अस्मिता है।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि यह आठ (योग के) अंग हैं। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह (पराई चीज़ न लेना) यह पांच यम हैं। जाति, देश, काल आदि के विचार बिना यह 'सार्वभौम महाव्रत' हैं। शौच, संतोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधान, यह नियम हैं। जो अहिंसा का पूर्णरूप से पालन करता है उसका किसी से वैर नहीं रहता। सत्यवादी की क्रियायें सफल होती हैं। अस्तेय (चोरी-त्याग) की प्रतिष्ठा से सब रत्न पास रहते हैं। ब्रह्मचर्य से वीर्य का लाभ होता है। संतोष से अनुत्तम सुख मिलता है।

स्थिर सुख जिस दशा में हो उसे आसन कहते हैं। प्राणायाम करने से विक्षेप दूर होते हैं और प्रकाश का आवरण क्षीण होने लगता है; मन की धारणा में योग्यता बढ़ती है।

देश विशेष में चित्त को लगाना धारणा कहलाती है। सूर्य में मन का संयम करने से जगत् का ज्ञान होता है; चंद्रमा में करने से ताराओं

की गति का; कण्ठकूप में करने पर भूख प्यास जाती रहती है। अणिमा, लघिमा, वज्र के समान शरीर हो जाना आदि दूसरी सिद्धियां हैं।

सिद्धियों में भी वैराग्य हो जाने पर दोष-बीजों का क्षय हो जाने से कैवल्य-प्राप्ति होती है।

सत्त्व (बुद्धि) और पुरुष के शुद्धि-साम्य हो जाने पर मोक्ष होता है। (३।५५)

पुरुषार्थ-शून्यानां गुणानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं।
स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति[1] ।४।३४

पुरुषार्थशून्य गुण जब अपने कारण में लय हो जाते हैं तब कैवल्य होता है; अथवा चैतन्याशक्ति (पुरुष) का अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होना मोक्ष है।

सत्कार्यवाद

सांख्य-योग के अन्य तात्त्विक सिद्धांतों को समझने से पहले हमें सांख्य का कार्य-कारण संबंधी मत समझ लेना चाहिए। सांख्य जगत् के मूल तत्त्व प्रकृति का अनुमान सत्कार्यवाद पर निर्भर है। न्याय-वैशेषिक के प्रकरण में हम देख चुके हैं कि नैयायिक और वैशेषिक के अनुयायी दोनों उत्पत्ति से पहले कार्य को असत् मानते हैं। सांख्यकारिका इस असत्कार्यवाद का खंडन करके सत्कार्यवाद का स्थापन करती है। कारिका इस प्रकार है :—

असदकरणादुपादानग्रहणात्सर्वसंभवाऽभावात्
शक्तस्य शक्यकरणात्कारणभावाच्च सत्कार्यम् ॥

इस कारिका में कारण के व्यापार से पहले कार्य को सत् सिद्ध करने के लिये पांच हेतु दिये हैं। उन्हें हम क्रमशः देते हैं।

---

[1] यह योगदर्शन का अंतिम सूत्र है। जब पुरुष को ज्ञान हो जाता है तब प्रकृति के गुण कृतार्थ हो जाते हैं (क्योंकि प्रकृति का उद्देश्य पुरुष को मुक्त करना है) और उनका परिणाम होना बंद हो जाता है।

१—असदकरणात्—जो असत् है उसे सत्ता में लाना किसी के लिये संभव नहीं है। यदि असत् को अस्तित्व में लाया जा सकता तो वन्ध्यापुत्र और आकाशकुसुम की उत्पत्ति भी संभव हो जाती। जो कहीं किसी रूप में नहीं है उसका अस्तित्व पा जाना, असत् से सत् हो जाना, संभव नहीं है। गीता कहती है :—

नाऽसतो विद्यते भावः नाऽभावो विद्यते सतः।

अर्थात् असत् का कभी भाव नहीं होता और सत् का कभी अभाव नहीं होता।

२—उपादानग्रहणात्—उपादान के ग्रहण से भी। वाचस्पति मिश्र ग्रहण का अर्थ 'संबंध' करते हैं। कार्य (घट) का अपने उपादान कारण (मिट्टी) से संबंध होता है। कोई भी संबंध दो सत्पदार्थों में रह सकता है; सत् और असत् में संबंध नहीं हो सकता। यदि यह कहो कि कार्य और कारण में कोई संबंध नहीं है, तो ठीक नहीं। क्योंकि उस दशा में कोई भी वस्तु किसी का कारण हो जायगी।

३—सर्वसंभवाऽभावात्—कार्यकारण में संबंध न मानने पर सर्वत्र सब कार्य संभव हो जाएँगे जो कि अनुभव के विरुद्ध है।

४—शक्तस्यशक्यकरणात्—यदि कहो कि कार्य और कारण में संबंध कोई नहीं होता; कारण में एक शक्ति रहती है जिससे वह कार्य को उत्पन्न करता है; कारण में शक्ति की उपस्थिति का अनुमान कार्योत्पत्ति से होता है—तो यह मत ठीक नहीं। शक्त पदार्थ शक्य को ही उत्पन्न कर सकता है। शक्ति एक ख़ास कार्य को उत्पन्न करने की होती है, अन्यथा प्रत्येक कारण-पदार्थ प्रत्येक कार्य को उत्पन्न कर डाले।

५—कारणभावात्—कार्य कारणात्मक होता है, कारण से भिन्न नहीं होता।

यदि तेल उत्पत्ति से पहले असत् हो तो तिलों से ही क्यों निकल सके, रेते में से क्यों न निकले? कार्य-कारण में कुछ न कुछ संबंध मानना

ही पड़ेगा। यदि कार्य को कारण से बिलकुल भिन्न माना जाय तो उनमें कार्य-कारण-संबंध क्यों हुआ, यह बताना असंभव हो जाता है। इसलिये किसी न किसी रूप में कार्य की उत्पत्ति से पहले सत्ता माननी चाहिए।

श्री शंकराचार्य ने अपने वेदांत-भाष्य में न्याय के असत्कार्यवाद का खंडन किया है। उनकी युक्तियां सांख्य-कारिका से मिलती-जुलती हैं। यदि घट को उत्पत्ति से पहले असत् मानें तो घट की उत्पत्ति-क्रिया 'अकर्तृक' या बिना कर्त्ता की हो जायगी। कार्य और कारण में अश्व और महिप (भैंसे) के समान भेद नहीं प्रतीत होगा, इसलिये उन्हें एक मानना चाहिए।

(देखिये वे० सू० २।१।१८)

अपने बृहदारण्यक-भाष्य में श्री शंकराचार्य ने सत्कार्यवाद का बड़ा सुन्दर निरूपण किया है।

सर्वं हि कारणंकार्यं मुत्पादयत् पूर्वोत्पन्नस्य कार्यस्य तिरोधानं कुर्वत् कार्यान्तरमुत्पादयति। एकस्मिन् कारणे युगपदनेक कार्य विरोधात्। न च पूर्वकार्योपमर्दे कारणस्य स्वात्मोपमर्दो भवति; पिण्डादि पूर्व कार्योपमर्दे मृदादि कारणं नोपमृद्यते घटादि कार्यान्तरेऽप्यनुवर्त्तते।...कार्यस्य चाभि-व्यक्ति लिंगत्वात्।...अभिव्यक्तिः साक्षाद् विज्ञानालम्बनत्व प्राप्तिः।...न ह्यविद्यमानो घट उदितेऽप्यादित्य उपलभ्यते।...प्राङ्मृदोऽभिव्यक्तेर्मृदा-द्यवयवानां पिण्डादिकार्यान्तर रूपेण संस्थानम्। तस्मात्प्रागुत्पत्तेर्विद्यमान-स्यैव घटादि कार्यस्यावृतत्वादनुपलब्धिः।

(दशोपनिषत्, पृ० ६१२)

भावार्थः—जब कारण एक कार्य को उत्पन्न करता है तब वह दूसरे कार्य का निरोधान कर देता है। एक कारण में अनेक कार्य अव्यक्त रूप में रहते हैं। उनमें से एक की ही अभिव्यक्ति एक समय में हो पाती है, शेष का रूप तिरोहित रहता है। एक कार्य के नष्ट हो जाने पर कारण का नाश नहीं होता। पिण्ड-कार्य के नष्ट हो चाने पर मिट्टी अर्थात् कारण

घट के रूप में प्रतीत होती है। अभिव्यक्ति होना ही कार्य की उत्पत्ति है। अभिव्यक्ति का अर्थ है ज्ञान का विषय हो जाना। अविद्यमान घड़ा सूर्य के उदित होने पर भी नहीं दीख सकता। इसी प्रकार असत् कार्य की कभी प्रतीति नहीं हो सकती। जब तक मिट्टी की अभिव्यक्ति नहीं होती तब तक मिट्टी के अवयव घटादि के आकार में रहते हैं। इसलिये उत्पत्ति से पहले घट मौजूद होता है, सिर्फ़ उसके स्वरूप पर आवरण चढ़ा रहता है, ऐसा मानना चाहिए।

कार्य का आवरण या अच्छादन करनेवाला कौन है? उत्तर—दूसरा कार्य। एक कारण के अनेक कार्य हो सकते हैं, जिनमें से एक को छोड़कर एक समय में और सब अव्यक्त रूप में रहते हैं। अभिव्यक्त कार्य दूसरे कार्यों के आच्छादन का कारण होता है। एक ही धातुखंड में अनेक मूर्त्तियां खोदकर बनाई जा सकती हैं। परंतु एक समय में एक ही मूर्त्ति दिखाई जा सकेगी। इसी प्रकार हर एक कारण एक काल में एक ही कार्य का रूप धारण कर सकता है।

सत्कार्यवाद का सिद्धांत समझ लेनेपर प्रकृति के अनुमान की प्रक्रिया समझ में आ सकती है। संसार के सारे पदार्थ सतोगुण, रजोगुण और तमोगुणवाले हैं। कोई वस्तु इन गुणों से मुक्त नहीं है। इसलिये जड़जगत् के मूलकारण में यह तीनों गुण मौजूद होने चाहिए। यहां प्रश्न यह उठता है कि तन्मात्राओं; या अहंकार, या महत्तत्व (बुद्धितत्त्व) को ही जगत् का कारण क्यों न मान लिया जाय, अव्यक्त प्रकृति की कल्पना की क्या आवश्यकता है? उत्तर यह है कि महत्तत्व से लेकर पृथ्वी आदि सारे पदार्थ परिमित अर्थात् परिच्छिन्न हैं। परिमित पदार्थ सबके सब कार्य होते हैं, यह अनुभव में देखा गया है। इसलिये महत्तत्व या बुद्धि का भी कारण मानना चाहिए; जो प्रकृति ही हो सकती है।

प्रकृति

संसार के सब पदार्थ त्रिगुणमय हैं; उनमें यह एकता या समानता

पाई जाती है। इसलिये जगत् का मूलकारण एक ही तत्त्व है जिसे प्रधान या अव्यक्त या प्रकृति नाम दिया गया है।

एक होनेपर भी प्रकृति त्रिगुणमयी है। प्रकृति की एकता उस रस्सी की एकता के समान है जो तीन डोरियों को मिलाने से बनती है। पाठकों को यह याद रखना चाहिए कि सांख्य के सत्, रज, तम न्याय-वैशेषिक के अर्थ में गुण नहीं हैं। वैशेषिक की परिभाषा में तो उन्हें द्रव्य कहना ज़्यादा ठीक है। सांख्य के अनुयायी गुण और गुणी में भेद नहीं मानते। गुण और गुणवान् में तादात्म्य संबंध होता है। उत्तर-कालीन सांख्य में इन तीनों में से प्रत्येक गुण को अनंत कहा गया है; प्रकृति की असीमता गुणों की अनंतता के कारण है। यह सिद्धांत वैशेषिक के परमाणुवाद के समीप आ जाता है।

प्रोफ़ेसर हिरियन्ना ने सांख्य की प्रकृति की एक विशेषता की ओर संकेत किया है।[1] प्रायः संसार के विचारकों ने विश्व के मूल कारण को देश और काल में रहनेवाला माना है। सांख्य की प्रकृति देश और काल की सीमा से बाहर है; या यों कहिए कि देश और काल प्रकृति के ही दूरवर्त्ती परिणाम हैं। प्रकृति देशकाल को जन्म देती है; वह स्वयं इनमें नहीं है।

सृष्टि से पहले प्रकृति के तीनों गुण साम्यावस्था में होते हैं। इस साम्य के भंग का ही नाम सृष्टि है। वैषम्य या विषमता जगत् के मूल में वर्तमान है। प्रकृति की साम्यावस्था का भंग कैसे होता है, यह सांख्य की समस्या है। वास्तव में सांख्य ने सृष्टि और प्रलय के सिद्धांत को मानकर अपने को कठिनाई में डाल लिया। सांख्य का कथन है कि पुरुष के सान्निध्य या समीपतामात्र से प्रकृति की साम्यावस्था भंग हो जाती है। परंतु सांख्य का पुरुष तो निष्क्रिय है; वह प्रकृति को गति देने का हेतु कैसे हो सकता है? उत्तर में कहा जाता है कि जैसे चुम्बक

---

[1] पृ० २७०

पत्थर स्वयं गतिमान हुये बिना ही लोहे में गति उत्पन्न कर देता है, वैसे ही पुरुष की संनिधि-मात्र से प्रकृति चंचल हो उठती है। पुरुष को मुक्त करने के लिये ही प्रकृति की सारी परिणमन-क्रिया या विकास होता है। गाय के थनों से दूध अपने लिये नहीं बल्कि बछड़े के लिये प्रस्रवित होता है।

प्रकृति का परिणाम होने से जितने पदार्थ उत्पन्न होते हैं, वे सब अव्यक्तरूप में प्रकृति में वर्त्तमान थे। सांख्य नैयायिकों के आरंभवाद का समर्थक नहीं है। संसार में कोई भी चीज़ सर्वथा नई उत्पन्न नहीं होती। कारण में जो छिपा है, वही उत्पत्ति में प्रकट हो जाता है। इस दृष्टि से सांख्य का परिणामवाद आधुनिक विकासवाद से भिन्न है; आधुनिक विकासवादी नवीन की उत्पत्ति और अविराम उन्नति मानते हैं। सांख्य उन्नति और अवनति, सृष्टि और प्रलय, दोनों का समर्थक है। जिस क्रम से प्रकृति सृष्टि करती है उससे उलटे क्रम से विश्व को अपने में लय भी कर लेती है।

प्रलयावस्था में भी प्रकृति निःस्पन्द या क्रियाहीन नहीं हो जाती। परंतु उस समय उसमें सजातीय परिणाम[१] होता है। सृष्टि-रचना विजातीय परिणाम का फल है।

सांख्य विकास-वाद या परिणामवाद की एक विशेपता यह है कि यह विकास निरुद्देश्य नहीं होता, बल्कि पुरुष के मोक्ष-साधन के लिये होता है। प्रकृति पुरुष के हित-साधन में क्यों प्रवृत्त होती है, उसके भोग और मोक्ष का क्यों प्रबंध करती है, इसका ठीक उत्तर सांख्य में नहीं

---

[१] पानी से जो वर्फ़ बनता है, यह सजातीय परिणाम है। पानी और वर्फ़ के मुख्य गुणों में भेद नहीं है। किसी वस्तु का अपने से भिन्न जाति और गुणवाले पदार्थ उत्पन्न करना विजातीय परिणाम कहलाता है। घास, मिट्टी आदि का विजातीय परिणाम है।

मिलता। पुरुष की उद्देश्य-पूर्ति प्रकृति का स्वभाव है। यह उद्देश्य-पूर्ति किस प्रकार होती है, यह महत्तत्व के वर्णन में कहा जायगा ।

उद्देश्यवाली होने के कारण प्रकृति को अन्य-दर्शनों के जड़तत्त्व या पुद्गल के समान नहीं कहा जा सकता। अन्य बातों में भी प्रकृति जड़-तत्त्व के समान नहीं है। प्रकृति के गुणों में भी लघुत्व, प्रकाशकत्व आदि गुण पाये जाते हैं, इसलिये वे वैशेषिक के गुणों से भिन्न हैं। प्रकृति चेतन भी नहीं है; पुरुष में उससे विरुद्ध गुण पाये जाते हैं।

प्रकृति का पहला विकार महत्तत्व है; इसे बुद्धि भी कहते हैं। स्मृति-संस्कारों का अधिष्ठान बुद्धि है, न कि मन या अहंकार। अध्यवसाय (ऐसा करना चाहिए इसका निश्चय) बुद्धि का धर्म है, उसका व्यावर्त्तक गुण है। धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य यह सब बुद्धि की विशेषताएं हैं। ऐश्वर्य आठ हैं, अणिमा, लघिमा, गरिमा, महिमा, प्राप्ति प्राकाम्य, वशित्व, और ईशित्व ।

महत्तत्व से अहंकार उत्पन्न होता है, यह तीसरा तत्त्व है। सांख्य-दर्शन का नाम तत्वों की गणना करने के कारण पड़ा है, ऐसा कुछ लोग कहते हैं। व्यक्तित्व अथवा एक की दूसरे मनुष्य से भिन्नता का कारण अहंकार-तत्त्व है। बुद्धि और अहंकार सार्वभौम तत्त्व हैं; उनका मनोवैज्ञानिक अर्थ भी है। प्रत्येक मनुष्य की बुद्धि और अहंता अलग-अलग है, परंतु एक बुद्धि तत्त्व और एक अहंकार-तत्त्व भी हैं।

अहंकार को 'भूतादि' भी कहते हैं; उससे ग्यारह इंद्रियां और पंच-तन्मात्राएं उत्पन्न होती हैं। सांख्यदर्शन में मन और बुद्धि तथा अहंकार के महत्त्व में बहुत भेद है। मन केवल विकृति या विकार है जबकि बुद्धि और अहंकार प्रकृति और विकृति दोनों हैं। वेदांत में मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को एक ही स्थान दिया गया है। यह सब मिलाकर 'अंतःकरण चतुष्टय' कहलाते हैं। योगदर्शन में महत् का स्थान चित्त ने ले लिया है। तन्मात्राएं तामस अहंकार से उत्पन्न होती हैं और इंद्रियां

सात्त्विक (सतोगुण प्रधान) अहंकार से। तन्मात्राओं से पंचभूतों का प्रादुर्भाव होता है; शब्द तन्मात्र से आकाश का, शब्दतन्मात्र और स्पर्श-तन्मात्र से वायु का, इन दोनों तथा रूपतन्मात्र से अग्नि का, रसतन्मात्र सहित इनसे जल का और पांचों से पृथ्वी का। तन्मात्राओं को भूतों का सूक्ष्मरूप समझना चाहिए। कारणभूत तन्मात्राओं के साथ ही भूतों के गुण भी बढ़ते जाते हैं। आकाश में केवल शब्द गुण है; वायु में स्पर्श भी है; अग्नि में शब्द, स्पर्श और रूप हैं; जल में रस बढ़ जाता है और पृथ्वी में पांचवीं गंध भी पाई जाती है।

देश और काल की उत्पत्ति आकाश से होती है (विज्ञानभिक्षु)। सांख्य देश और काल को, प्रकृति के अन्य विकारों की तरह, परिच्छिन्न मानता है। यह मत आइन्स्टाइन के अपेक्षावाद के अनुकूल है। वैशेषिक के परमाणु भी प्रकृति के विकास में बहुत बाद को आते हैं; पंचभूत परमाणुमय हैं।

इसके बाद हम पुरुष का वर्णन करेंगे। प्रकृति के परिणाम या विकास को निम्नलिखित तालिका से दिखाया जा सकता है:—
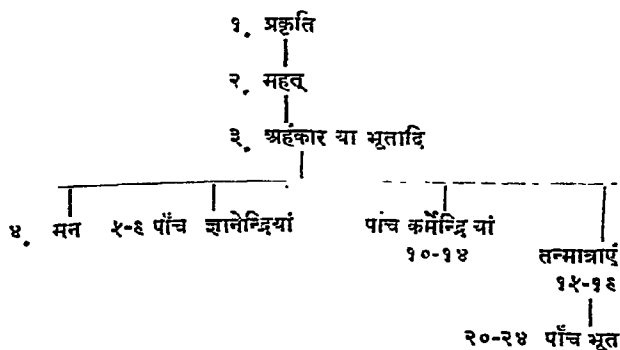
इस प्रकार तत्त्वों की संख्या चौबीस हो जाती है। इनमें 'पुरुष' को

जोड़ देने पर सांख्य के पच्चीस तत्त्व पूरे हो जाते हैं जिनके तत्त्वज्ञान से मुक्ति हो सकती है।

प्रकृति की तरह पुरुष की सिद्धि भी अनुमान से होती है। सांख्य-कारिका ने पुरुष के अस्तित्व के लिये चार युक्तियां दी हैं।

पुरुष

संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च ।१७।

पहली युक्ति—जितनी चीज़ें संघातरूप होती हैं वे दूसरों के लिये होती हैं। खाट शयन करनेवाले के लिये होती है, इसलिये खाट को देखकर सोनेवाले का अनुमान किया जा सकता है। महत्तत्व, अहंकार आदि पदार्थ संघात-रूप हैं, इसलिये वे किसी दूसरे के लिये हैं। इस प्रकार पुरुष की सिद्धि होती है। तो क्या पुरुष संघातरूप नहीं है ? नहीं, क्योंकि पुरुष तीनों गुणों से मुक्त है। पुरुष त्रिगुण पदार्थों से भिन्न है।

सांख्य के अतिरिक्त दर्शनों में संसार की 'रचना' देखकर ईश्वर की सत्ता का अनुमान किया है। विश्व की विचित्र रचना उसके रचयिता की ओर संकेत करती है। यह युक्ति योरुपीय दर्शनों में भी मिलती है। प्रसिद्ध संदेहवादी ह्यूम इसे ईश्वर के अस्तित्त्व का सबसे बड़ा प्रमाण समझता था।[1] परंतु सांख्य ने इस युक्ति का दूसरे ही रूप में प्रयोग किया है। 'रचना' रचयिता की ओर नहीं; बल्कि अपना उपभोग करनेवाले की ओर इंगित करती है। पलंग सोनेवाले की सिद्धि करता है, पलंग को बनानेवाले की नहीं।[2]

यह युक्ति वास्तव में सांख्य के मूलसिद्धान्तों के विरुद्ध है। सांख्य पुरुष को निर्गुण और असंग मानता है। इस युक्ति में यह मान लिया गया है कि पुरुष और प्रकृति के कार्यों में घनिष्ठ संबंध है। यह युक्ति

१ देखिये प्रिंगिल पैटीसनकृत दी आइडिया आफ गाड, लेक्चर १

२ देखिये हिरियना पृ० २७६

वास्तव में उपाधि-युक्त या प्रकृति में संलग्न पुरुष की सत्ता ही सिद्ध कर सकती है।

त्रिगुणादि विपर्ययात्—तीनों गुणों से भिन्न होने से—इसकी एक और विशेषता भी बतलाई गई है। ब्राह्मण नाम तभी सार्थक है जब ब्राह्मण से भिन्न लोग मौजूद हों। यदि सब मनुष्यों का एक ही वर्ग होता तो वर्ण-व्यवस्था शब्द व्यर्थ हो जाता। इसी प्रकार संसार के पदार्थों का त्रिगुणमय होना, गुणहीन पुरुष को सिद्ध करता है। पुरुष को त्रिगुणमय मानने से अनवस्थादोष भी आता है। यदि पुरुष संघात है तथा 'और किसी' के लिये है, तो उस 'और किसी' को भी किसी दूसरे के लिये मानना पड़ेगा; इस प्रकार 'दूसरे के लिये' का कभी अंत न होगा।

दूसरी युक्ति—अधिष्ठानात्—सुख-दुःखमय जितने पदार्थ हैं उनका कोई न कोई अधिष्ठाता होता है, ऐसा देखा गया है। इस लिये बुद्धि अहंकार आदि का कोई अधिष्ठाता होना चाहिए। अधिष्ठाता पुरुष के बिना विविध अनुभूतियों में एकता या अलग व्यक्तित्व नहीं आ सकता।

तीसरी युक्ति—सुख-दुःख आदि का कोई भोक्ता या भोगनेवाला होना चाहिए। यदि कोई भोक्ता न हो तो अनकूल और प्रतिकूल अनुभव किसे हों? दूसरी व्याख्या यह भी है कि बुद्धि आदि सारे पदार्थ दृश्य हैं; उनके द्रष्टा का होना आवश्यक है। दृश्य से द्रष्टा का अनुमान किया जाता है।

चौथी युक्ति—कैवल्य के लिये लोगों में प्रवृत्ति पाई जाती है जो पुरुष के अस्तित्व की द्योतक है। बुद्धि, मन आदि का तीन गुणों से युक्त होना संभव नहीं है। इसलिये कैवल्य की इच्छा को पुरुष में ही मानना चाहिए आधुनिक शब्दों में कहें तो मनुष्य में ससीमता के प्रति असन्तोष और असीम के प्रति प्रवृत्ति पाई जाती है। यह प्रवृत्ति या अभिलाषा जड़-तत्त्वों की नहीं हो सकती। इतनी ऊँची आकांक्षाएं हमारे

व्यक्तित्व के मूल में किसी उच्च प्रकार की सत्ता को सिद्ध करती हैं। वही पुरुष है।

पाठक इस बात को नोट करें कि सांख्य के सारे प्रमाण उपाधि-संयुक्त पुरुष को ही सिद्ध करते हैं। यदि पुरुष प्रकृति में लिप्त न माना जाय तो उसका अनुमान भी नहीं हो सकता। पुरुषों के बहुत होने में जो हेतु दिये गये हैं, वे भी उपाधिवान् पुरुष को ही लागू होते हैं।

पुरुष बहुत हैं प्रत्येक पुरुष का जन्म-मरण और इन्द्रियां अलग-अलग होती हैं। सब की प्रवृत्तियां भी भिन्न-भिन्न होती हैं; एक काम में सब की प्रवृत्ति एक साथ नहीं होती। विभिन्न पुरुषों में तीनों गुणोंका भी विपर्यय पाया जाता है; किसी की प्रकृति सत्त्व प्रधान है, किसी की रजोगुण और तमोगुण प्रधान।

पुरुष शरीर, इन्द्रियों और मन से भिन्न है; वह बुद्धि तत्त्व और अहंकार भी नहीं। पुरुष सदा-प्रकाश-स्वरूप है। वह शुद्ध चैतन्य है। प्रकृति और उसके कार्य जड़ हैं; अपनी अभिव्यक्ति के लिये उन्हें पुरुष का प्रकाश अपेक्षित है। पुरुष कारण-हीन है; उसका कोई कार्य भी नहीं है; वह न प्रकृति है न विकृति। पुरुष नित्य है, व्यापक है, क्रियाहीन है, गुणरहित है और चेतन है। प्रीति, अप्रीति और विषाद पुरुष के स्वाभाविक धर्म नहीं हैं; प्रकृति के संसर्ग से ही उसमें इनकी प्रतीति होती है। पुरुष में गति नहीं है; मुक्त हो जाने पर वह कहीं जाता या आता नहीं। यदि पुरुष में सुख, दुःख आदि धर्म माने जायँ, जैसा कि नैयायिक मानते हैं, तो पुरुष की मुक्ति कभी न हो सके। अपने स्वाभाविक धर्म को कोई नहीं छोड़ सकता। सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष आदि वास्तव में बुद्धि के धर्म हैं। मुक्ति का अर्थ किसी ब्रह्म या ईश्वर में लीन हो जाना नहीं है। मुक्ति का मतलब है कैवल्य या इकलापन; प्रकृति का संसर्ग छूट जाने का ही नाम मोक्ष है। पुरुष का प्रकृति से संसर्ग कब और क्यों हुआ, यह प्रश्न व्यर्थ है। अनादि काल से पुरुष प्रकृति में फँसा चला आता है। इस बंधन से मोक्ष पाने का प्रयत्न हर एक को करना चाहिए।

प्रकृति के संसर्ग में होने पर पुरुष की जीव संज्ञा होती है। पुरुष का अपने को प्रकृति से एक समझना ही सारे अनर्थों की जड़ है। जब पुरुष अपने को प्रकृति से भिन्न समझ लेता है, तब मुक्त हो जाता है।

पुरुष और प्रकृति

प्रकृति और पुरुष सर्वथा विरुद्ध गुणवाले पदार्थ हैं। इसलिए वस्तुतः उनमें किसी प्रकार का संबंध नहीं हो सकता। जो कुछ भी संबंध उनमें प्रतीत हो अज्ञान का फल समझना चाहिए। सांख्य का मूल सिद्धांत यही है कि पुरुष 'असंग' या संग-रहित है (असंगोऽयं पुरुषः)। परंतु इसके साथ ही सांख्य यह मानता है कि प्रकृति का परिणाम या विकास पुरुष के लिये होता है। सांख्य की इन दो धारणाओं में विरोध है। प्रकृति और पुरुष के संयोग को अंधे और लँगड़े आदमियों के साथ से उपमा दी गई है। प्रकृति अंधी है और देख नहीं सकती; पुरुष लँगड़ा या गति-हीन है। कथा है कि एक जंगल में से एक अंधा और एक लँगड़ा आदमी एक दूसरे की सहायता से बाहर निकल आए। अंधा व्यक्ति लँगड़े को कंधे पर बिठा कर उसकी आज्ञानुसार चला; इस प्रकार दोनों बन से बाहर हो गये। प्रकृति और पुरुष का संयोग भी ऐसा ही है। परंतु इन रूपकों से विषय पर विशेष प्रकाश नहीं पड़ता। यदि पुरुष वास्तव में असंग है, यदि पुरुष को सचमुच सुख-दुःख के अनुभवों से कोई सरोकार नहीं है, यदि पुरुष का कोई प्रयोजन नहीं है, तो प्रकृति उसका हित-साधन करती है, यह भ्रमात्मक कथन हो जाता है। दोनों का संबंध किस प्रकार का है, यह भी कठिन समस्या है। पुरुष और प्रकृति को साथ लाने के लिए सांख्य के अनुयायी बुद्धितत्त्व की सहायता खोजते हैं।

पुरुष और बुद्धि संवित् और मानस शास्त्र

सांख्य दर्शन को समझने के लिये पुरुष और बुद्धि का संबंध जानना परमावश्यक है। सांख्य की सारी मौलिकता और कठिनाइयां इस संबंध का विवेचन करने में

प्रकट हो जाती हैं। बुद्धि प्रकृति का पहला विकार है। अपने मूल स्वरूप में प्रकृति अव्यक्त है; महत्तत्त्व के रूप में ही वह पुरुष के सामने आती या उससे संबद्ध होती है। सांख्य-योग प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम इन तीन प्रमाणों को मानते हैं। अनुमान और शब्द का विवेचन न्याय-वैशेषिक से भिन्न नहीं है। उपमान का अंतर्भाव अनुमान में हो जाता है। सांख्य का प्रत्यक्ष का लक्षण ही विशेष ध्यान देने योग्य है। कारिका कहती है—

प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टम् ।

प्रति विषय के अध्यवसाय को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। अध्यवसाय बुद्धि का व्यापार है। इंद्रियों का अर्थ या विषय से संनिकर्ष होने पर बुद्धि में जो वृत्ति पैदा होती है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। सांख्य सूत्र में लिखा है :—

यत् संबद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम् । १।८९ ।

अर्थात् वस्तु से संबद्ध होकर वस्तु का आकार धारण कर लेने वाला विज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है। विज्ञान का अर्थ यहां 'बुद्धिवृत्ति' है। यदि प्रत्यक्ष का यही लक्षण है तो योगियों का भूत और भविष्य का ज्ञान प्रत्यक्ष न कहला सकेगा? सूत्रकार उत्तर देते हैं कि योगियों का प्रत्यक्ष 'अबाह्यप्रत्यक्ष' होता है; वह इंद्रियों पर निर्भर नहीं होता। इसलिए ऊपर के लक्षण में 'अव्याप्ति' दोष नहीं है।

यदि कहो कि ईश्वर के प्रत्यक्ष में ऊपर का लक्षण नहीं घटता, तो उत्तर यह है कि ईश्वर की सिद्धि ही नहीं हो सकती। हमारे प्रत्यक्ष के लक्षण को दूषित बताने से पहले प्रतिपक्षी को ईश्वर की सिद्धि कर लेनी चाहिए।

प्रत्यक्ष लक्षण पर टीका करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र प्रश्न उठाते हैं कि बुद्धितत्व तो प्राकृत होने के कारण अचेतन है, इसलिए उसका व्यापार अध्यवसाय या उसकी वृत्तियां भी अचेतन हैं। इसी प्रकार सुख, दुःख आदि भी बुद्धि के परिणाम होने के कारण अचेतन हैं। फिर अचेतन

वृत्तियों का अनुभव कैसे होता है? सुख, दुःख, रूप रस आदि के अनुभव का क्या अर्थ है?

एक ओर बुद्धि की जड़ वृत्तियां है और दूसरी ओर निर्गुण, निष्क्रिय और असंग पुरुष जो सिर्फ़ प्रकाश-स्वरूप है। फिर यह नाना प्रकार का अनुभव कहां और कैसे उत्पन्न होता है? पुरुष और बुद्धिवृत्तियों का संबंध वर्णन करने में सांख्य के अनुयायी सदैव रूपकमयी भाषा का प्रयोग करते हैं। बुद्धि की वृत्तियों में चैतन्य का प्रतिबिंब पड़ता है जिसके संयोग से वे वृत्तियां चेतन-सी हो जाती हैं। इस प्रकार बुद्धिवृत्ति में प्रतिबिंबित चैतन्य को या चैतन्य-प्रतिबिंब-युक्त बुद्धि वृत्ति को 'प्रमा' या ज्ञान कहना चाहिए। बुद्धि वृत्ति ही प्रत्यक्ष प्रमाण है। यहां प्रश्न यह है कि प्रमा या ज्ञान बुद्धिनिष्ठ (बुद्धि में रहने वाला) है या पुरुष-निष्ठ? योग के मत में प्रमा पुरुष-निष्ठ है। दूसरे मत में प्रमा बुद्धि-निष्ठ है; पुरुष प्रमा का साक्षी है; इस मत में पुरुष प्रमाता नहीं है। पहले मत में बुद्धिवृत्ति को प्रमाण कहा जायगा, दूसरे मत में इंद्रिय-संनिकर्षादि का ही प्रमाण नाम होगा (देखिये विज्ञान भिक्षु का भाष्य, १। ८७)।

जैसे अग्नि के संयोग से लोहा गर्म हो जाता है, वैसे ही चैतन्य के संयोग विशेष या सान्निध्य से अंतःकरण उज्ज्वलित हो उठता है। वाचस्पति के मत में संनिधि का अर्थ देश और काल में संयोग नहीं बल्कि योग्यता विशेष है। परंतु विज्ञान भिक्षु के मत में संयोग कुछ अधिक वास्तविक है।[१] यदि संनिधि का अर्थ योग्यता है तो मुक्ति-काल में भी उसे वर्तमान रहना चाहिए। फिर भी विज्ञान-भिक्षु को संयोग की काल्पनिकता माननी पड़ी है। पुरुष और बुद्धि का संयोग स्फटिक पत्थर और उसमें प्रतिबिंबित जवाकुसुम के संयोग के समान है। स्फटिक में फूल का रंग प्रतिभासित होता है; वास्तव में उसका रंग लाल नहीं हो जाता इसी प्रकार बुद्धि के अनुभव भ्रमवश पुरुष के मालूम होते हैं।

१ देखिए अध्याय १ सूत्र ६६ (सांख्य सूत्र)।

तस्मात्तत्संयोगादचेतनंचेतनावदिवलिंगम्
गुण कर्तृत्वेत्वपि तथा कर्त्तेव भवत्युदासीनः । २० ।

पुरुष के सान्निध्य या संयोग से अचेतन बुद्धि चेतन-सी हो जाती है और उदासीन पुरुष तीनों गुणों वाला कर्त्ता मालूम पड़ने लगता है। वास्तव में अनुभव कर्त्ता न पुरुष है न बुद्धि; दोनों के एकत्र होने पर बाह्य पदार्थों का अनुभव होने लगता है। चैतन्य के प्रतिबिम्ब से चेतन होकर बुद्धि, सुख, दुःख, रूप, रस, गंध आदि का अनुभव करती है और वह अनुभव पुरुष का अनुभव कहा जाता है। तात्विक दृष्टि से देखने पर पुरुष को न दुःख होता है न बंधन। दुःख और बंधन तभी तक हैं जब तक पुरुष अपने को बुद्धि-वृत्तियों से भिन्न नहीं समझ लेता।

पाठक यहां सांख्यों के विचित्र मनोविज्ञान पर भी दृष्टि डाल लें। सांख्य-योग के अनुसार मानसिक तत्त्वों और भौतिक तत्त्वों में भेद नहीं है। हमारे सुख, दुःख, विचार, भावनाएं और मनोवेग उन्हीं तत्त्वों के बने हुये हैं, जिनके कि कुर्सी, मेज, पेड़, पत्ते आदि। हमारी सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाएं बुद्धि-तत्त्व का विकार हैं; स्थूल से स्थूल पहाड़ भी बुद्धि तत्त्व के दूरवर्त्ती कार्य या परिणाम हैं। न्याय-वैशेषिक में बुद्धि का अर्थ ज्ञान है। सांख्य की बुद्धि वैशेषिकों का द्रव्य पदार्थ है जिसकी विभिन्न दशाएं सुख, दुःख, हर्ष, शोक, मोह कहलाती हैं। 'मानसिक' और 'भौतिक' में भेद यही है कि मानसिक तत्त्व अपनी सूक्ष्मता के कारण पुरुष के चेतन प्रति-बिंब को ग्रहण कर सकते हैं, जब कि भौतिक तत्त्व पुरुष से अधिक दूर हैं। भौतिक पदार्थ पहले बुद्धि-वृत्तियों में परिवर्तित होकर ही पुरुष के चैतन्य से प्रभावित हो सकते हैं।

कैवल्य

पुरुष और बुद्धि की मिथ्या एकता ही अहंता या अहंकार को जन्म देती है। यह कहा जा चुका है कि सब ज्ञान-वृत्ति-रूप है। यदि पुरुष अज्ञेय नहीं है तो उसका भी ज्ञान वृत्तिरूप होना चाहिये। पुरुष और बुद्धि के भेद ज्ञान के

बिना मुक्ति नहीं हो सकती, क्या यह ज्ञान भी बुद्धि की एक वृत्तिमात्र है। सांख्य का उत्तर है, हां। पुरुष का ज्ञान तो इसलिये संभव है कि पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि-वृत्तियों में पड़ता है। पुरुष और बुद्धि का भेद ज्ञान-बुद्धि की शुद्धता पर निर्भर है। बात यह है कि पुरुष बुद्धि से अत्यन्त भिन्न नहीं है। योग-सूत्र कहता है :—

सत्त्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्[1] ।३।५५।

जब बुद्धि में सतोगुण की वृद्धि होती है तब शुद्ध बुद्धि और पुरुष में कुछ समानता हो जाती है। इस का फल यह होता है कि बुद्धि अपने और पुरुष के भेद ज्ञान का रूप धारण कर लेती है। इस ज्ञान के उदय होते ही कैवल्य अथवा मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। ऐसा मालूम होता है कि यहां सांख्य-योग ने प्रकृति और पुरुष के घोर द्वैत को कुछ मृदुल बना दिया है।

मोक्ष से पहले जीव तरह-तरह की योनियों में भ्रमण करता रहता है, भारत के अन्य दर्शनों की भांति सांख्य-योग इस सिद्धान्त को मानते हैं। उनकी विशेषता यही है कि उन्होंने पुनर्जन्म की प्रक्रिया को ठीक-ठीक समझाने की चेष्टा की है। पुनर्जन्म किसका होता है? सर्वव्यापक पुरुष एक शरीर से दूसरे शरीर में जाता है, यह एक हास्यास्पद बात है। वास्तव में सांख्य के निर्गुण और असंग पुरुष का पुनर्जन्म नहीं हो सकता। फिर पुनर्जन्म किसका होता है? सांख्य का उत्तर है, लिंग-शरीर का। लिंग-शरीर बुद्धि-अहंकार, मन, पांच, ज्ञानेन्द्रिय और पांच कर्मेन्द्रिय तथा तन्मात्राएं इन अठारह तत्त्वों का बना हुआ है। कहीं-कहीं इस सूची में से अहंकार को उड़ा दिया जाता है। जो दिखलाई देता है और जो जला दिया जाता है,

पुनर्जन्म

[1]सूत्र का अर्थ है, पुरुष और बुद्धि की शुद्धि या निर्मलता में समानता हो जाने पर मोक्ष होता है। परन्तु पुरुष तो स्वरूप से सदैव निर्मल है ही, उसकी शुद्धि संभव नहीं है।

वह स्थूल शरीर है। लिंग-शरीर एक स्थूल-शरीर से दूसरे स्थूल शरीर में जाता रहता है। मुक्ति होने पर ही लिंग-देह का नाश होता है।

यों तो प्रत्येक प्रलय में लिंग-शरीर नष्ट होता और प्रत्येक कल्प के आदि में उत्पन्न होता है; पर वास्तविक नाश विवेक उत्पन्न होने पर ही होता है। सृष्टि के आदि में प्रत्येक पुरुष से संबद्ध लिंग शरीर पिछली सृष्टि के कर्मों के अनुसार उत्पन्न होकर विशेष योनि में प्रवेश करता है। धर्म, अधर्म, ज्ञान, अज्ञान, वैराग्य, आसक्ति आदि 'भाव' कहलाते हैं जो कि लिंग-शरीर में, बुद्धि के आश्रित, वर्त्तमान रहते हैं। इस प्रकार किसी जन्म में की हुई साधना व्यर्थ नहीं जाती। अच्छे-बुरे प्रयत्नों का सूक्ष्मरूप दूसरे जन्म में मनुष्य के साथ जाता है। आत्मोन्नति के लिये की हुई कोशिश निष्फल नहीं होती; अच्छे कर्म करने वाले की दुर्गति नहीं हो सकती, नहिं कल्याणकृत् कश्चित् दुर्गतिं तात गच्छति। (गीता)

महाभारत में लिखा है कि यम ने बलपूर्वक अंगुष्ठमात्र पुरुष को खींच लिया। यह अँगूठे के बराबर आकार लिंग-शरीर का है न कि आत्मा या पुरुष का। पुरुष तो सर्व-व्यापक है—महान्तं विभुमात्मानंमत्वाधीरो न शोचति। पुनर्जन्म संबंधी सांख्य के इन विचारों को वेदान्त ने लगभग स्वीकार कर लिया है।

जब पुरुष को सम्यक् ज्ञान हो जाता है तो उसके नवीन कर्म, धर्म, अधर्म आदि भाव बनना बंद हो जाते हैं। पिछला कर्माशय भी जले हुये बीजों की तरह शक्तिहीन हो जाता है और अपना फल नहीं देता। फिर भी मनुष्य जीवित रहता है और मृत्यु से पहले मुक्त नहीं होता, इसका क्या कारण है? बात यह है कि कर्माशय के दग्ध हो जाने पर भी पिछले संस्कारों के वश शरीर रुका रहता है। कुम्हार चक्र को घुमाना बंद कर देता है तो भी वह पिछले वेग नामक संस्कार के कारण कुछ देर तक घूमता रहता है। इसी प्रकार ज्ञानी के संस्कार भी उसके जीवन को कुछ दिनों तक अक्षुण्ण रखते हैं। जिन कर्मों ने अभी फल देना शुरू नहीं किया

है वे कर्म तो नष्ट हो जाते हैं, परन्तु जिन कर्मों ने फल देना प्रारंभ कर दिया है वे कर्म अर्थात् 'प्रारब्ध कर्म' विना भोगे नष्ट नहीं होते। इसलिये विवेकी पुरुष भी जीवित रहता है।

सांख्य और ईश्वर

ईश्वर नहीं है, ऐसा सिद्ध करने की कोशिश सांख्य ने कहीं नहीं की है। सृष्टि, प्रलय और कर्मविपाक में ईश्वर की आवश्यकता नहीं है, इन तर्कों को लेकर ईश्वर को सिद्ध नहीं किया जा सकता, सांख्य का केवल यही अनुरोध है। योग-दर्शन ने ईश्वर को ज्यादा महत्त्व का स्थान दिया है, परंतु उसमें भी ईश्वर प्रकृति और पुरुष का रचयिता या आधार नहीं है। इसलिये हम सांख्य-योग को न तो अनीश्वरवादी ही कह सकते हैं न न्याय-वैशेषिक की तरह ईश्वरवादी ही। श्वेताश्वेतर और गीता के सांख्य की तरह उत्तर सांख्य को सेश्वर नहीं कहा जा सकता। तथापि योग का ईश्वरवाद जैनियों के मुक्त-ईश्वर वाद से अधिक रोचक और भक्तिपूर्ण है। योग का ईश्वर विश्व के सब पुरुषों के लिये एक त्रिकाल-सिद्ध आदर्श-सा है जिसकी समता तक मुक्त पुरुष कठिनता से पहुँच सकते हैं। इसके विरुद्ध जैनों के मुक्त पुरुषों की ईश्वरता में कोई भेद नहीं है। योगदर्शन के मुक्ति-काङ्क्षी सिद्धियों का तिरस्कार कर देते हैं, जब कि उसके ईश्वर को सिद्धियां और कैवल्य दोनों स्वतः-प्राप्त हैं।

सांख्य का महत्त्व

भारतीय दर्शनों में सांख्य का ऊँचा स्थान है। कणाद के परमाणु-वाद ने जड़तत्त्व के खण्ड-खण्ड कर दिये, जिनमें किसी प्रकार का संबंध दिखलाई नहीं देता। सांख्य की प्रकृति विश्व की एकता की ज़्यादा ठीक व्याख्या कर सकती है। पांच भिन्न-भिन्न तत्त्वों के बदले एक प्रकृति को मान कर सांख्य ने अपनी दार्शनिक क्रान्त-दर्शिता का परिचय दिया है। प्रकृति में उसने उतना ही आन्तरिक भेद माना जितने से कि विविध सृष्टि संभव हो सके। चेतन-तत्त्व को अलग मानना दार्शनिक और साधारण दोनों दृष्टियों से युक्ति

संगत है। सांख्य की पुरुष-विषयक धारणा न्याय-वैशेषिक की अपेक्षा कहीं अधिक उन्नत है। न्याय-वैशेषिक ने आत्मा में सब तरह के गुण आरोपित कर डाले, परंतु उसे चैतन्य के गुण से वंचित रखा। सांख्य ने सुख, दुःख आदि बुद्धि के गुण बतला कर पुरुष की धारणा को सरल बना दिया। वास्तव में न्याय-वैशेषिक के आत्मा या जीव की मुक्ति संभव नहीं मालूम होती। यदि सुख, दुःख जीव के ही गुण हैं तो उनका छूटना असंभव है। पुरुष को आनंदमय न मानकर सांख्य ने यह सिद्ध कर दिया कि वह अपनी दार्शनिक व्याख्या में लोक-बुद्धि को खुश करने की ज़रा भी चेष्टा नहीं करता।

सांख्य की आलोचना

सांख्य की आलोचना के दो मुख्य विषय हैं, एक तो पुरुषों की अनेकता और दूसरा प्रकृति-पुरुष का संबंध। सांख्य ने पुरुषों का बाहुल्य सिद्ध करने के लिये जितने हेतु दिये हैं वे उपाधि-सहित पुरुष को ही लागू होते हैं? असंग और निर्गुण पुरुष में अनेकता सिद्ध नहीं होती। एक ही चेतनतत्त्व उपाधि-संसर्ग से अनेक रूपों में बँटा हुआ प्रतीत हो सकता है। प्रकृति-पुरुष का संबंध सांख्य की दूसरी बड़ी कठिनाई है। स्फटिक और रक्तकुसुम, चुम्बक और लोहा, बछड़ा और दूध आदि के उदाहरण समस्या का हल नहीं करते, उलटे उसे तेज रोशनी में ले आते हैं। प्रकृति का विकास-निरुद्देश्य पुरुष की उद्देश्य-पूर्त्ति के लिये नहीं हो सकता; न पुरुष को बंधन ही हो सकता है। मुक्त पुरुष प्रकृति की सत्ता से, जो उसी की भाँति सत्य है, सर्वथा अनभिज्ञ रहे, उसे देखे भी नहीं, यह बात कठिनता से समझ में आती है। विश्व के दो समान सत्य तत्त्व किसी प्रकार के संबंध-बिना रहें, यह समीचीन नहीं मालूम होता। या तो प्रकृति और उसका पसारा माया है, मिथ्या है, या मुक्त पुरुष और प्रकृति में कोई संबंध होना चाहिए।[1]

सत्कार्यवाद की आलोचना मीमांसकों, नैयायिकों और बौद्धों ने भी

---

१ दे० शांकर भाष्य, २,२,१०

सत्कार्य की आलोचना

की है। बौद्धों की आलोचना सबसे तीक्ष्ण है। शंकराचार्य भी सत्कार्यवाद को व्यावहारिक जगत् का सिद्धांत समझते थे, अन्यथा सृष्टि की उत्पत्ति बताने में वे 'विवर्त्तवाद' का आश्रय न लेते। नैयायिक और मीमांसक आलोचक बतलाते हैं कि उत्पत्ति से पहले घट की सत्ता मानना बिलकुल असंगत है। यदि अनभिव्यक्त घड़े से पानी नहीं ले जाया जा सकता तो उसकी सत्ता जानने से क्या लाभ? उत्पत्ति से पहले घट आवृत्त दशा में रहता है, दूसरा कार्य घट-कार्य के आवरण या आवरक का काम करता है, यह सांख्य का मत है। इस आवरण को हटानेवाला कोई हेतु होना चाहिए। वह हेतु अपनी आवरण हटाने की क्रिया करने से पहले सत् था या असत्? सत्कार्यवाद के अनुसार उसे सत् मानना चाहिए। तब प्रश्न यह है कि आवरण दूर करने के हेतु के रहते हुये भी घट अनभिव्यक्त क्यों रहा? जिस सत्ता या घटना-द्वारा घट को अभिव्यक्ति मिलती है उसे सत्कार्यवाद के अनुसार सत् मानना पड़ेगा और उसके सत् होने पर किसी भी क्षण में घट अनभिव्यक्त नहीं रह सकता।

अपने 'तत्त्वसंग्रह' में बौद्ध तार्किक शांतरक्षित ने सांख्य की कड़ी आलोचना की है।[1] 'तत्त्व संग्रह' पर कमलशील ने 'पञ्जिका' नामक टीका लिखी है। यदि कार्य और कारण एक ही होते हैं तो प्रकृति को ही महत्तत्व आदि का कारण क्यों माना जाय; महत्तत्त्व को प्रकृति का कारण क्यों न मानें? बिना उत्पत्ति स्वीकार किये कारण-वाद व्यर्थ है। यदि दही दूध में पहले से वर्त्तमान है तो 'दही बन गया या उत्पन्न हो गया' यह कहना ग़लत है। कार्य की अभिव्यक्ति के लिये कारण में कुछ परिवर्त्तन अपेक्षित होता है; यदि यह 'परिवर्त्तन' भी पहले से ही सत् है तो कार्य को पहले से ही अभिव्यक्त होना चाहिए। यदि 'परिवर्त्तन' सत् नहीं था, तो असत् की उत्पत्ति माननी पड़ेगी।

---

[1] देखिये दासगुप्त कृत इतिहास, भाग २ पृ० १७२।

सांख्य के मत के अनुसार संशय, भ्रम आदि बुद्धि के परिणाम हमेशा सत् रूप से वर्त्तमान हैं; इसलिये किसी निश्चित सिद्धांत का 'कथन' संभव नहीं है। इसी प्रकार जिन निश्चयों या सिद्धांतों पर पहुँचना है वे भी सदा से मौजूद हैं, फिर उनकी स्थापना या अन्वेषण के लिये प्रयत्न करना व्यर्थ है। यदि किसी सिद्धांत को उसके प्रतिपादन से पहले असत् मानें, तो सांख्य के अनुसार वह कभी अस्तित्त्व में न आ सकेगा। सत्कार्यवाद के आधार पर न तो हम अपने भ्रम या मिथ्याज्ञान को नष्ट कर सकते हैं, न अनुपस्थित यथार्थ ज्ञान को उत्पन्न ही कर सकते हैं। तब तो सारी दार्शनिक प्रक्रिया या तत्त्व की बौद्धिक खोज व्यर्थ ही है। यथार्थ और अयथार्थ दोनों ही प्रकार के ज्ञान हैं; उनमें से एक के नाश का और दूसरे तक पहुँचने का यत्न करना सर्वथा व्यर्थ है। जो अज्ञान है, जो सत् है, उसका नाश किस प्रकार होगा?

हम देख चुके हैं कि न्याय-वैशेषिक का असत्कार्यवाद युक्ति के आगे नहीं ठहरता; सांख्य का सत्कार्यवाद भी विचित्र उलझनों में फँसा देता है। दो विरोधी सिद्धांतों में एक भी कठिनता से मुक्त नहीं है, यह आश्चर्य की बात है। इन दोनों सिद्धांतों के विरोध और दोनों की असमञ्जसता ने वेदांत के 'अनिर्वचनीयवाद' और 'विवर्त्तवाद' को जन्म दिया।

लेकिन वेदांत-दर्शन का अध्ययन करने से पहले हमें मीमांसकों का मत देख लेना चाहिए। जहां 'ज्ञानवादी' फेल हुये वहां 'कर्मवादियों' को कितनी सफलता मिली, यह दर्शनीय बात है। वैसे भी 'उत्तर मीमांसा' से पहले 'पूर्वमीमांसा' का पाठ होना चाहिए।

चौथा अध्याय

पूर्व मीमांसा

वैदिक संहिताओं में जो विचार बीज रूप में वर्त्तमान थे वे ब्राह्मणों और उपनिषदों में अंकुरित हो गये। उन्हीं के आधार पर षड्दर्शनों के वटवृक्षों का विस्तार हुआ। यों तो श्रुति का 'शासन' सभी आस्तिक दर्शन मानते हैं, पर श्रुति के वास्तविक अनुयायी पूर्व और उत्तर मीमांसा ही कहला सकते हैं। जब कि अन्य दर्शन श्रुति से कुछ संकेत लेकर ही संतुष्ट हो गये, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा के लेखकों ने अपने संपूर्ण सिद्धांत श्रुति से निकालने की कोशिश की। न्याय-वैशेषिक के साहित्य में श्रुति के उद्धरण शायद ही मिलें, सांख्यकारिका भी श्रुति की विशेष परवाह नहीं करती; परंतु पूर्वमीमांसा और वेदांत के विषय में ऐसा नहीं कहा जा सकता। यह ठीक है कि उत्तरकालीन वेदांत को आलोचकों से अपनी रक्षा करने के लिये तर्क का आश्रय लेना पड़ा, इसी प्रकार पूर्व-मीमांसा के टीकाकारों में भी तर्क कम नहीं है, फिर भी इन दोनों से मुख्य सिद्धांतों का प्रतिपादन श्रुति के आधार पर किया गया है। यहां श्रुति से मतलब वेदों, ब्राह्मणों और उपनिषदों के समुदाय से है। जहां दूसरे दर्शन अपनी पुष्टि के लिये उपनिषद की शरण लेते हैं, वहां पूर्व मीमांसा ब्राह्मण-ग्रंथों पर निर्भर रहती है। ब्राह्मण उपनिषदों से पहले आते हैं, इसी लिये इस संप्रदाय का नाम पूर्व मीमांसा पड़ा। उपनिषदों का आश्रय लेने के कारण वेदांत को 'उत्तर मीमांसा' कहते हैं।

पूर्व मीमांसा का दूसरा नाम कर्म-मीमांसा भी है। इस नाम से पूर्व मीमांसा के विषय और अभिरुचि का पता चलता है। पूर्व मीमांसा

का सबसे प्राचीन और प्रामाणिक ग्रंथ जैमिनि के सूत्र हैं। इन सूत्रों में वैदिक यज्ञ-विधानों की प्रक्रिया और महत्त्व का वर्णन है। यज्ञ-प्रतिपादक वाक्यों की व्याख्या किस प्रकार करनी चाहिए, किन यज्ञों को कब, किसलिये और किस प्रकार करना चाहिये, इसका निर्णय करना मीमांसा का काम है। यज्ञ-संबंधी व्यख्याओं के मतभेद दूर करके संगति और सामञ्जस्य स्थापित करना ही जैमिनि-सूत्रों का लक्ष्य था। प्रश्न किया जा सकता है कि यदि पूर्व मीमांसा कर्मकांड का वर्णन मात्र है तो उसे 'दर्शनशास्त्र' के इतिहास में क्यों स्थान दिया गया ? बात यह है कि धीरे-धीरे टीकाकारों के हाथ में पूर्व मीमांसा ने दर्शन का रूप धारण कर लिया। आरंभ में पूर्व मीमांसा की स्वर्ग में रुचि थी जो यज्ञों द्वारा प्राप्य था, परंतु भाष्यकारों और टीकाकारों ने 'मोक्ष' का प्रवेश मीमांसा-शास्त्र में करा दिया। यद्यपि कुमारिल और प्रभाकर याज्ञिक-क्रियाओं को महत्त्व देते हैं, तथापि उनमें स्पष्टरूप में दार्शनिक पक्षपात बढ़ा हुआ पाया जाता है।

कीथ के मत में पूर्व मीमांसा के सूत्र सब सूत्रों में पुराने हैं। उनका समय ठीक-ठीक नहीं बताया जा सकता।

मीमांसा साहित्य

मीमांसा-शास्त्र में लगभग २५०० सूत्र हैं जो बारह अध्यायों में विभक्त हैं। दार्शनिक सूत्र-ग्रंथों में मीमांसा का आकार सबसे बड़ा है। मीमांसा सूत्रों पर शायद सबसे पहले 'उपवर्ष' ने वृत्ति लिखी। उनका नाम शाबर भाष्य में आता है जो कि सबसे प्राचीन उपलब्ध भाष्य है। शाबर भाष्य पर प्रभाकर ने 'बृहती' टीका लिखी। प्रभाकर का समय ६५० ई० समझना चाहिए। 'बृहती' पर शालिकानाथ की 'ऋजुविमला' टीका मिलती है। शालिकानाथ को प्रभाकर का शिष्य बतलाया जाता है। मीमांसा-साहित्य में प्रभाकर 'गुरु' नाम से प्रसिद्ध हैं। शाबर भाष्य पर दूसरी टीका कुमारिल भट्ट (७०० ई०) ने लिखी; इस टीका के तीन भाग हैं, श्लोकवार्त्तिक, तंत्रवार्त्तिक और टुप्टिका। श्लोकवार्त्तिक पर, जो कि दार्शनिक भाग है, श्री पार्थसारथि मिश्र ने 'न्याय

रत्नाकर' लिखा। प्रभाकर की बृहती शबर स्वामी के भाष्य के अधिक अनुकूल है; कुमारिल कभी-कभी भाष्यकार के विरुद्ध भी चले जाते हैं। प्रभाकर और कुमारिल के दार्शनिक सिद्धांतों में जगह-जगह मतभेद है। इस प्रकार शाबर-भाष्य का आधार लेकर प्रभाकर और कुमारिल ने मीमांसा के दो दार्शनिक संप्रदायों की नींव डाली। कुमारिल के मतानुयायियों का अधिक साहित्य उपलब्ध है। पार्थसारथि मिश्र की 'शास्त्रदीपिका' मंडन मिश्र का 'विधिविवेक' और 'भावनाविवेक', माधव का 'न्यायमालाविस्तर', खंडदेव की 'भाट्ट दीपिका' आदि ग्रंथ उल्लेखनीय हैं। आपदेव का 'मीमांसा-न्याय-प्रकाश' सत्तरहवीं शताब्दी में लिखा गया; लौगाक्षिभास्कर का 'अर्थसंग्रह' भी नवीन ग्रंथ है। भाट्ट मत का एक नया ग्रंथ 'मानमेयोदय' हाल ही में प्राप्त हुआ है। प्रभाकर मत की प्रसिद्ध पुस्तक शालिकानाथ की 'प्रकरणपञ्चिका' है। इसी लेखक ने शाबरभाष्य पर 'परिशिष्ट' भी लिखा है।

प्रभाकर और कुमारिल के मतों का हम मिलाकर वर्णन करेंगे, क्योंकि भेद होने पर भी दोनों का कुछ महत्त्वपूर्ण बातों पर एक मत है। जहां दोनों के सिद्धांतों में भेद है, वहां वैसा ही लिख दिया जायगा।

जैमिनि ने प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द यह तीन प्रमाण माने थे।

प्रमाण-विचार

प्रभाकर ने उपमान और अर्थापत्ति को भी प्रमाण स्वीकार किया। कुमारिल ने प्रभाकर की सूची में अभाव को और जोड़ दिया। संभव और ऐतिह्य (जन-प्रवाद) को दोनों में कोई प्रमाण नहीं मानता। न्याय-वैशेषिक में प्रत्यक्ष ज्ञान के कारण को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहा गया था, परंतु प्रभाकर के मत में प्रत्यक्ष-ज्ञान और प्रत्यक्ष प्रमाण एक ही हैं। प्रमाण का लक्षण—

प्रमाण मनुभूतिः, सा स्मृतेरन्या, न सा स्मृतिः।
न प्रमाणं स्मृतिः पूर्वप्रतिपत्ति व्यपेक्षणात्[1] ॥

[1] कीथ, कर्म मीमांसा, पृ० २०

प्रमाण अनुभूति को कहते हैं जो स्मृति-ज्ञान से भिन्न है। स्मृति प्रमाण नहीं है क्योंकि वह पूर्वज्ञान की अपेक्षा करती है। जब किसी ज्ञान में स्मृति का अंश आ जाता है तो उसमें भ्रम की संभावना उत्पन्न हो जाती है।

ज्ञान के विषय में एक महत्त्वपूर्ण बात याद रखनी चाहिए, वह यह कि ज्ञान का आकार नहीं होता। मीमांसा का मत है कि बिना आकार की वस्तु का प्रत्यक्ष नहीं होता। ज्ञान प्रत्यक्षगम्य नहीं है, वह स्वतः प्रकाश है। प्रत्यक्ष-बुद्धि अर्थ-विषयक होती है न कि बुद्धि-विषयक (अर्थ-विषयेहि प्रत्यक्षबुद्धिः, न बुद्धिविषये—भाष्य)[1] प्रत्यक्ष पदार्थों का होता है न कि पदार्थों के ज्ञान का। संवित् (ज्ञान) कभी संवेद्य नहीं होती। संवित् सदैव संवित् के रूप में जानी जाती है न कि संवेद्य के रूप में (संवित्तयैव हि संवित् संवेद्या न संवेद्यतया)[2] ज्ञान की उपस्थिति अनुमान से जानी जाती है। ज्ञान दूसरे पदार्थों को प्रकाशित करता है, अपने को नहीं। ज्ञान ज्ञेय है, पर प्रत्यक्ष करने योग्य नहीं है। यह सिद्धांत सौत्रांतिक मत का बिलकुल उलटा है। सौत्रांतिकों के अनुसार विज्ञानों का प्रत्यक्ष होता है और पदार्थों का अनुमान; मीमांसा के मत में वस्तुओं का प्रत्यक्ष होता है और उनके ज्ञान या संवित् का अनुमान।

प्रत्यक्ष सविकल्पक और निर्विकल्पक दो प्रकार का होता है। मीमांसा का निर्विकल्पक प्रत्यक्ष न्याय-वैशेषिक से भिन्न है। मीमांसा का निर्विकल्पक कोरी कल्पना नहीं है। निर्विकल्पक ज्ञान में वस्तु की श्रेणी या जाति तथा विशेष धर्म की प्रतीति नहीं होती, यह कुमारिल का मत है।[3] प्रभाकर के मत में दोनों का अस्पष्ट प्रत्यक्ष होता है। निर्विकल्पक और सविकल्पक दोनों प्रकार के ज्ञान प्रमाण हैं; दोनों ही ज्ञाता को व्यवहार

[1] वही, पृ० २० और प्रभाकर स्कूल आफ़ पूर्व-मीमांसा, पृ० २६।

[2] वही

[3] कीथ, वही, पृ० २६।

में लगा सकते हैं। पशु का ज्ञान निर्विकल्पक होता है और पशु के व्यापारों का कारण बन जाता है।[1]

आत्मा का प्रत्यक्ष होता है या नहीं, इस विषय में प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है। कुमारिल के मतभेद में अहंप्रत्यय द्वारा आत्मा का प्रत्यक्ष होता है। आत्मा एक साथ ही द्रष्टा और दृश्य, ज्ञाता और ज्ञेय हो सकता है। आत्मानुभव में आत्मा आप ही अपने को जानता है। ज्ञेयरूप से आत्माजड़ है और ज्ञातारूप से चेतन; इस प्रकार आत्मा जड़-बोधात्मक है।[2] मैं अपने को जानता हूं, यह अनुभव ही इस विषय में प्रमाण है। प्रत्येक पदार्थ के ज्ञान के साथ आत्मा का ज्ञान लगा रहता है। घटज्ञान में दो वृत्तियां विद्यमान होती हैं, एक घट-वृत्ति और दूसरी अहंवृत्ति। आत्मानुभूति प्रत्येक ज्ञान की निश्चित सहकारिणी हैं। यह मत जर्मन दार्शनिक काण्ट के मत से समानता रखता है। काण्ट ने कहा था—प्रत्येक प्रत्यक्ष-ज्ञान के साथ 'मैं जानता या सोचता हूँ' यह ज्ञान स्वतः लगा रहता है। परंतु कुमारिल के मत में आत्मा 'ज्ञाता' के रूप में नहीं जाना जाता; व्यक्तित्व की एकता की अनुभूति ज़रूर होती है। आत्म-तत्त्व को अज्ञेय नहीं कहा जा सकता।

प्रभाकर का मत न्याय-वैशेषिक के समीप और कुमारिल से भिन्न है। प्रभाकर परिणामवादी नहीं है; वह आत्मा की परिवर्त्तनीयता में विश्वास नहीं रखता। पुरुष को 'ज्ञेय' कहना भी समीचीन नहीं है। ज्ञाता कभी अपना ज्ञेय नहीं हो सकता। वाह्य पदार्थ ही ज्ञेय हैं न कि आत्मा। आत्मा ज्ञाता है; प्रत्येक ज्ञान में वह ज्ञाता के रूप में ही प्रकाशित होता है। यदि प्रत्येक ज्ञान में ज्ञेय पदार्थ के साथ ज्ञाता भी प्रकाशित न होता तो एक ज्ञान दूसरे ज्ञान से भिन्न न जाना जा सकता। आत्मा स्वप्रकाश नहीं, जड़ है। यही न्याय-वैशेषिक का भी मत है।

---

१ हिरियन्ना, पृ० ३०४।

२ वही, पृ० ३०५।

वास्तव में स्वयंप्रकाश ज्ञान है। या अनुभव के लिये प्रभाकर के अनुयायी 'संवित्' शब्द का प्रयोग करते हैं। संवित् स्वप्रकाश है, उसे किसी दूसरे के प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। संवित् उत्पन्न होती और तिरोहित होती है और प्रकट होते ही विषय अर्थात् ज्ञेय पदार्थ तथा ज्ञाता अर्थात् आत्मा दोनों को प्रकाशित कर देती है; वह स्वयं तो प्रकाशित है ही। इस प्रकार तीन चीज़ों (संवित्, ज्ञेय और ज्ञाता) के एक साथ प्रकाशित हो जाने को 'त्रिपुटीज्ञान' कहते हैं (देखिये, हिरियन्ना, पृष्ठ ३०७)। आत्मा यदि स्वयंप्रकाश होता तो निद्रावस्था और सुषुप्ति में भी प्रकाशित रहता। इसलिये संवित् को ही स्वयंप्रकाश मानना चाहिए।

शब्द प्रमाण

मीमांसक वेदों को अपौरुषेय और नित्य मानते हैं। अपौरुषेय का अर्थ यही नहीं है कि उन्हें किसी मनुष्य ने नहीं बनाया; इसका अर्थ यह है कि उन्हें किसी ने नहीं बनाया। वेद ईश्वरकृत नहीं है। वस्तुतः मीमांसक अनीश्वरवादी हैं। हिन्दू दर्शन में, जैसा कि हम बता चुके हैं, ईश्वर को न माननेवाला नास्तिक नहीं होता, श्रुति को न माननेवाला ही नास्तिक कहलाता है। इस प्रकार अनीश्वरवादी होते हुये भी मीमांसा एक आस्तिक दर्शन है। वेदों की नित्यता का अर्थ यह है कि वेदों के शब्द, वाक्य आदि, सब नित्य हैं, वाक्यों का क्रम भी नित्य है। इसी क्रम से इसी भाषा में लिखित वेद गुरु-शिष्य-परम्परा द्वारा अनादिकाल से चले आते हैं। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हैं। कुमारिल के मत में शब्द एक द्रव्य है। शब्द नित्य हैं, इसी प्रकार अर्थ नित्य हैं; शब्दों और अर्थों का संबंध भी नित्य है। नैयायिकों के मत में, किस शब्द का क्या अर्थ होगा, यह ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। परंतु मीमांसक शब्दों और उनके अर्थ का संबंध स्वाभाविक, अकृत्रिम तथा अनादि मानते हैं। जिस शब्द का जो अर्थ है, वही उसका अर्थ हो सकता है। वह सुविधा के लिए 'मान लेने' की चीज़ नहीं है। शब्द और अर्थ का संबंध नित्य है।

शब्द की नित्यता[1]

शब्द-मात्र की नित्यता सिद्ध करने के लिये मीमांसकों ने कई युक्तियां दी हैं। संसार की वस्तुएं पहले थीं और उनका नाम बाद को रक्खा गया; यह मत मीमांसा को स्वीकृत नहीं है। वस्तुओं और उनके नामों में क्या पहले था, यह बताना असंभव है। परंतु शब्द का अर्थ ध्वनि नहीं है। शब्द वर्ण-समूह का नाम है। प्रत्येक वर्ण सर्वव्यापक, निरवयव अतएव नित्य है। वर्ण नित्य है, इसके पक्ष में एक महत्त्व की युक्ति यह है कि किसी वर्ण का उच्चारण होते ही हम पहचान लेते हैं कि यह अमुक वर्ण है। एक ही नित्य वर्ण का बार-बार उच्चारण होता है। ध्वनि वर्ण के उच्चारण का साधन मात्र है; ध्वनि से वर्ण को अभिव्यक्ति मिलती है। ध्वनि वर्ण नहीं है। ध्वनि ऊँची, नीची, धीमी या तेज़ हो सकती है, परंतु इससे वर्ण में भेद नहीं पड़ता। वर्णों के समुदाय को शब्द कहते हैं। शब्द वर्णों का समूहमात्र है; वह अवयवी नहीं है। फिर भी अर्थ की प्रतीति के लिये वर्णों में ठीक क्रम होना आवश्यक है। अन्यथा 'नदी' और 'दीन' में अर्थ भेद न होगा शब्दों का अर्थ 'व्यक्ति' को नहीं बल्कि 'जाति' को बताता है। गो शब्द का अर्थ है गोत्व जाति। चूंकि जातियां नित्य हैं इसलिये शब्द और अर्थ का संबंध भी नित्य है।

यदि शब्द नित्य न हों तो गुरु शिष्य को पढ़ा भी न सके। 'गाय जाती है' यह कहने में पहले 'गाय' शब्द का उच्चारण होता बाद को 'जाती' और फिर 'है' का। 'गाय' में पहले ग का उच्चारण होता है। यदि उच्चारण के साथ ही ग् वर्ण नष्ट हो जाय तो पूरे शब्द या पूरे वाक्य का अर्थ कभी समझ में न आ सके। नष्ट हुआ शब्द अर्थ का ज्ञापन नहीं कर सकता। ज्ञाप्य (जिसका ज्ञापन किया जाय) और ज्ञापक (ज्ञापन करनेवाले) को एक समय में होना चाहिए।

प्रभाकर के मत में सारी ध्वनियां वर्णात्मक हैं। कुमारिल और

---

[1] हिरियन्ना, पृ० ३०६—३१०

प्रभाकर दोनों के मत में अर्थ वर्णों का धर्म है न कि उनसे अतिरिक्त किसी 'स्फोट' का। स्फोटवाद वैयाकरणों (व्याकरण शास्त्रियों) का सिद्धान्त है। मीमांसक उसके विरुद्ध हैं।

वर्ण सदैव, सर्वत्र वर्त्तमान रहते हैं; उच्चारण से उनकी अभिव्यक्ति मात्र हो जाती है। इसलिये यह तर्क कि वर्णों की उत्पत्ति और नाश होता है, इसलिये वे अनित्य हैं, ठीक नहीं। एक ही शब्द का बहुत से लोग बहुत जगहों में उच्चारण करते हैं, न कि अनेक शब्दों का। अन्यथा एक-से अर्थ की प्रतीति सब जगह नहीं हो सकती।

जब साधारण शब्द नित्य हैं तब वैदिक शब्द नित्य हैं इसका तो कहना ही क्या। महाभाष्यकार पतंजलि के मत में वैदिक अर्थ नित्य हैं, शब्द नित्य नहीं हैं। परंतु मीमांसक शब्दों और शब्दों का अभिप्राय दोनों को नित्य मानते हैं। परंतु क्या नित्य होने से वेदों का प्रामाण्य स्थापित हो जाता है? इसके उत्तर में मीमांसक ज्ञान के 'स्वतःप्रामाण्य' पर ज़ोर देते हैं। 'स्वतःप्रामाण्य' के सिद्धान्त पर विचार करने से पहले हमें यह समझ लेना चाहिए कि शब्दप्रमाण का क्षेत्र अलौकिक जगत् है। जहां प्रत्यक्षादि प्रमाणों की पहुँच नहीं है वहीं शब्द का प्रामाण्य होता है वेदों का प्रामाण्य इसलिये है कि वे अलौकिक क्षेत्र के विषय में बतलाते हैं। 'इस प्रकार का अनुष्ठान करने से यह फल मिलेगा,' यह किसी दूसरे प्रमाण का विषय नहीं है। याज्ञिक अनुष्ठानों के फलप्रद होने का विश्वास वेदों का प्रमाण मानने पर ही हो सकता है। मीमांसा का उद्देश्य 'धर्म' का स्वरूप निश्चय करना है। वैदिक विधियों का पालन ही 'धर्म' है। धर्म का स्वरूप और किसी उपाय से, प्रत्यक्ष या अनुमान द्वारा, नहीं जाना जा सकता। मीमांसा वैदिक वाक्यों की व्याख्या करने से नियम बतलाती है जिससे वेदों का अभिप्राय ठीक-ठीक समझा ज़ा सके।

स्वतः प्रामाण्य

प्रामाण्यवाद की ठीक-ठीक समस्या क्या है, इसे हमें अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियों से जो ज्ञान उत्पन्न होता है उसे 'प्रत्यक्ष' कहते हैं। मान लीजिए कि आपको सर्प का प्रत्यक्ष हुआ। जैसे ही आपको सर्प दिखलाई देता है, आप विश्वास कर लेते हैं कि आपके सामने सर्प है। प्रश्न यह है कि क्या आपका यह स्वाभाविक विश्वास बिलकुल ठीक ही है, ग़लत नहीं हो सकता; क्या ज्ञान का उत्पन्न होना और ज्ञान का यथार्थ होना एक ही बात है? जो जो ज्ञान उत्पन्न होता है क्या वह सब ठीक ही होता है? ज्ञान की उत्पत्ति ही क्या उसकी सच्चाई या यथार्थता की भी गारंटी कर लेती है? जिसे आप सर्प कह या समझ रहे हैं, वह रस्सी भी तो हो सकती है।

नैयायिकों का कथन है कि ज्ञान की उत्पत्ति एक बात है और ज्ञान की यथार्थता का निश्चय दूसरी बात; यथार्थ ज्ञान का स्वरूप ज्ञेय के अनुकूल होता है, परंतु यथार्थज्ञान की परख व्यावहारिक सफलता है। जिस ज्ञान के अनुसार काम करने पर सफलता हो उसे यथार्थज्ञान कहना चाहिए। यह यथार्थज्ञान का लक्षण नहीं है, उसे पहचानने का उपाय है। यथार्थज्ञान उत्पन्न हो जाने पर भी उसकी पहचान बिना व्यवहार के नहीं हो सकती। इस मत को 'परतः प्रामाण्यवाद' कहते हैं।

मीमांसकों का मत इससे उलटा है। ज्ञान अपना प्रामाण्य अपने साथ लाता है। ज्ञान की यथार्थता को परखने के लिये किसी ज्ञानेतर पदार्थ, किसी प्रकार के व्यवहार या व्यापार की आवश्यकता नहीं है। ज्ञान उत्पन्न होना और उस ज्ञान की यथार्थता में विश्वास होना, एक ही बात है। प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों में नैसर्गिक विश्वास पाया जाता है। किसी ज्ञान को अयथार्थ सिद्ध करने के लिये और कुछ करने की आवश्यकता है, यथार्थ सिद्ध करने के लिये नहीं। इस मत को 'स्वतः प्रामाण्यवाद'

कहते हैं। ज्ञान का प्रामाण्य अपने आप (स्वतः) होता है, अप्रामाण्य दूसरी किसी चीज़ (दूसरा ज्ञान या व्यापार) की अपेक्षा से (प्रामाण्यं-स्वतः, अप्रामाण्यं परतः)। ज्ञान में विश्वास करना स्वाभाविक है और अविश्वास करना अस्वाभाविक; किसी ज्ञान में अविश्वास करनेवाले को कारण बताना चाहिए, विश्वास करनेवाले को नहीं।[1]

इस 'स्वतः प्रामाण्य' का शब्द प्रमाण से क्या संबंध है? वैदिक वाक्यों का एक बार अर्थ जान लेने पर उनका प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये किसी 'परख' या परीक्षा की आवश्यकता नहीं रहती। वैदिक विधि-निषेधों का अभिप्राय समझना ही उनमें विश्वास करना है। अब पाठक समझ गये होंगे कि 'स्वतः प्रामाण्य' सिद्ध करना मीमांसा के लिये क्यों और कितना आवश्यक है। परतः प्रामाण्यवाद को मान लेने पर वेदों की विश्वसनीयता एक दम नष्ट हो जाती है। वैदिक वाक्यों की सत्यता की परख करना संभव नहीं है क्योंकि उनका संबंध परलोक से है। इसलिये या तो सारे वैदिक वाक्यों में विश्वास किया जा सकता है या अविश्वास अथवा सन्देह। ज्ञान के स्वतः प्रामाण्य को मान लेने पर विश्वास का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

क्या इसका अर्थ यह नहीं है कि हमें किसी के भी वाक्य में विश्वास कर लेना चाहिए? मीमांसा का उत्तर है, हां। किसी भी पुरुष का वाक्य प्रमाण हो सकता है यदि उस पुरुष में कोई दोष न हो। ज्ञान स्वरूपतः निर्दोष होता है, पर ज्ञान के स्रोत में दोष हो सकता है। मीमांसक इंद्रियों को प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं कहते, प्रत्यक्ष अनुभूति को प्रत्यक्ष कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि प्रत्यक्ष प्रमाण या प्रत्यक्ष ज्ञान स्वतः निर्दोष है, परन्तु उसके स्रोत (इन्द्रियों) में दोष हो सकता है। इसी प्रकार शब्द ज्ञान के स्रोत पुरुष का वाक्य अप्रमाण हो जाय। चूंकि वेदों का कोई कर्त्ता नहीं है जिसमें दोष हो सकें, इसलिये वैदिक

---

[1] सर्व दर्शन संग्रह; पृ० १०६–१०७

वाक्य सर्वथा प्रमाण ही हैं।

अब हम स्वतः-प्रामाण्यवाद की मुख्य युक्ति देते हैं। परतः-प्रामाण्यवाद कठिनाई में डाल देता है। 'यह पानी है' इस ज्ञान की नैयायिक व्यावहारिक परीक्षा करना चाहते हैं। पानी के अस्तित्व का ज्ञान तब ठीक है जब उससे प्यास बुझ जाय। 'मेरी प्यास बुझ गई' यह भी एक प्रकार का अनुभव या ज्ञान है। इस प्रकार हम देखते हैं कि पहले ज्ञान की 'व्यावहारिक परख' का अर्थ उसकी दूसरे ज्ञान से परीक्षा करना है। परन्तु 'मेरी प्यास बुझ गई' यह भी ज्ञान है; इसकी भी परीक्षा होनी चाहिए। इसकी 'परख' जिस ज्ञान से होगी वह भी ज्ञान ही होगा और उसकी भी परीक्षा आवश्यक होगी। इस प्रकार हम देखते हैं कि परतः प्रामाण्यवाद हमें अनवस्था में फँसा देता है। ज्ञान के परतः-प्रामाण्य को मानकर हम कभी किसी ज्ञान की यथार्थता का निश्चय नहीं कर सकते।

शब्द प्रमाण और प्रामाण्यवाद का वर्णन हम कर चुके। अनुमान और उपमान की व्याख्या में कोई विशेषता नहीं है। कुमारिल ने अभाव प्रमाण को भी माना है। प्रभाकर अभाव या अनुपलब्धि को प्रमाण नहीं मानता। अर्थापत्ति को दोनों प्रमाण मानते हैं परन्तु उनकी व्याख्या में महत्त्वपूर्ण भेद है। पहले हम अर्थापत्ति का ही वर्णन करेंगे।

अर्थापत्ति प्रमाण[2]

'देवदत्त मोटा है' और 'देवदत्त दिन में नहीं खाता' यह दोनों ज्ञान परस्पर-विरोधी हैं। इन पर विचार करने से यह परिणाम निकलता है कि 'देवदत्त रात को खाता है।' इस तीसरे ज्ञान को अर्थापत्ति कहते हैं।

एक दूसरा उदाहरण लीजिए। 'देवदत्त जीवित है पर देवदत्त घर

---

[1] सर्व दर्शन संग्रह; पृ० १०८

[2] दासगुप्त, भाग १, पृ० ३९१-३९४

में नहीं है' यहाँ अर्थापत्ति प्रमाण से यह सिद्ध होता है कि 'देवदत्त घर के बाहर है।' प्रभाकर का मत है कि अर्थापत्ति का मूल सन्देह है। देवदत्त को घर में न पाने पर उसके जीवन में ही सन्देह होने लगता है। इस सन्देह को दूर करने के लिये तृतीय ज्ञान अर्थात् अर्थापत्ति की कल्पना करनी पड़ती है। 'देवदत्त घर के बाहर है' इस ज्ञान से सन्देह दूर हो जाता है। देवदत्त की घर से अनुपस्थिति अकेली अर्थापत्ति के लिये यथेष्ट नहीं है। देवदत्त मरा हुआ भी हो सकता है, घर में न होने का अर्थ बाहर होना ही नहीं है। घर में देवदत्त की अनुपस्थिति देखकर उसके जीवन के विषय में संशय उत्पन्न हो जाता है जिसे अर्थापत्ति से दूर किया जाता है।

अर्थापत्ति का अनुमान में अन्तर्भाव नहीं हो सकता क्योंकि यह ज्ञान व्याप्ति के बिना होता है। केवल-व्यतिरेकी अनुमान को दोनों मतों के मीमांसक नहीं मानते। व्यतिरेक व्याप्ति आदरणीय नहीं है।

कुमारिल ने अर्थापत्ति की व्याख्या दूसरी तरह की है। वास्तव में प्रभाकर की व्याख्या दोषपूर्ण है। जिस दशा में संशय उत्पन्न होता है उसी दशा में फिर दूर कैसे हो जाता है? आदि से अन्त तक दो ही निश्चित ज्ञान रहते हैं, देवदत्त का जीवित रहना और उसका घर में न होना। देवदत्त के जीवित होने में संदेह कभी नहीं होता और यदि ऐसा संदेह होता है तो उसके दूर होने का कोई कारण नहीं दीखता। वास्तव में देवदत्त के जीवित होने और घर में न होने के दोनों ज्ञानों में संशय नहीं होता। लेकिन इन दोनों असंदिग्ध ज्ञानों में विरोध है। इस विरोध को दूर करने के लिये बुद्धि प्रयत्न करती है जिसके परिणाम-स्वरूप अर्थापत्ति का उदय होता है। एक ही परिस्थितियों में संदेह की उत्पत्ति और नाश दोनों मानना असंगत है; यही प्रभाकर की व्याख्या में दोष है।

प्रभाकर इस प्रमाण को नहीं मानता। कुमारिल का मत है कि घट

अभाव या अनुपलब्धि प्रमाण

के अभाव का प्रत्यक्ष एक अलग प्रमाण से होता है जिसे अनुपलब्धि प्रमाण कहते हैं। घटाभाव का ज्ञान प्रत्यक्ष से नहीं हो सकता, क्योंकि इंद्रिय-संनिकर्ष का अभाव है। अनुमान और अर्थापत्ति से भी 'भूतल में घट नहीं है' यह ज्ञान नहीं हो सकता। इसलिये अभाव का ग्रहण करने वाला अलग प्रमाण मानना चाहिये। अनुपलब्धि का अर्थ है 'उपलब्धि' या 'ग्रहण' का अभाव। प्रभाकर के अनुयायी अभाव-पदार्थ को नहीं मानते, इसलिये उनकी दृष्टि में अनुपलब्धि-प्रमाण भी निरर्थक है।

प्रमाणों का वर्णन हो चुका, अब प्रमेयों का वर्णन होना चाहिए। यहां भी प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है। मीमांसकों का प्रमेय-विभाग न्याय-वैशेषिक से बहुत मिलता है।

न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग की तरह मीमांसक भी यथार्थवादी हैं; वे बाह्य जगत् की स्वतंत्र सत्ता में विश्वास रखते हैं। संसार मनोमय या कल्पना-प्रसूत नहीं है। कुमारिल ने विज्ञानवादियों का तीव्र खंडन किया है। जगत् की स्वतंत्र सत्ता माने बिना कोई व्यवहार नहीं चल सकता। गुरु-शिष्य-संबंध, अच्छे-बुरे का व्यवहार आदि बाह्य जगत् की अपनी सत्ता माने बिना नहीं हो सकते। विज्ञानवादी स्वप्न-पदार्थों का उदाहरण देते हैं। परंतु स्वप्न-पदार्थों का मिथ्यापन जाग्रतकाल के पदार्थों की अपेक्षा से है। यदि जाग्रत जगत् भी झूठा है तो स्वप्न के पदार्थों को झूठा कहना भी नहीं बन सकता और विज्ञानवाद का मुख्य तर्क व्यर्थ हो जाता है। कुमारिल ने यह दिखाने की बहुत कोशिश की है कि कोई विज्ञान अपने को नहीं जान सकता, न दूसरा विज्ञान ही एक विज्ञान को जान सकता है।[1] विज्ञान से पदार्थ का बोध होता है; विज्ञान स्वयं अनुमेय है। पदार्थ को बता चुकने के बाद विज्ञान स्वयं ज्ञान का विषय

---

१ देखिये, कीथ, कर्म-मीमांसा पृ० ४६-५०।

बन सकता है, इस संभावना पर कुमारिल ने विचार नहीं किया। अंतर्दर्शन या मानसिक अवस्थाओं के प्रत्यक्ष को कुमारिल ने नहीं माना। अपने 'लॉजिक' के अंतिम अध्याय में प्रसिद्ध तर्कशास्त्री वर्नार्ड बोसांक्ट ने कुमारिल के इस मत की पुष्टि की है कि सब मानसिक अवस्थाएं भौतिक पदार्थों (या शारीरिक दशाओं) की ओर इंगित करती है। प्रत्येक मानसिक दशा का विषय होता है। निर्विषयक विज्ञान संभव नहीं हैं।

पदार्थ-विभाग[1]

प्रभाकर के मत में इतने पदार्थ हैं—द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, पारतंत्र्य या समवाय, शक्ति, सादृश्य और संख्या। अंधकार अलग द्रव्य नहीं है; प्रकाश की अनुपस्थिति ही अंधकार है। प्रभाकर अभाव और विशेष को पदार्थ नहीं मानता।

कुमारिल के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य और अभाव यह पाँच पदार्थ हैं। अभाव चार प्रकार का है। 'विशेष' पदार्थ नहीं है। अंधकार और शब्द द्रव्य हैं; इस प्रकार द्रव्यों की संख्या 'ग्यारह' है। समवाय भी अलग पदार्थ नहीं है।

आत्मा

वैदिक विधि-वाक्य अपना पालन करनेवालों को स्वर्ग की आशा दिलाते हैं। यदि आत्मा अनित्य हो तो यह वाक्य निरर्थक हो जायं। 'यज्ञों का करनेवाला स्वर्ग को जाता है' इसका साफ़ अर्थ यही है यज्ञ-कर्त्ता मृत्यु के बाद नष्ट नहीं हो जाता। आत्मा अमर है। आत्म-सत्ता की सिद्धि के लिये जैमिनि ने विशेष प्रयत्न नहीं किया है; वे यह विषय उत्तर-मीमांसा का समझते हैं। उपवर्ष जिन्होंने दोनों मीमांसाओं पर वृत्ति लिखी है, कहते हैं कि आत्म-सत्ता उत्तर-मीमांसा में सिद्ध की जायगी। प्राचीन काल में दोनों मीमांसाएं मिलकर एक दर्शन कहलाता था जिसमें कर्म-मार्ग और ज्ञान-मार्ग दोनों का पूरा विवेचन है।

---

१ प्रभाकर स्कूल, पृ० ८८

आत्मा शरीर, इंद्रियां और बुद्धि इन सब से भिन्न है। निद्रावस्था में बुद्धि की अनुपस्थिति में भी आत्मा मौजूद होता है। इंद्रियों के नष्ट हो जाने पर भी आत्मा नष्ट नहीं होता। शरीर जड़ है और ज्ञान का आधार नहीं हो सकता। स्मृति भी आत्मा की सत्ता सिद्ध करती है। ज्ञान एक प्रकार की क्रिया है जो आत्म-द्रव्य में रहती या होती है। आत्मा में परिवर्तन या व्यापार होता है, इससे उसकी नित्यता में कोई भेद नहीं पड़ता। आत्मा को विज्ञानों का समूह मानने से काम नहीं चल सकता। यदि कर्म-सिद्धान्त में कोई सत्यता है तो एक स्थिर आत्मा मानना चाहिए जिसका पुनर्जन्म होता है। बौद्ध मत में कर्म-विपाक और पुनर्जन्म दोनों ही नहीं बन सकते। आत्मा को व्यापक मानना चाहिए। यदि आत्मा अणु हो तो शरीर के भिन्न-भिन्न भागों में होने वाले परिवर्तनों को न जान सकें। मध्यम परिमाण मानने पर आत्मा अनित्य हो जायगा। इसलिये आत्मा को विभु या व्यापक मानना ही ठीक है।[1]

आत्मा अनेक है। शरीर की क्रियाओं से आत्मा का अनुमान होता है। प्रत्येक शरीर की क्रियायें अलग-अलग हैं। प्रत्येक व्यक्ति का धर्म-अधर्म या अपूर्व, स्मृति और अनुभव दूसरों से पृथक् है, इसलिये अनेक आत्माएं माननी चाहिए।

प्रभाकर के मत में आत्मा जड़ है जिसमें ज्ञान, सुख, दुःख आदि गुण उत्पन्न होते रहते हैं। आत्मा का प्रत्यक्ष कभी नहीं होता। आत्मा स्वयंप्रकाश नहीं है, अन्यथा सुषुप्ति में भी आत्मानुभूति बनी रहे। स्वप्रकाश संवित् (ज्ञान) विषय और आत्मा दोनों को प्रकाशित करती है। आत्मा हमेशा ज्ञान के गृहीता के रूप में प्रकट होता है ग्राह्य विषय या ज्ञेय के रूप में कभी नहीं। आत्मा न वाह्य प्रत्यक्ष का विषय है न मानस प्रत्यक्ष का। अचेतन होने पर भी आत्मा कर्त्ता और भोक्ता है; वह शरीर से भिन्न और व्यापक है। व्यापक होने पर भी आत्मा दूसरे शरीर

---

[1] शास्त्र दीपिका पृ० ११६—१२४

के व्यापारों को नहीं जान सकता; जो शरीर उसके अपने कर्मों ने उत्पन्न किया है उसी को वह जान सकता है।

पार्थ सारथि मिश्र का कथन है कि आत्मा को ग्राह्य और गृहीता, ज्ञेय और ज्ञाता मानने में कोई दोष नहीं है। प्रभाकर के यह कहने का कि संवित् आत्मा को प्रकाशित करती है, यही अर्थ हो सकता है कि आत्मा संवित् का ज्ञेय या विषय हो जाता है। स्मृति-ज्ञान में आत्मा को अपनी प्रत्यभिज्ञा पहचान होती है। इस प्रत्यभिज्ञा का विषय यदि आत्मा को न माना जाय तो प्रत्यभिज्ञा निर्विषयक हो जाय। परंतु कोई ज्ञान निर्विषयक नहीं हो सकता। आत्मानुभूति का विषय आत्मा होता है; आत्मा का मानस-प्रत्यक्ष संभव है।

कुमारिल के मत में प्रत्येक ज्ञान-व्यापार में आत्मा की अभिव्यक्ति नहीं होती, जैसा कि प्रभाकर के अनुयायी समझते हैं। विषय की अनुभूति के साथ कभी आत्मानुभूति होती है, कभी नहीं। चेतन के जीवन में आत्मानुभूति विषयानुभूति से ऊँचे दर्जे की चीज़ है। आत्म-प्रत्यक्ष और विषय-प्रत्यक्ष एक ही बात नहीं है। प्रभाकर आत्मा और संवित् को अलग-अलग मानता है; उसके मत में आत्मा जड़ है और संवित् प्रकाशरूप। भट्ट मतवालों को यह सिद्धांत मान्य नहीं है। ज्ञान आत्मा का ही परिणाम, पर्याय है। यदि आत्मा अचेतन है तो उसका परिणाम स्वप्रकाश नहीं हो सकता। परंतु कुमारिल ने भी आत्मा में एक 'अचिदंश' या जड़ भाग माना है जो आत्म-प्रत्यक्ष का विषय होता है। वास्तव में यह मत ठीक नहीं; आत्मा ज्ञान का विषय होता है इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा में एक 'जड़' अंश भी मानना चाहिए। फिर भी यह मानना ही पड़ेगा कि न्याय-वैशेषिक और प्रभाकर की अपेक्षा कुमारिल की आत्मा विषयक धारणा अधिक उन्नत है। वह वेदांत के अधिक समीप भी है।

पूर्व मीमांसा में बहुत से देवताओं की कल्पना की गई है जिनके लिये

ईश्वर[1] यज्ञ किये जाते हैं। मीमांसकों ने इस से आगे जाने की आवश्यकता नहीं समझी। धर्म के संचय के लिये ईश्वर की ज़रूरत नहीं है। जैमिनि ने कहीं ईश्वर की सत्ता से स्पष्ट इनकार नहीं किया है उन्होंने ईश्वर-पदार्थ की उपेक्षा की है। वेदों में जहां ईश्वर की स्तुति की गई है वह वास्तव में यज्ञों के अनुष्ठाता की प्रशंसा है। यज्ञ-कर्त्ताओं को तरह-तरह के ऐश्वर्य प्राप्त होते हैं। मीमांसक सृष्टि और प्रलय नहीं मानते। काल की किसी विशेष लम्बाई बीत जाने पर प्रलय और फिर सृष्टि होती है, इस सिद्धांत को मीमांसकों ने साहसपूर्वक ठुकरा दिया।[2] और सब आस्तिकदर्शन सृष्टि और प्रलय मानते हैं। जब सृष्टि का आदि ही नहीं है तो सृष्टिकर्त्ता की कल्पना भी अनावश्यक है। कुमारिल का निश्चित मत है कि बिना उद्देश्य के प्रवृत्ति नही हो सकती। जगत् को बनाने में ईश्वर का क्या प्रयोजन हो सकता है? उद्देश्य और प्रयोजन अपूर्णता के चिन्ह हैं; उद्देश्यवाला ईश्वर अपूर्ण हो जायगा। धर्म और अधर्म के नियमन के लिये भी ईश्वर आवश्यक नहीं है। यज्ञकर्त्ता को फल प्राप्ति 'अपूर्व' कराता है। शरीर न होना भी ईश्वर के कर्त्तव्य में बाधक है। संसार की दुःखमयता भी ईश्वर के विरुद्ध साक्षी देती है।

बाद के मीमांसकों में ईश्वर-विश्वास प्रकट होने लगता है। शायद अन्य दर्शनों के प्रभाव से मीमांसा के अनुयायियों में आस्तिकता (ईश्वर-विश्वास) का उदय हुआ। साथ ही देवताओं की अलग सत्ता में विश्वास घटने लगा। देवताओं की महिमा कम हो गई; देवताओं का महत्त्वपूर्ण स्थान मंत्रों ने ले लिया। भगवद्गीता का प्रभाव भी कम नहीं पड़ा। आपदेव और लौगाक्षिभास्कर लिखते हैं कि यदि यज्ञादि कर्म भगवान्

---

[1] कीथ, वही, अध्याय ४।

[2] वही, पृ० ६०।

के लिये किये जायँ तो अधिक फल मिलता है। यज्ञ कर्म ईश्वर (गोविंद) के लिए करने चाहिए। वेंकटेश ने 'सेश्वर मीमांसा' नामक ग्रंथ लिखा। इस प्रकार सेश्वर सांख्य की तरह सेश्वर मीमांसा का भी संप्रदाय बन गया।

व्यवहार-दर्शन

मीमांसा-शास्त्र का स्वरूप आरंभ में व्यावहारिक था; दार्शनिक समस्याओं का प्रवेश उसके बाद को हुआ। मोक्ष का आदर्श भी जैमिनि और शबर के सामने उपस्थित न था। आरंभिक मीमांसक धर्म, अर्थ और काम को 'त्रिवर्ग' कहते थे, उन्हें मोक्ष में दिलचस्पी न थी। 'अर्थ' और 'काम' की प्राप्ति मनुष्य के व्यावहारिक ज्ञान और कुशलता पर निर्भर है, परंतु 'धर्म' को जानने के लिये वेदों के अतिरिक्त दूसरा आधार नहीं है। धर्म किसे कहते हैं, इसके उत्तर में जैमिनि का सूत्र है :—

चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः ।१।१।२

धर्मपदार्थ का लक्षण चोदना अर्थात् प्रेरणा है। श्रुति के वाक्य जो कुछ करने का आदेश देते हैं वहीं 'धर्म' है। कुछ करने का आदेश करने वाले वाक्यों को 'विधि वाक्य' या केवल 'विधि' कहते हैं। जो वाक्य कुछ न करने का उपदेश देते हैं वे 'निषेध वाक्य' कहलाते हैं। 'स्वर्ग का इच्छुक यज्ञ करे' यह विधि; 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए' यह निषेध-वाक्य है। अनुष्ठान-विशेषों की स्तुति करनेवाले वाक्यों को 'अर्थ-वाद' कहते हैं। अनुष्ठान न करने और करने से क्या हानि-लाभ होगा इसे (ऐतिहासिक उदाहरणों सहित) बतलाने वाले वाक्य 'अर्थवाद' हैं। कभी-कभी अर्थवाद-वाक्य लोक विख्यात बातें भी कह देते हैं जैसे, अग्नि जाड़े की दवा है (अग्निर्हिमस्य भेषजम्)। कहीं कहीं वस्तुओं में लोक-विरुद्ध गुणों का आरोपण भी अर्थवाद कहता है जैसे, आदित्यो

यूपः, खंभा सूर्य है।[१] मीमांसकों का निश्चित मत है कि वेदों (मंत्र और ब्राह्मण भाग) का तात्पर्य क्रिया में है।

आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम् ।१।२।१

अर्थात् वेद क्रियार्थक हैं; जो क्रियार्थक नहीं वह निरर्थक है। शास्त्र का लक्षण ही यह है कि वह प्रवृत्ति या निवृत्ति का उपदेश करे। वेदों का अभिप्राय मनुष्यों को उनके कर्त्तव्यों की शिक्षा देना या धर्मोपदेश है। इसलिए श्रुति से यह आशा नहीं रखनी चाहिए कि वह आत्मा और परमात्मा का स्वरूप समझाये। आत्मा क्या है? इसका उत्तर देना श्रुति का काम नहीं है; आत्मा को लेकर क्या करना चाहिए, यह श्रुति का विषय हो सकता है। इसीलिए लिखा है—आत्मा व अरे श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः, अर्थात् आत्मा के विषय में सुनना चाहिए, उसी का मनन और उपासना करनी चाहिए। वेदान्त का मत है कि श्रुति आत्म-स्वरूप का बोध कराती है। मीमांसकों की संमति में यह वेदांतियों का भ्रम है। वेदांत का विचार है कि श्रुति अंत में कर्म-त्याग का उपदेश देती है; मीमांसकों के अनुसार श्रुति का तात्पर्य प्रवृत्ति के रास्ते बतलाना है।

धर्म के ठीक स्वरूप के विषय में प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है।[२] कुमारिल के अनुसार धर्म और अधर्म क्रियाओं के नाम हैं। याज्ञिक अनुष्ठान धर्म हैं और हिंसादि कर्म अधर्म। प्रभाकर के मत में धर्म और अधर्म क्रियाओं के फल को कहना चाहिए। कुमारिल का मत न्याय-वैशेषिक के अनुकूल है। प्रभाकर के धर्म-अधर्म दूसरे दर्शनों के पुण्य-पाप के समानार्थक हैं। धर्म और अधर्म दोनों को मिलाकर प्रभाकर 'अपूर्व' कहता है। अपूर्व का ज्ञान श्रुति के अतिरिक्त कहीं से नहीं हो सकता, वह 'मानान्तरापूर्व' है। धर्म और अधर्म आत्मा में ही समवाय-

१ कीथ, वही, पृ० ८०

२ हिरियन्ना, पृ० ३२७–२८

संबंध द्वारा रहते हैं।

कुमारिल के अनुसार अपूर्व एक प्रकार की शक्ति है जो यज्ञादि अनुष्ठान करनेवाले में उत्पन्न हो जाती है। अपूर्व का अस्तित्व अर्थापत्ति प्रमाण से सिद्ध होता है। किये हुये कर्मों का फल अवश्य मिलना चाहिए, पर हम देखते हैं कि यज्ञादि कर्म तुरंत फल दिये बिना समाप्त हो जाते हैं। इन दोनों ज्ञानों का विरोध मिटाने के लिए 'अपूर्व' की कल्पना आवश्यक है। कोई भी यज्ञ कर्म अपने कर्त्ता में एक शक्ति उत्पन्न कर देता है जो कालान्तर में उसे फल देती है।

वैदिक विधि का श्रवण करके मनुष्य उसके अनुष्ठान में क्यों प्रवृत्त हो जाता है? याज्ञिक विधानों में प्रवृत्ति का कारण क्या होता है? यहां भी प्रभाकर और कुमारिल में मतभेद है। पहले हम कुमारिल का मत सुनाते हैं।

कुमारिल का एक 'मॉटो' है जिसका उसने ईश्वर के विरुद्ध भी प्रयोग किया है, वह यह है कि :—

प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्त्तते

प्रयोजन के बिना मंदबुद्धि भी किसी काम में नहीं लग जाता। इसका आशय यही है कि प्रत्येक कार्यउद्देश्य को लेकर किया जाता है। प्रवृत्ति का मूल कारण सुख-प्राप्ति और दुःख-निवृत्ति की चाह है। प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, आनंद की कामना करता है और दुःख से बचना चाहता है। स्वर्ग की इच्छा सुख की अभिलाषा है और नरक से बचने की इच्छा दुःख-निवृत्ति की कामना है। लोग वैदिक विधियों का पालन भी सुख-प्राप्ति के लिये करते हैं। वैदिकविधि-वाक्य अनुष्ठानों के आदेश के साथ ही उनसे मिलने वाले फल का भी जिक्र कर देते हैं, इसीलिए लोग उनकी ओर आकर्षित होते हैं। 'इस अनुष्ठान से हमें लाभ होगा' यह 'इष्ट-साधनता-ज्ञान' ही कर्म-प्रवृत्ति का कारण है।

प्रभाकर का मत इससे भिन्न है। मनुष्य इतना स्वार्थी नहीं है, जितना कि कुमारिल के अनुयायी उसे बताते हैं। वैदिक आदेशों का पालन लोग इसलिए करते हैं कि वे वैदिक आदेश हैं। वेद मुझे ऐसा करने को कहते हैं, इसलिए यह मेरा कर्तव्य है, यह ज्ञान ही कर्म करने को प्रेरणा करता है। कर्म-प्रवृत्ति का हेतु या कारण 'कार्यता-ज्ञान' या कर्तव्यताबोध' है न कि 'इष्ट-साधनता-ज्ञान'। अनुष्ठान की कर्तव्यता का निश्चय ही उसे करने की उत्तेजना देता है अपने आदेशों का पालन कराने के लिए वेद इतने निःसहाय नहीं हैं, उन्हें 'सुखेच्छा' आदि बाह्य सहायक अपेक्षित नहीं हैं। वेद-वाक्य के लिए आदर ही वैदिक यज्ञ-विधानों को अनुष्ठित कराता है।[1] यह मत जर्मन दार्शनिक 'कॉण्ट' के सिद्धांत से समानता रखता है। कॉण्ट का कैटेगॉरिकल इम्परेटिव प्रभाका 'विधिवाक्य' है। भेद इतना ही है कि कांट का 'आदेशवाक्य' अंतरात्मा की आवाज़ है न कि प्रभाकर के वेदों की; इसलिए कॉण्ट का सिद्धांत ज़्यादा सार्वभौम है।

प्रभाकर के अनुसार अनुष्ठान की पूर्ण प्रक्रिया इस प्रकार है। वैदिक आदेश की उपस्थिति में पहले कार्यता-ज्ञान उत्पन्न होता है; फिर चिकीर्षा या करने की इच्छा का प्रादुर्भाव होता है। चिकीर्षा के साथ ही 'यह अनुष्ठान साध्य या संभव है' यह—कृति-साध्यता-ज्ञान या—भावना भी रहती है; उसके बाद प्रवृत्ति या संकल्प होता है, फिर चेष्टा और अंत में क्रिया। 'इस विधान से मुझे लाभ होगा' इस—इष्ट-साधनता-ज्ञान, का गौण स्थान है। मुख्य प्रेरक कार्यता-ज्ञान है। परंतु हर-एक विधि हर एक व्यक्ति को अपने पालन में नहीं लगा लेती, इसका क्या कारण है? क्या वजह है कि कुछ लोग पुत्रेष्टि यज्ञ करने लगते हैं और कुछ अग्निष्टोम का अनुष्ठान? उत्तर यह है कि वैदिक विधियां बीजों के समान हैं जो अंकुरित होने के लिये उपयुक्त भूमि ढूँढ़ती हैं। यही कारण है कि सब

१—हिरियन्ना, पृ० ३२६

विधि-वाक्य सब को आकर्षित नहीं करते। विभिन्न विधि-वाक्यों के नियोज्य अलग-अलग व्यक्ति या व्यक्ति-समूह होते हैं। इस प्रकार भी प्रभाकर की 'विधि' कॉण्ट के कैटेगारिकल इंपरेटिव से कम सार्वभौम है। कॉण्ट का नैतिक आदेश सब मनुष्यों को सदा और सर्वत्र लागू होता है।

कर्म-विभाग

मनुष्य के सारे कर्मों को मीमांसा ने तीन श्रेणियों में बाँटा है, काम्य निषिद्ध और नित्य। जो कर्म किसी इच्छा की पूर्त्ति के लिये किसी मनोकामना की सिद्धि के लिये, किये जाते हैं वे 'काम्य कर्म' हैं। पुत्र या ऐश्वर्य या स्वर्ग की प्राप्ति के अर्थ जो यज्ञानुष्ठान किया जाय वह काम्यकर्म कहलायगा। जिन कार्मों के करने से वेद रोकता है वे निषिद्ध या प्रतिषिद्ध कर्म कहलाते हैं। नित्य कर्म वे हैं जिनका करना प्रत्येक व्यक्ति को आवश्यक ही है, चाहे उसमें कोई कामना या अभिलाषा हो या नहीं। नित्य कर्म मीमांसा के 'सार्वभौम महाव्रत' हैं। दो काल संध्या करना, वर्णाश्रम धर्म आदि नित्य कर्मों में सम्मिलित हैं। नित्य कर्मों का फल क्या मिलता है? भाट्ट (कुमारिल के) मत में नित्य कर्म भी फलाभिलाषा के साथ किये जाते हैं। नित्य-कर्मों से अतीत और आगामि दोष नष्ट होते हैं। इस प्रकार दुरित-क्षय और प्रत्यवायों (विघ्नों या भावी पापों) से बचाव यह दो फल नित्य कर्मों के हैं। नित्य कर्म न करने से मनुष्य दोषों में फँसता है। नित्यकर्मों का कोई भावात्मक फल नहीं होता, फिर भी वे निरुद्देश्य नहीं हैं। प्रभाकर और कुमारिल दोनों के मत में काम्य कर्मों की तरह विशिष्ट फल देने-वाले न होने पर भी नित्य-कर्म सदैव कर्तव्य हैं। प्रभाकर के अनुसार नित्य-कर्म काम्य कर्मों से श्रेष्ठ हैं। 'कर्तव्य कर्तव्य के लिये' की शिक्षा प्रभाकर में वर्त्तमान है। भाट्ट मत में नित्य-कर्मों की इतनी प्रतिष्ठा नहीं है; नित्य-कर्म श्रेय-साधन में सहायक-मात्र हैं।

भारतवर्ष के सब दर्शनों का सिद्धांत है कि कर्म-फल से छुटकारा पाए

मोक्ष

बिना मुक्ति नहीं हो सकती। मीमांसा भी इस सिद्धांत को मानती है। श्री सुरेश्वराचार्य ने मीमांसा की मोक्ष-प्रक्रिया को संक्षेप में इस प्रकार कहा है :—

अकुर्वतः क्रियाः काम्या निषिद्धास्त्यजतस्तथा।
नित्य नैमित्तिकं कर्म विधिवच्चानुतिष्ठतः॥
काम्य कर्म फलं तस्माद्देवादीमं न ढौकते।
निषिद्धस्य निरस्तत्वान्नारकीं नैत्यधोगतिम्।
(नैष्कर्म्य सिद्धि, १।१०,११)

अर्थात् काम्य और निषिद्ध कर्मों का त्याग कर देने से और नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान करते रहने से मुक्ति लाभ होता है। काम्य कर्मों का फल स्वर्ग-प्राप्ति आदि हैं, जिससे मोक्षार्थी को बचना चाहिए। निषिद्ध कर्मों से अधोगति मिलती है, इसलिये उन्हें भी छोड़ देना चाहिए। नित्य-नैमित्तिक कर्मों का कोई ख़ास फल नहीं है, उनसे सिर्फ़ दोष दूर रहते हैं, इसलिए उन्हें करते रहना चाहिए। इस प्रकार जीवित रहकर प्रारब्ध कर्मों का भोग से क्षय कर देने से मोक्ष-लाभ होता है। मुक्ति के लिये ज्ञान की आवश्यकता नहीं है। मुक्ति के क्षण तक भी नित्य कर्मों को नहीं त्यागना चाहिए। कर्मणा बध्यते जन्तुः—कर्म से प्राणी बँधता है—यह नियम नित्य कर्मों को लागू नहीं है। इसलिए मीमांसक संन्यास-मार्ग का समर्थन नहीं करते। ज्ञान-निरपेक्ष कर्म से भी मुक्ति मिल सकती है। यही नहीं, नित्य कर्मों का त्यागना हर दशा में दोषों में फँसानेवाला है, यह मीमांसा का निश्चित विश्वास है।

मुक्ति का स्वरूप क्या है? जब आत्मा, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म आदि विनश्वर (आगमापायी, आने-जानेवाले, अनित्य) धर्मों से छूट जाता है, तब उसे मुक्त कहते हैं। मुक्त दशा में जीव में ज्ञानशक्ति, सत्ता, द्रव्यत्वादि अपने स्वाभाविक धर्म ही रहते हैं।

मुक्तावस्था में सुख, दुःख दोनों नहीं होते। आनंद आत्मा का स्वरूप नहीं है, इसलिए मुक्तावस्था भावात्मक आनंद की अवस्था नहीं है। आत्मा ज्ञान-स्वरूप भी नहीं है। ज्ञान बिना मन के नहीं हो सकता और मुक्तावस्था में मन का विलय हो जाता है। इसलिए मुक्ति में आत्म-ज्ञान रहता है, यह कहना ठीक नहीं। मोक्षावस्था में आत्मा में ज्ञानशक्ति रहती है, न कि ज्ञान। यदि मोक्ष में आनंद नहीं होता तो मोक्ष पुरुषार्थ कैसे हैं? उत्तर यह है कि दुःख का अत्यंत नाश करना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है; यही मोक्ष है।

मीमांसा-दर्शन की रूप रेखा पूरी करने के लिए उसके दो सिद्धांतों का वर्णन करना और ज़रूरी है। इनमें से एक तो वाक्य और पदों के अर्थ के संबंध के विषय में है और दूसरा भ्रम की व्याख्या से संबद्ध है। दोनों ही समस्याओं पर प्रभाकर और कुमारिल के अलग-अलग विचार हैं।

अन्वितामिधान और अभिहितान्वय

संस्कृत-व्याकरण के अनुसार जब किसी शब्द में प्रत्यय-विशेष लग जाता है तब उसे 'पद' कहते हैं। 'राम' और 'भू' शब्द हैं, सार्थक ध्वनियां हैं; इन्हें पद बनाने के लिये इन में 'सुप्' और 'तिङ्' कहलाने वाले प्रत्यय जोड़ने चाहिए। 'रामः' और 'भवति' पद हैं। वाक्य पदों का बना हुआ होता है। पद-समूह को वाक्य कहते हैं और शक्त को पद। (न्याय) प्रभाकर का मत है कि शब्दों या पदों का अर्थ वाक्य से अलग नहीं जाना जा सकता। विधि बताने वाले वाक्य में ही पदों का अर्थ होता है। यदि पद इस प्रकार वाक्य और विधि से संबद्ध न हो तो उनके अर्थ की स्मृति तो होगी परंतु किसी प्रकार की प्रमा (यथार्थ-ज्ञान) उत्पन्न नहीं होगी। इस सिद्धांत को 'अन्विताभिधान' कहते हैं। वाक्य में अन्वित हो जाने पर ही शब्दों का अर्थ होता है। अर्थ का मतलब 'प्रयोजन' है।[1]

1—दे० प्रभाकार स्कूल, पृ० ११७ और पृ० ६२-६३

कुमारिल के मत में वाक्यार्थ का बोध शब्दों के अर्थ-बोध पर निर्भर है। सार्थक शब्दों के मिलने से वाक्य बनता है। प्रत्येक शब्द का स्वतंत्र अर्थ होता है और शब्दों के मेल से वाक्य बनता है। इस सिद्धांत को 'अभिहितान्वय' कहते हैं। वाक्य में अन्वय होने से पहले ही शब्दों का अर्थ होता है।

प्रभाकर का मत आइडियेलिस्टिक लॉजिक के इस सिद्धांत के अनुकूल है कि भाषा की इकाई वाक्य है न कि शब्द। जहाँ एक शब्द का बोध होता प्रतीत होता है, वहाँ भी वास्तव में शब्द के पीछे वाक्य छिपा होता है। 'अरे' 'हाय' आदि शब्द एक-एक होते हुये भी पूरे वाक्यों का काम करते हैं। 'अरे' का अर्थ है, 'मैं आश्चर्य या शोक प्रकट करता हूं।' बच्चा जब 'पानी' कहता है तो उसका मतलब होता है, 'देखो पानी है' या 'वह पानी पी रहा है' अथवा 'मैं पानी पीना चाहता हूं' इत्यादि। अकेले शब्दों की अर्थ-प्रतीति भाषा-ज्ञान के विकास में बाद की चीज़ है।

व्याकरण और मीमांसा दोनों के दार्शनिक मतानुसार वाक्य में क्रिया का मुख्य स्थान है (आख्यात प्रधानं वाक्यम्)। क्रिया के साथ अन्वय होने पर ही अन्य पदों का अर्थ हो सकता है। यह सिद्धांत प्रभाकर के अधिक अनुकूल है। नैयायिकों के मत में क्रिया की ऐसी प्रधानता नहीं है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'काञ्च्यां त्रिभुवनतिलको भूपतिः' यह भी वाक्य हो जाता है, यद्यपि इसमें क्रिया नहीं है। 'काञ्ची में तीनों लोकों का तिलक राजा' वास्तव में इस संस्कृत-वाक्य में अस्ति-क्रिया छिपी हुई है। इसी प्रकार 'त्रयः कालाः' (तीन काल), इस वाक्य को भी क्रिया-शून्य नहीं कहा जा सकता। मीमांसकों के मत में क्रिया-बोधक विधि-वाक्य ही प्रमाण है; सिद्ध अर्थ (अस्तित्ववान् पदार्थ को) बताने वाला वाक्य केवल अर्थवाद है; वह अकेला प्रमाण नहीं हो सकता। विधि-वाक्य से अलग हो जाने पर अर्थवाद का कोई महत्त्व नहीं रहता है।

भ्रम की समस्या पर प्रभाकर और कुमारिल के अलग-अलग विचार हैं। प्रभाकर का सिद्धांत 'अख्याति' कहलाता है और कुमारिल का 'विपरीत-ख्याति'। दोनों में 'अख्याति' अधिक प्रसिद्ध है; पहले हम उसी का वर्णन करेंगे।

मिथ्या ज्ञान या भ्रम की व्याख्या; अख्याति[1]

हम देख चुके हैं कि मीमांसक स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। यदि हर एक ज्ञान अपने साथ अपना प्रामाण्य लाता है तो शुक्ति में रजत का ज्ञान भी प्रमाण होना चाहिए; फिर यह ज्ञान झूठा क्यों कहा जाता है? यह मीमांसा की समस्या है। प्रभाकर का उत्तर है कि ज्ञान को मिथ्या या अप्रमाण बनाने का उत्तरदायित्व 'स्मृति' पर है। हम देख चुके हैं कि स्मृति प्रमाण नहीं है। जब इंद्रिय-प्रत्यक्ष के साथ स्मृति का अंश मिल जाता है तब मिथ्या-ज्ञान की सृष्टि होती है। शुक्ति-रजत के उदाहरण में इदमंश का ('यह' का) प्रत्यक्ष ग्रहण होता है और रजत-अंश का स्मरण। शुक्ति में कुछ गुण रजत के समान हैं, इसलिये शुक्ति को देखकर रजत का स्मरण होता है। यहां तक ज्ञान में कोई दोष नहीं है। ज्ञान में दोष तब आता है जब द्रष्टा प्रत्यक्ष-ज्ञान और स्मृति-ज्ञान के भेद को भूल जाता है। इंद्रियादि के दोष से प्रत्यक्ष-ज्ञान और स्मृति-ज्ञान के भेद का ग्रहण न होना ही भ्रम है। रजत-ज्ञान वास्तव में पहले का होता है, परंतु उसकी यह विशेषता—कि रजत-ग्रहण पहले हुआ है, रजत का गृहीतता अंश—बुद्धि से उतर जाती है और भ्रम होता है। इसे संस्कृत में स्मृति-प्रमोष कहते हैं। भ्रांति-ज्ञान में हम यह भूल जाते हैं कि 'दो' ज्ञान हैं; उन दोनों ज्ञानों के अलग-अलग विषय (शुक्ति और रजत) भी प्रतीत

१—दे० रेण्डिल, इंडियन लाजिक, पृ० ६८-६६ तथा भामती, पृ० १४ (वेदांत शांकर भाष्य)

नहीं होते। भ्रम-ज्ञान वास्तव में एक ज्ञान नहीं होता बल्कि दो ज्ञानों का समूह होता है, जिनमें सिर्फ़ एक का स्वतः प्रामाण्य है। स्मृति-ज्ञान स्वतः प्रमाण नहीं है। इस प्रकार प्रभाकर ने अपने मूल-सिद्धांत की रक्षा-पूर्वक भ्रम की व्याख्या करने की कोशिश की है।

आलोचना

परंतु आलोचकों को प्रभाकर की व्याख्या में भी दोष दिखाई दिये हैं। वे कहते हैं भ्रम के उक्त उदाहरण में एक बात है, जिसे अख्यातिवादी नहीं समझा सकते। वह बात यह है कि भ्रांत व्यक्ति की रजत को उठा लेने की प्रवृत्ति होती है। प्रवृत्ति भावात्मक ज्ञान का फल है न कि ज्ञानाभाव का। रजत और शुक्ति के भेद का अग्रहण (एक प्रकार का ज्ञानाभाव) भ्रांत पुरुष को रजत में प्रवृत्त नहीं कर सकता। भेद का अग्रहण व्यवहार का हेतु नहीं हो सकता। रजत की उपस्थिति का भावात्मक ज्ञान ही हाथ बढ़ाने की क्रिया का कारण हो सकता है। इसलिये पहले इदंपदार्थ (शुक्ति) में रजत का आरोपण होता है, फिर उसमें प्रवृत्ति; यही मत ठीक है।[1]

विपरीतख्याति

कुमारिल कृत भ्रम की व्याख्या विपरीत-ख्याति कहलाती है। श्री पार्थसारथि मिश्र शास्त्रदीपिका (पृ० ५८-५९) में लिखते हैं कि प्रभाकर की अख्याति दो चंद्र दीखने की व्याख्या नहीं कर सकती। द्रष्टा जानता है कि चंद्रमा एक है, फिर भी आंख को उँगली से पीड़ित करने पर दो चंद्र दिखाई देते हैं। यहां 'द्वित्व' का ज्ञान कैसा होता है? दो चंद्रों का स्मरण नहीं है, ग्रहण भी नहीं होता क्योंकि दो चंद्रों का संनिकर्ष नहीं है। फिर द्वित्व (दो-पन) का भ्रम क्यों होता है? लेखक का अपना उत्तर यह है कि नेत्रों को दो देशों या स्थानों तथा चंद्रमा इन तीनों का संनिकर्ष प्राप्त है। भ्रम इस-

---

१—चेतनव्यवहारस्याज्ञान पूर्वकत्वानुपपत्तेः, आरोपज्ञानोत्पाद क्रमेणैवेति। भामती, पृ० १५

लिये होता है कि देशगत द्वित्व का दोपवश चंद्रमा में आरोप हो जाता है। इसी प्रकार शुक्ति में पूर्वानुभूत रजत के गुणों का आरोपण कर दिया जाता है और शुक्ति रजताकार दीखने लगती है। भ्रम का कारण शुक्ति और रजत के भेद का अग्रहण नहीं बल्कि शुक्ति का रजतरूप में ग्रहण है। भ्रांत ज्ञान में दर्शक स्वयं कुछ करता है, एक के गुणों को दूसरे में आरोपित करता है। यह आरोपण 'दोपवश' होता है।

कुमारिल का मत वेदांत के अध्यास-वाद के अधिक समीप है, परंतु वह मीमांसा के मौलिक सिद्धांतों के अनुकूल नहीं है। विपरीतख्याति स्वतः-प्रामाण्यवाद को ठेस पहुँचाती है। प्रभाकर का मत वर्त्तमान रिअलिज्म के ज्यादा अनुकूल है। वस्तुतः प्रभाकर के अनुसार भ्रांत-ज्ञान अधूरा ज्ञान है, अज्ञान नहीं। परंतु कुमारिल के मत में 'अज्ञान' वास्तविक है। अज्ञान की भी एक प्रकार की सत्ता है, यही मत वेदांत का भी है।

पाँचवाँ अध्याय

वेदांतसूत्र, योगवाशिष्ठ और गौड़पाद

वेदांत के प्रमुख आचार्यों के सिद्धांतों का वर्णन करने से पहले हम वेदांत-सूत्रों का कुछ परिचय देना आवश्यक समझते हैं। अन्य दर्शनों के प्राचीन सूत्रों की भाँति वेदांत-सूत्रों का समय भी ठीक-ठीक नहीं बतलाया जा सकता। पश्चिमी विद्वानों के अनुरोध से प्रो० हिरियन्ना सूत्रों का रचना-काल ४०० ई० समझते हैं। वेदांत-सूत्र वादरायण की कृति बतलाये जाते हैं। कुल ग्रंथ में चार अध्याय हैं और प्रत्येक अध्याय में चार पाद; प्रत्येक पाद अधिकरणों में विभक्त है। एक अधिकरण में एक विशेष प्रश्न या समस्या पर विचार किया जाता है। वेदांत-सूत्रों का उद्देश्य स्पष्ट है। उपनिषदों की शिक्षा के विषय में प्राचीन काल से मतभेद चला आता था, कुछ विद्वान् उन्हें द्वैत परक समझते थे, कुछ अद्वैत-परक। कुछ आलोचकों का यह भी कहना था कि सब उपनिषद् एक-सी शिक्षा नहीं देते, उपनिषदों में आन्तरिक मतभेद हैं और उनकी शिक्षा में संगति या सामञ्जस्य भी नहीं है। उपनिषदों में परस्पर विरोधी कथन पाये जाते हैं। इन आक्षेपों का उत्तर देने के लिये और सब उपनिषदों की एक संगत और सामञ्जस व्याख्या करने के लिये ही वेदांत-सूत्रों की रचना की गई। वादरायण का अनुरोध है कि सारे उपनिषद् एक ही दार्शनिक मत का प्रतिपादन करते हैं। उपनिषदों की विभिन्न उक्तियों में जो विरोध दीखता है वह वास्तविक नहीं है, वह उपनिषदों को ठीक न समझ सकने का परिणाम है। वादरायण से पहले भी ऐसे प्रयत्न किये जा चुके थे, यह वेदांत सूत्रों से ही प्रतीत होता है। वादरायण ने काशकृत्स्न, कार्ष्णाजिनि,

आश्मरथ्य, जैमिनि, बादरि आदि अनेक विचारकों के मत का जगह-जगह उल्लेख किया है। परंतु इसमें संदेह नहीं कि बादरायण के सूत्र अन्य सब समान प्रयत्नों से श्रेष्ठ थे और श्रेष्ठ माने गए, इसी कारण उनकी रक्षा हो सकी।

इस प्रकार पाठक समझ सकते हैं कि बादरायण के सूत्र मीमांसा-सूत्रों के समान तथा अन्य दर्शनों के सूत्रों से भिन्न हैं। जैमिनि और बादरायण श्रुति के व्याख्याता-मात्र हैं; वे मौलिक विचारक होने का दावा नहीं करते। न्याय, वैशेषिक, योग और सांख्य का अपना मत है जिसकी पुष्टि वे श्रुति से कुछ प्रमाण देकर कर लेते हैं। इन दर्शनों के आचार्य यह दिखला कर संतुष्ट हो जाते हैं कि उनका मत श्रुति का विरोधी नहीं है। परंतु दोनों मीमांसाओं का श्रुति से ज्यादा घनिष्ठ संबंध है, श्रुति का मत ही उनका मत है और श्रुति की संगत व्याख्या कर देना ही उनका कार्य है। पूर्व-मीमांसा वेद के उस भाग की व्याख्या करती है जिसे 'कर्म-काण्ड' कहते हैं; 'ज्ञान-काण्ड' की व्याख्या उत्तर-मीमांसा का काम है। इस प्रकार दोनों मीमांसाओं को एक दूसरे का पूरक कहा जा सकता है। श्री उपवर्ष ने दोनों पर वृत्ति लिखी, ऐसा कहा जाता है। फिर भी दोनों मीमांसाओं में कुछ विरोध था जो उनके अनुयायियों के हाथों में और भी बढ़ गया। इस समय मीमांसा से मतलब पूर्व मीमांसा का समझा जाता हैं और उत्तर मीमांसा का नाम वेदांत पड़ गया है। दोनों के वर्त्तमान दार्शनिक सिद्धांतों में विशेष समता नहीं है।

वेदांत-सूत्रों के रचयिता बादरायण ने उपनिषदों को किस प्रकार समझा था अथवा उन का दार्शनिक मत क्या था, यह विवादास्पद है। काल-क्रम से उपनिषदों की तरह वेदांत-सूत्र भी अनेक व्याख्याओं के शिकार बन गए। भारतीय दर्शन में वेदांत का अर्थ 'उपनिषद्, वेदांत-सूत्र और भगवद्गीता द्वारा प्रतिपादित सिद्धांत' समझा जाता है। इन तीनों को

मिलाकर 'प्रस्थानत्रयी', कहते हैं। विभिन्न आचार्यों ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे हैं और उसकी विभिन्न व्याख्याएं की हैं। यह सब व्याख्याएं 'वेदांत' कहलाती है, यद्यपि उनमें गम्भीर मतभेद हैं। मानवी बुद्धि सब प्रकार के बंधनों का तिरस्कार करके अपनी स्वतंत्रता की किस प्रकार रक्षा करती है, यह वेदांत के विभिन्न स्कूलों या संप्रदायों को देख कर स्पष्ट हो जाता है। प्रत्येक आचार्य ने सूत्रों, उपनिषदों और गीता का अर्थ अपने-अपने दार्शनिक सिद्धांत के अनुकूल कर डाला है। इस प्रकार वेदांत के अंतर्गत ही द्वैतवाद, अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत आदि संप्रदाय पाए जाते हैं। परंतु व्यवहार में 'वेदांत' शब्द का प्रयोग शांकर-वेदांत या अद्वैत-वेदांत के लिए होता है। वेदांत-सूत्रों की तरह शंकराचार्य के ब्रह्म-सूत्र-भाष्य की भी अनेक व्याख्याएं हो गईं और अद्वैत-वेदांत के अंतर्गत ही कई संप्रदाय चल पड़े। इस वर्णन से भारतीय मस्तिष्क की उर्वरा-शक्ति का कुछ अनुमान हो सकता है। दार्शनिक मतों की विविधता भारतीयों के दर्शन-प्रेम और दार्शनिक अभिरुचि की द्योतक है।

वेदांत-सूत्र या ब्रह्मसूत्र पर श्री शंकराचार्य का 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य' और श्री रामानुजाचार्य का 'श्रीभाष्य', सब से प्रसिद्ध हैं। इन के अतिरिक्त श्री वल्लभाचार्य, श्री निम्बार्काचार्य, श्री मध्वाचार्य के भाष्य भी महत्त्वपूर्ण हैं। भास्कर, यादव प्रकाश, केशव, नीलकण्ठ बलदेव, विज्ञान-भिक्षु आदि ने भी सूत्रों पर टीकाएं कीं जो प्रसिद्ध न हो सकीं। द्रामिड़, टंक, भारुचि, भार्तृप्रपञ्च, कपर्दी, ब्रह्मानन्द, गुहदेव आदि ने भी सूत्रों पर व्याख्यायें लिखीं, ऐसा कहा जाता है। इनमें कोई भी उपलब्ध नहीं है। टीकाओं और टीकाकारों की संख्या से वेदांत-सूत्रों की प्रसिद्धि और आदरणीयता का अनुमान किया जा सकता है।

बिना भाष्यों की सहायता के सूत्रों का अर्थ लगाना असंभव ही है। कौन अधिकरण या सूत्र किस श्रुति या मंत्र की ओर संकेत करता है, इस

का निर्णय भी हमारे लिये संभव नहीं है। ऐसी दशा में यह निश्चय करना कि सूत्रकार का मत क्या है, बहुत कठिन काम है। थिबो नामक विद्वान् का मत है कि सूत्रों के दार्शनिक सिद्धांत शंकर की अपेक्षा रामानुज के अधिक अनुकूल हैं, परंतु उपनिषदों की शिक्षा शंकर के अधिक अनुकूल है। इसका अर्थ यह हुआ कि वादरायण की अपेक्षा शंकर ने उपनिषदों को ज्यादा ठीक समझा है। 'वादरायण उपनिषदों को नहीं समझते थे' यह मानने को हिंदू-हृदय कठिनता से तैयार हो सकेगा। वास्तव में यह निश्चय से नहीं कहा जा सकता कि सूत्र रामानुज-मत का ही प्रतिपादन करते हैं। कुछ सूत्र रामानुज के अनुकूल जान पड़ते हैं तो कुछ शंकराचार्य के। यदि शंकर ने उपनिषदों की ठीक व्याख्या की है और यदि यह मान लिया जाय कि वादरायण उपनिषदों का रहस्य समझते थे, तो यह निष्कर्ष सहज ही निकल आता है कि शंकर की व्याख्या ही सूत्रों की वास्तविक व्याख्या है। अब हम पाठकों को ब्रह्मसूत्र या वेदांत के वर्ण्य विषय का कुछ परिचय देने की कोशिश करेंगे।

पहला अध्याय

अथातो ब्रह्म जिज्ञासा ।१।१।१

अब ब्रह्म की जिज्ञासा करनी चाहिए।

जन्माद्यस्य यत, ।१।१।२

जिस ब्रह्म से इस जगत् का जन्म, स्थिति और भंग (नाश या प्रलय) होता है।

ब्रह्म की यह परिभाषा सप्रपंच या सगुण ब्रह्म में घटती है, जिसे वेदान्त की परिभाषा में 'ईश्वर' या 'अपर ब्रह्म' या 'कार्य ब्रह्म' कहते हैं और जो शुद्ध ब्रह्म से नीची श्रेणी का पदार्थ है। रामानुज इस सूत्र पर टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि जिनके मन में निर्विशेष या निर्गुण ब्रह्म

जिज्ञास्य हैं उनके मत में यह सूत्र नहीं घटता क्योंकि निर्गुण या निष्प्रपंच ब्रह्म से जगत् की उत्पत्ति आदि नहीं हो सकती। थिबो का भी विचार है कि सूत्रों का उपक्रम (आरंभ) शंकराचार्य के विरुद्ध है। अद्वैत वादियों का उत्तर है कि यह ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है, स्वरूप-लक्षण नहीं है। ब्रह्म सत्, चित् और आनंद है यह स्वरूप-लक्षण हुआ।

शास्त्र योनित्वात्। तत्तु समन्वयात्। १।१।३,४

ऋग्वेदादि शास्त्रों का कर्त्ता सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ब्रह्म ही हो सकता है। ब्रह्म जगत् का कारण है, इस विषय में श्रुतियों का एक मत है।

ईक्षतेर्नाशब्दम्

श्रुति में—तदैक्षत बहु स्यां प्रजायेयेति—ईक्षण शब्द का प्रयोग है जिसका अर्थ है 'उसने देखा या सोचा।' इस क्रिया का प्रयोग जड़ प्रकृति के साथ नहीं हो सकता, इसलिए चेतन ब्रह्म ही जगत् का कारण है। 'आत्मा' शब्द का प्रयोग भी है, यह छठवां सूत्र बतलाता है।

आनंदमयोऽभ्यासात्। १।१।१२

ब्रह्म आनंदमय है, क्योंकि श्रुति बार-बार ऐसा कहती है। 'आनंदमय' में 'मय-प्रत्यय' विकार के अर्थ में नहीं, प्राचुर्य के अर्थ में है। ब्रह्म में आनंद की प्रचुरता है। श्रुति में आनंदमय ब्रह्म के लिए आया है न कि जीव के लिए। ब्रह्म के आनंद से ही जीव आनंदी होता है।

शेष अध्याय में यह बतलाया गया है कि उपनिषदों के विभिन्न स्थानों में ब्रह्म को विभिन्न नाम दिये गए हैं। सूत्र में हिरण्यमय पुरुष ब्रह्म ही है। आकाश, प्राण, ज्योति, अत्ता और वैश्वानर ब्रह्म के ही नाम हैं। ब्रह्म द्युलोक और भूलोक आदि का आयतन (घर) या आधार है। भूमा, अक्षर और दहराकाश भी ब्रह्म ही है। सूर्य, चंद्रमा, नक्षत्र सब ब्रह्म की ज्योति से प्रकाशित है। जिन श्रुतियों में सांख्य वाले प्रकृति का वर्णन देखते हैं, उनका वास्तव में दूसरा ही अर्थ है। श्रुति का सृष्टि-क्रम

सांख्य के क्रम से भिन्न है। श्रुति कहती है कि उस आत्मा से आकाश उत्पन्न हुआ जब कि सांख्य के अनुसार आकाश तन्मात्रा-विशेष से उत्पन्न होता है।

दूसरा अध्याय

वेदांत का दूसरा अध्याय बड़े महत्त्व का है। इसमें सूत्रकार कुछ देर के लिये तार्किक बन गए हैं। इस अध्याय का दूसरा पाद तर्कपाद कहलाता है, क्योंकि उसमें श्रुति की दुहाई देकर नहीं बल्कि तर्क का आश्रय लेकर वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, जैन आदि मतों का खंडन किया गया है। पहले पाद में कुछ आक्षेपों का समाधान है।

विपक्षी आक्षेप करता है कि ब्रह्म के जगत् का कारण मानने पर सांख्य स्मृति से विरोध होता है। उत्तर यह है, कि सांख्य-सिद्धांत मान लेने पर दूसरी स्मृतियों का विरोध होगा। अद्वैत-प्रतिपादक और ब्रह्म को एक-मात्र तत्त्व बताने वाली श्रुतियों का भी तो मान करना है, स्मृति का ध्यान बाद को करना चाहिए। सांख्य के सब तत्त्वों का नाम भी श्रुति में नहीं है। इसी प्रकार योग स्मृति का विरोध भी करना ही पड़ेगा, यद्यपि यौगिक क्रियाओं का आदर सब को करना चाहिए।

एक आक्षेप यह भी है कि जगत् ब्रह्म से विलक्षण या भिन्न गुणवाला है, इसलिए ब्रह्म उसका कारण नहीं हो सकता। उत्तर यह है कि गोबर से बिच्छू जैसी भिन्न वस्तु पैदा होती है और पुरुष के शरीर से केश, नख आदि उत्पन्न होते हैं; इसी प्रकार चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् भी उत्पन्न हो सकता है। यदि कारण और कार्य बिलकुल एक-से ही हों तो कारण-कार्य संबंध का ही लोप हो जाय। ब्रह्म और जगत् में सत्ता गुण तो समान है ही। यहां शंकराचार्य यह भी कहते हैं कि वास्तव में सृष्टि माया-मयी है। जैसे मायावी अपनी माया से नहीं छूता, वैसे ही ब्रह्म में जगत् के

विकारों का स्पर्श नहीं होता।

श्रुति के विरोध में तर्क नहीं करना चाहिए क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित है। एक वादी के तर्कों का दूसरा वादी खंडन कर डालता है। (२।१।११)

परमाणुवाद श्रुति-परक न होने से त्याज्य है। असत्कार्य वाद ठीक नहीं, कार्य और कारण एक ही होते हैं। मिट्टी के होने पर घट उपलब्ध होता है, इससे सत्कार्यवाद सिद्ध होता है।

कृत्स्नप्रसक्तिर्निरवयवत्व शब्द कोपोवा।

श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्। (२।१।२६,२७)।

विपक्षी आक्षेप करता है कि यदि सत्कार्यवाद के अनुसार जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानोगे तो दो में से एक दोष ज़रूर आएगा। या तो यह मानना होगा कि सारा ब्रह्म जगत् रूप में परिवर्तित हो जाता है अथवा यह मानना होगा कि ब्रह्म का कोई भाग जगत् बन जाता है। पहली दशा में ब्रह्म की सत्ता का एक प्रकार से लोप हो जायगा; केवल जगत् रह जायगा। दूसरी दशा में ब्रह्म सावयव (हिस्सेवाला, सखंड) हो जायगा और ब्रह्म को निरवयव बतानेवाली श्रुति से विरोध होगा।

इसके उत्तर में सूत्रकार कहते हैं कि श्रुति ही जगत् को ब्रह्म का कार्य बतलाती है और वही ब्रह्म का विकार बिना स्थित रहना भी कथन करती है। इसलिए उक्त आक्षेप ठीक नहीं।

पाठक स्वयं देख सकते हैं कि सूत्रकार की युक्ति कितनी लचर या निर्बल है। श्रुति में विश्वास न रखनेवाला व्यक्ति इस युक्ति से कभी संतुष्ट नहीं हो सकता। श्री शंकराचार्य इस कमी को समझते थे, इसलिए उन्होंने सूत्र के भाष्य में मायावाद का प्रवेश करा दिया। ब्रह्म वास्तव में जगत् रूप में परिणत नहीं हो जाता, किंतु ऐसा परिणत हुआ प्रतीत होता है। जैसे रस्सी में सर्प दिखाई देता है, वैसे ही ब्रह्म में जगत् दिखाई पड़ता है। जैसे भ्रम का सर्प रस्सी में कोई विकार उत्पन्न नहीं करता वैसे

ही जगत् ब्रह्म की सत्ता में कोई विकार नहीं लाता। शंकर का यह 'विवर्त्त-वाद' या 'मायावाद' उनकी अपनी चीज़ है; सूत्रों में इस सिद्धांत की उपस्थिति मालूम नहीं पड़ती।

इन सूत्रों के भाष्य में रामानुज भी कहते हैं कि ब्रह्म में विचित्र शक्तियां हैं, इसलिए आक्षेप-कर्त्ता के दोष उसमें नहीं आएंगे। ब्रह्म दूसरे पदार्थों की तरह नहीं है और उसके विषय में श्रुति ही प्रमाण है। (शब्दैकप्रमाणकत्वेन सकलेतर वस्तु विसजातीयत्वादस्यार्थस्य विचित्र शक्तियोगो न विरुध्यते इति न सामान्यतो दृष्टं साधनं दूषणं वार्हति ब्रह्म)[1] यह स्पष्ट है कि रामानुज का समाधान ठीक नहीं है। अविद्या के कारण ब्रह्म में जगत् की प्रतीति होती है, शंकराचार्य की यह व्याख्या सबसे अधिक युक्ति-संगत और बुद्धि को संतुष्ट करनेवाली है।

वैषम्य नैर्घृण्ये न सापेक्षत्वात्तथाहि दर्शयति। २।१।३४

संसार में कोई दुःखी है, कोई सुखी। क्या इससे जगत् के रचयिता में विषमता और निर्घृणता (निर्दयता) दोष नहीं आते? सूत्रकार का उत्तर है, 'नहीं'। ईश्वर जो विषम सृष्टि करता है, वह जीवों के कर्मों की अपेक्षा से, न कि निरपेक्ष होकर। संसार अनादि है, इसलिये प्रारंभ में विषमता कहां से आई, यह प्रश्न नहीं उठता।

दूसरे पाद में विभिन्न मतों का खंडन है जो हम संक्षेप में देते हैं।

सांख्य का खंडन

सांख्य की युक्ति है कि जगत् के घट-पट आदि पदार्थ सुख, दुःख, मोहात्मक हैं, इसलिये उनका कारण प्रधान है। शंकराचार्य इस युक्ति का खंडन करते हुये कहते हैं कि घट, पट में सुख-दुख देखना अयुक्त है। सूत्रकार का कहना है कि विश्व में जो तरह-तरह की रचना पाई जाती है उसकी उत्पत्ति या सिद्धि विना चेतन कर्त्ता के नहीं हो सकती। संसार के सर्वश्रेष्ठ शिल्पी जिस

१—दे० कर्म कर का कम्पैरिजन आव् भाष्य ज्, पृ० ३३

विचित्र सृष्टि की कल्पना भी नहीं कर सकते, उसका कारण अचेतन प्रकृति कैसे हो सकती है ?

सत्, रज, तम की साम्यावस्था प्रकृति है; इस साम्यावस्था का भंग क्यों और कैसे होता है, यह सांख्यवाले नहीं समझा सकते। प्रकृति का परिणाम पुरुष के लिये होता है, यह भी समझ में नहीं आता। अचेतन प्रकृति पुरुष का हित-साधन करने का विचार कैसे कर सकती है, वह सांख्यवाले ही जानें। गाय का दूध चेतन गौ द्वारा अधिष्ठित होता है इसलिये बछड़े के लिये प्रस्रवित होने लगता है। यदि कहो घास दूध बन जाती है और घास अचेतन है, तो ठीक नहीं। बैल भी घास खाता है, पर उसके दूध नहीं उतरता। इसलिये दूध का निमित्त मानना पड़ेगा।

अंधे और लँगड़े का दृष्टांत पुरुष की सक्रियता सिद्ध करता है जो सांख्य को अभिप्रेत नहीं है। बिना कुछ कहे लँगड़ा अंधे को मार्ग नहीं बता सकता। यदि चुम्बक और लोहे का उदाहरण ठीक माना जाय तो पुरुष और प्रकृति के सान्निध्य की नित्यता से प्रकृति की प्रवृत्ति भी नित्य हो जायगी और कभी प्रलय न होगी।

सूत्रों में न्याय का खंडन नहीं है। परमाणुओं का परिमंडल या अणु परिमाण होता है, उनसे बड़े परिमाणों की सृष्टि कैसे होती है ? द्व्यणुक का ह्रस्व परिमाण कहां से आता है ? यदि इंद्रिय-अगोचर परमाणुओं से दीखने योग्य त्र्यणुक और अणु परिमाण से महत्परिमाण उत्पन्न हो सकता है तो चेतन ब्रह्म से अचेतन जगत् उत्पन्न होता है यह मानने में क्या हानि है ? कार्य का कारण से भिन्न होना दोनों जगह समान है। (२।२।११)

वैशेषिक का खंडन

प्रलय-काल में परमाणु विभागावस्था में होते हैं, उनके संयोग का कारण क्या होता है ? संयोगकर्म का कोई चेतन कर्ता होना चाहिए। 'अदृष्ट' अचेतन है, इसलिये परमाणु-संयोग का निमित्त नहीं हो सकता। उस समय आत्माएं भी अचेतन होती हैं, फिर उनका मन से संयोग भी

नहीं होता, इसलिये परमाणुओं का आदिम संयोग सिद्ध नहीं होता। [इस आलोचना से मालुम होता है कि सूत्रकार और शंकराचार्य दोनों वैशेषिक को अनीश्वरवादी समझते थे, क्योंकि ईश्वर परमाणुओं के प्रथम संयोग का कारण होता है, यह तर्क आलोचना में नहीं उठाया गया है।] (२।२।१२)

जिस पदार्थ में रूप, रस, गंध, स्पर्श हों वह स्थूल और अनित्य होता है, इस व्याप्ति से परमाणुओं का कार्य और अनित्य होना सिद्ध होता है। (२।२।१५)

परमाणु या तो प्रवृत्ति-स्वभाववाले हैं, या निवृत्ति-स्वभाववाले, या दोनों स्वभाववाले या दोनों स्वभावरहित। पहली दशा में सृष्टि तो होगी, प्रलय न हो सकेगी। दूसरी दशा में केवल प्रलय संभव है। तीसरी दशा संभव नहीं है, परमाणुओं में विरुद्ध गुण नहीं हो सकते। चौथी दशा में प्रवृत्ति का कारण किसी वाह्य पदार्थ (अदृष्ट आदि) को मानना पड़ेगा जिसका संनिधान (समीपता) या तो नित्य होगा और प्रलय न हो सकेगा, या अनित्य या अनियमित। किसी प्रकार भी परमाणुवादी दोष से न बच सकेंगे। (२।२।१४)

बौद्धों का खंडन

बौद्धों के क्षणिक स्कंधों और अणुओं का संघात नहीं बन सकता, यह पहले भाग में लिख चुके हैं। क्योंकि उत्तर क्षण की उत्पत्ति से पहले पूर्व क्षण नष्ट हो चुकता है, इसलिये पूर्व क्षण उत्तर क्षण का हेतु या कारण नहीं हो सकता।

'अर्थक्रियाकारित्व' सत्ता का लक्षण कर देने पर 'प्रतिसंख्यानिरोध' और 'अप्रतिसंख्यानिरोध' (बुद्धिपूर्वक विज्ञान-संतति का नाश और सुषुप्ति आदि में अबुद्धि-पूर्वक निरोध) दोनों नहीं बन सकते। बौद्धों के क्षणिक भाव पदार्थ अविराम प्रवाहित होते रहते हैं। यदि अंतिम विज्ञान को, जिसका निरोध अभीष्ट है, सत् माना जाय तो उससे दूसरा विज्ञान ज़रूर उत्पन्न होगा अन्यथा उस विज्ञान की 'सत्' संज्ञा न हो सकेगी; उसमें

सत्ता-लक्षण न घट सकेगा। यदि अंतिम विज्ञान को असत् माना जाय तो उससे पहले का विज्ञान भी असत् होगा और इस प्रकार सारी विज्ञान-संतति असत् हो जायगी; तब ज्ञान से निरोध किसका होगा?

विज्ञानवाद की आलोचना पहले लिखी जा चुकी है। 'बाह्यता' का भ्रम भी बाह्य के ज्ञान के बिना नहीं हो सकता। बंध्या पुत्र को किसी ने कहीं नहीं देखा है इसलिये उसका भ्रम भी नहीं होता।

जैनों के सप्त भंगी न्याय का खंडन भी ऊपर लिख चुके हैं। जीव को शरीर-परिमाणी मानने पर वह अनित्य हो जायगा।

तटस्थेश्वरवाद

कुछ लोगों (जैसे न्याय) के मत में ईश्वर उपादान कारण नहीं है, केवल अधिष्ठाता कारण है। जैसे कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, वैसे ईश्वर प्रकृति या परमाणुओं से सृष्टि करता है। ईश्वर केवल निमित्त कारण है। यह मत ठीक नहीं। इस मत को मानने पर ईश्वर पक्षपात दोष से नहीं बच सकता। ईश्वर ने अच्छे-बुरे प्राणी क्यों बनाये? यदि कहो कर्मों के अनुसार ईश्वर ने भेद-सृष्टि की तो कर्म और ईश्वर एक दूसरे के आश्रित हो जायँगे; ईश्वर का वस्तुकृत परिच्छेद भी हो जायगा। प्रकृति और जीव उसकी असीमता को नष्ट कर देंगे। या तो ईश्वर में जीवों की संख्या और प्रकृति की सीमा का ज्ञान होगा, या नहीं। पहली दशा में प्रकृति और जीव परिमित हो जायँगे; दूसरी दशा में ईश्वर असर्वज्ञ बन जायगा।

भागवत धर्म का खंडन

इस मत में एक निरञ्जन वासुदेव चार रूपों में स्थित रहता है, वासुदेव-व्यूह, संकर्षण-व्यूह, प्रद्युम्न-व्यूह और अनिरुद्ध-व्यूह। उनमें वासुदेव परा प्रकृति है, अन्य उसके कार्य हैं। वासुदेव से संकर्षण (जीव) उत्पन्न होता है, संकर्षण से प्रद्युम्न (मन), उससे अनिरुद्ध (अहंकार)। उत्पत्ति मानने से जीव अनित्य हो जायगा फिर मोक्ष या भगवत्प्राप्ति किसे होगी? कर्त्ता

(जीव) से करण (मन) की उत्पत्ति भी ठीक सिद्धांत नहीं है। फिर इस मत का श्रुति में उपपादन भी नहीं है।

नोट—उपर्युक्त आलोचनाओं में हमने शांकर भाष्य का अनुसरण किया है।

तीसरे पाद का पहला अधिकरण आकाश को ब्रह्म का कार्य होना सिद्ध करता है। आकाश निर्विभाग और नित्य नहीं है। इसी प्रकार वायु, जल और अग्नि भी कार्य हैं। जीव का जन्म औपाधिक है और नित्यता वास्तविक। जीव ज्ञाता (ज्ञः) है अथवा ज्ञानस्वरूप या चैतन्य-स्वरूप है।

आगे के अधिकरण में 'आत्मा अणु है या विभु' इस पर विचार किया गया है। रामानुज के मत में आत्मा या जीव अणु है; शंकर के मत में अणुत्व उपाधि-सहित जीव का धर्म है। अधिकरण के आरंभ के सूत्रों से ऐसा मालूम होता है कि सूत्रकार जीव को अणु मानते हैं। शंकर की सम्मति में यह सूत्र (१६-२८) पूर्वपक्ष के हैं। हमें रामानुज की व्याख्या ज़्यादा स्वाभाविक मालूम होती है। दस सूत्रों का लंबा पूर्वपक्ष मानना अस्वाभाविक है।

जीव कर्त्ता है और स्वतंत्र है; यह ठीक है कि ईश्वर कर्म करता है, परंतु यह कर्म कराना जीव के पूर्व प्रयत्नों की अपेक्षा से होता है। जीव ब्रह्म का अंश या आभास है।

तीसरा अध्याय

मरने के बाद जीव सूक्ष्म भूतमात्राओं से वेष्टित होकर जाता है। जीव सम्पूर्ण कर्मों का भोग किये बिना ही स्वर्ग को जाते हैं। अभुक्त कर्मों के अनुसार ही स्वर्ग के बाद जन्म होता है। इन कर्मों को, जिनका फल स्वर्ग नहीं है, 'अनुशय' कहते हैं। पापी जीव चंद्रलोक को नहीं जाते।

स्वप्न में जीव सृष्टि करता है। रामानुज के मत में स्वप्न-सृष्टि का कर्त्ता ईश्वर है।

पाँचवें अधिकरण (द्वितीयपाद में) का नाम उभयलिङ्गाधिकरण है। ब्रह्म वास्तव में नीरूप, निर्विशेष और निर्गुण है, यह शंकराचार्य का मत है। 'अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्' (३।२।१४) यह सूत्र शांकर मत की पुष्टि करता है। इसका अर्थ है—श्रुति में ब्रह्म के निर्गुण वर्णन की प्रधानता है, इसलिये ब्रह्म निर्गुण या नीरूप (रूपहीन) है। रामानुज ने इस अधिकरण में चार सूत्र और मिलाकर दूसरी व्याख्या की है। उनके मत में यह अधिकरण ब्रह्म का दोषों से रहित होना कथन करता है।

कर्म का फल ईश्वर देता है न कि स्वयं कर्म या अदृष्ट। जैमिनि के मत में 'धर्म' फल देता है।

उद्‌गीथ-विद्या, प्राण-विद्या, शाण्डिल्य आदि विद्याओं में ब्रह्म की ही उपासना बतलाई गई है। अवशिष्ट तृतीय अध्याय और चौथे अध्याय के अधिकांश भाग में जिन विषयों का वर्णन है उनका दार्शनिक महत्त्व कम है।

चौथा अध्याय

द्वितीय पाद में यह बतलाया गया है कि वाणी, मन, प्राण आदि का लय कहाँ होता है। विद्वान् दक्षिणायन में मर कर भी विद्या का फल पाता है।

अर्चिरादि मार्ग अनेक नहीं एक ही है। अर्चिष् आदि जीव को ले जानेवाले देवताओं के नाम हैं। बादरि का मत है कि परब्रह्म गति का कर्म नहीं हो सकता, इसलिये 'कार्य ब्रह्म' तक जीव को पहुँचाया जाता है, ऐसा मानना चाहिये। जैमिनि का मत इससे उलटा है; परब्रह्म ही जीव का गंतव्य है। यहां अधिकरण समाप्त हो जाता है; शंकर के मत में पहला मत ही सूत्रकार का सिद्धांत है। शंकर के अनुसार अगले दो सूत्रों

का दूसरा अधिकरण है। रामानुज के मत में कुल एक ही अधिकरण है (७—१६)। सोलहवें सूत्र के साथ ही तृतीयपाद समाप्त हो जाता है। सूत्रकार का मत जैमिनि का मत है, यह रामानुज की व्याख्या का सारांश है। ब्रह्म 'पर' और 'अपर' दो नहीं हैं; ब्रह्म एक ही है।

चौथे पाद में भी मुक्त पुरुष का वर्णन है। मुक्त पुरुष के अपने रूप का आविर्भाव हो जाता है। जैमिनि के मत में मुक्तपुरुष ब्रह्म के रूप से स्थित होता है ब्रह्म का रूप पा जाता है। औडुलोमि के अनुसार मुक्त पुरुष चैतन्य मात्र होता है। (४।४।१, ५,६) यही शंकर का मत है। संकल्प करते ही सारे भोग उसके पास उपस्थित हो जाते हैं; उसका कोई और अधिपति नहीं होता; जैमिनि के मत में शरीर का भाव होता है, वादरि के मत में अभाव। बादरायण यहाँ कोई विरोध नहीं देखते; संकल्प करते ही उसका शरीर हो जाता है। जगत् की सृष्टि आदि व्यापार मुक्त पुरुष नहीं कर सकता। भोगमात्र में वह ब्रह्म के समान होता है। श्रुति कहती है कि उसकी पुनरावृत्ति या संसार में पुनर्जन्म नहीं होता। यह वेदांत का अन्तिम सूत्र है, अनावृत्तिः शब्दादनावृत्तिः शब्दात्।

शंकर के मत में यह सब वर्णन उस जीव का है जिसे ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो गई है। ऐसा जीव भी वापिस नहीं आता, पूर्ण मुक्त हो जाता है। पूर्ण मुक्त और ब्रह्म में तो भेद ही नहीं रहता, उसके लिये यह कहना कि वह जगत् के व्यापार नहीं कर सकता या सिर्फ भोग में ब्रह्म के समान होता है, निरर्थक है।

रामानुज के मत में यह पूर्ण मुक्त का वर्णन है। मुक्त पुरुष ब्रह्म में लीन या एक नहीं हो जाता; वह ब्रह्म से कुछ कम रहता है। थिबो का कथन है कि उपक्रम (आरंभ) की तरह उपसंहार (अंत) भी शंकर के विरुद्ध है। यह संभव नहीं है कि बादरायण ने अपने सूत्रों का अन्त 'कार्यब्रह्म' तक पहुँचे हुये 'अपूर्णमुक्त' के वर्णन के साथ किया हो। अन्तिमसूत्र की पुनरुक्ति आचार्य के हृदय की गम्भीर भावना को व्यक्त

करती है। यह वर्णन पूर्ण मुक्त पुरुष का ही है और 'पर' तथा 'अपर' ब्रह्म का भेद शंकर की कल्पना है।

थिबो की टीका ठीक मालूम पड़ती है। वास्तव में 'अविद्या' या 'माया' की धारणा शंकर की अपनी है, इसी कारण उन्हें सूत्रकार के 'परिणाम-वाद' की जगह 'विवर्त्तवाद' का प्रतिपादन करना पड़ा, यही कारण उनके सूत्रों के अर्थ में जगह-जगह खींचा-तानी करने का है। अविद्या की उपाधि से ही ब्रह्म, ईश्वर बन जाता है। 'अपर-ब्रह्म और 'पर-ब्रह्म' का भेद शंकर का अपना मालूम होता है, सूत्रकार का नहीं। सूत्रकार की शिक्षा का सारांश यही है कि संपूर्ण जगत् ब्रह्म का कार्य है, जीव ब्रह्म का अंश है और मुक्ति का अर्थ ब्रह्म लोक-प्राप्ति है। कारण और कार्य में अनन्यत्व संबंध होता है। सूत्रकार जगत् को मिथ्या नहीं समझते; वे विवर्त्तवादी नहीं हैं। विश्व की रचना ब्रह्म की लीला है। ब्रह्म और उसके व्यापारों के विषय में श्रुति ही प्रमाण है। आचार्य श्रुति को 'प्रत्यक्ष कहते हैं और स्मृति को 'अनुमान'।

योगवाशिष्ठ[1]

श्री शंकराचार्य के अद्वैत वेदांत का वर्णन करने से पहले हम दो कृतियों का परिचय दे देना चाहते हैं, एक योगवाशिष्ठ और दूसरी माण्डूक्य-कारिका। पहली कृति एक बड़ा ग्रंथ है[2] और दूसरी बहुत संक्षिप्त वस्तु है। दोनों पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई देता है। दोनों निराशा-वादी हैं और जगत् को स्वप्नवत् समझते हैं। कुछ ही वर्ष पहले प्रोफेसर बी० एल० आत्रेय (काशी) ने आधुनिक विद्वानों का ध्यान योग-वाशिष्ठ की ओर आकर्षित किया है। योगवाशिष्ठ को दार्शनिक विचारों

---

[1] 'योगवाशिष्ठ का यह परिचय डाक्टर बी० एल० आत्रेयके "योगवाशिष्ठ एण्ड मॉडर्न थाट" के आधार पर लिखा गया है।

[2]—डा० दासगुप्त के अनुसार योगवाशिष्ठ में २३७३४ श्लोक हैं (दे० भाग २, पृ० २२८)

का भण्डार ही समझना चाहिये। इस पद्यात्मक ग्रंथ के रचयिता को दार्शनिक प्रक्रिया स्वाभाविक मालूम होती है। नीचे हम अनुवाद-सहित कुछ श्लोक उद्धृत करके पाठकों को योगवाशिष्ठ का थोड़ा-सा परिचय देने की कोशिश करेंगे। संख्यायें प्रकरण, अध्याय और श्लोक बतलाती हैं। संसार दुःखमय है—

सतोऽसत्ता स्थिता मूर्ध्नि, मूर्ध्नि रम्येष्वरम्यता।
सुखेषु मूर्ध्नि दुःखानि किमेकं संश्रयाम्यहम् (५।६।४१)
आपदः सम्पदः सर्वाः सुखं दुःखाय केवलम्।
जीवितं मरणायैव वत माया विजृम्भितम् (६।६३।७२)
शैलनद्या रय इव संप्रयात्येव यौवनम् (६।७८।५)
पातं पक्व फलस्यैव मरणं दुर्निवारणम्। (६।७८।३)
कास्ता दृशो यासु न सन्ति दोषाः।
कास्ता दिशो यासु न दुःख दाहः।
कास्ताः प्रजा यासु न भङ्गुरत्वम्।
कास्ताः क्रिया यासु न नाम माया। (१।२७।३१)

अर्थः—सत्ता या अस्तित्व के सिर पर असत्ता या नाश वर्त्तमान है; सौन्दर्य पर कुरूपता सवार है; सुखों पर दुःख का आधिपत्य है। इन में से एक का आश्रय मैं किसका करूँ?

सारी सम्पदाएं आपत्ति रूप हैं; सुख केवल दुःख के लिये है; जीना मरने के लिए है, सब माया का विजृम्भण (खेल) है।

शैल-नदी के प्रवाह की तरह यौवन चला जा रहा है। पके हुए फल के पतन की तरह मरना निश्चित है।

कौन सी दृष्टियां (दार्शनिक सिद्धांत) हैं जिनमें दोष नहीं? कौन-सी दिशाओं में दुःख की जलन नहीं है? कौन-सी उत्पत्तिवाली वस्तुएं हैं, कौन जीव हैं, जो मरण शील नहीं हैं? कौन-सी क्रियायें या व्यापार हैं, जिनमें माया नहीं है?

मनुष्य को पुरुषार्थ करना चाहिए, पुरुषार्थ ही दैव है —

यथा यथा प्रयत्नः स्याद् भवेदाशुफलं तथा ।
इति पौरुष मेवास्ति दैवमस्तु तदेव च ॥ (२।६।२)
न तदस्ति जगत्कोशे शुभ कर्मानुपातिना ।
यत्पौरुषेण शुद्धेन न समासाद्यते जनैः ॥ (३।६२।८)

अर्थ :—जैसे-जैसे मनुष्य प्रयत्न करता है, वैसे-वैसे शीघ्र फल मिलता है । पौरुष ही सब कुछ है, वही दैव है । जगत् में ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जो शुद्ध पुरुषार्थ से प्राप्त न हो सके ।

ज्ञान के लिए अनुभूति ही सर्वश्रेष्ठ साधन है :—

अनुभूतिं विना रूपं नात्मनश्चानुभूयते ।
सर्वदा सर्वथा सर्व स प्रत्यक्षोऽनुभूतितः ॥ (५।६४।५३
न शास्त्रैर्नापि गुरुणा दृश्यते परमेश्वरः ।
दृश्यते स्वात्मनैवात्मा स्वया स्वस्थया धिया ॥ (६।११८।४)

अर्थ :—अनुभव के बिना आत्मानुभूति नहीं हो सकती । प्रत्यक्ष-ज्ञान अनुभव-साध्य है । न शास्त्र से, न गुरु से; अपनी आत्मा अपनी ही बुद्धि को स्वस्थ करके देखी जा सकती है ।

योग-वाशिष्ठ का विश्वास है कि जगत् मनोमय है । यदि जगत् को द्रष्टा से अत्यंत भिन्न मानें तो किसी प्रकार का ज्ञान नहीं हो सकता ।

न संभवति संबन्धो विषमाणां निरन्तरः ।
न परस्पर संबंधाद् विनानुभवनं मिथः । (३।१२१।३७)
ऐक्यं च विद्धि संबंधं नास्त्यसाव समानयो : । (३।१२१।४२)
सजातीयः सजातीयेनैकता मनुगच्छति ।
अन्योऽन्यानुभवस्तेन भवत्येकत्व निश्चयः । (६।२५।१२)
द्रष्टृ दृश्ये न यद्येकमभविष्यच्चिदात्मके ।
तद् दृश्यास्वाद मज्ञः स्यात्काष्ठमिवेचुमिवोपलः । (६।२८।६)

अर्थ :—जो वस्तुएं एक-दूसरे से अत्यंत भिन्न हैं, उनमेंसंबंध नहीं

हो सकता और बिना संबंध हुए ज्ञाता को ज्ञेय का अनुभव नहीं हो सकता। संबंध एकता को कहते हैं; जो समान नहीं हैं, उनमें यह नहीं हो सकता। सजातीय (एक श्रेणी के) पदार्थों में एकता या संबंध होता है; इसी से एक को दूसरे का अनुभव होता है। यदि द्रष्टा (जीव) और दृश्य (जगत्) दोनों चैतन्य रूप न होते तो द्रष्टा दृश्य को कभी न जान सकता, जैसे पत्थर गन्ने का स्वाद नहीं जानता।

पाठक इस युक्ति को बहुत ध्यान से पढ़ें। योरुप के बड़े-बड़े दार्शनिकों ने इस युक्ति का आधुनिक काल में प्रयोग किया है। जैनियों और सांख्य की आलोचना में हमने इसी युक्ति का आश्रय लिया था। जो अत्यंत भिन्न हैं उनमें संबंध नहीं हो सकता। इससे विश्व की एकता सिद्ध होती है। यदि प्रकृति और पुरुष, पुद्गल और जीव अत्यंत भिन्न हों, तो उनमें ज्ञातृ-ज्ञेय संबंध संभव न हो सके। यदि सृष्टि से हमारी किसी प्रकार एकता न हो तो वह हमें सुन्दर न लगे, हमारे हृदय को स्पर्श न करे। द्वैतवाद की सबसे बड़ी कठिनता जड़ और अजड़ में संबंध स्थापित करना है। हीगल ने इसी युक्ति का आश्रय लेकर 'विरुद्ध-गुण एकत्र नहीं हो सकते' इस नियम का खंडन किया था। विरोध भी एक प्रकार का संबंध है और विरुद्धों में भी किसी प्रकार की एकता होनी चाहिए। प्रसिद्ध दार्शनिक ब्रेडले का कथन है :—

'एक अवयवी या ऊँची श्रेणी के अंतर्गत ही संबंध हो सकते हैं; इसके अतिरिक्त संबंध का कोई अर्थ नहीं है।'[1]

इसी तर्क के सहारे ब्रेडले ने विश्व-तत्त्व की एकता सिद्ध की है। पाठक हमारे पिछले उदाहरण को याद कर लें। दो गज़ और दो मिनिट में इस लिये कोई संबंध दिखलाई नहीं देता कि हम उन्हें किसी एक बड़ी श्रेणी के अंतर्गत नहीं ला सकते। इस तर्क से क्या निष्कर्ष निकलता है? यह योगवाशिष्ठ के ही शब्दों में सुनिये :—

१—एपियरेंस एण्ड रिअलिटी, पृ० ५४२

बोधाववुद्धं यद्वस्तु बोध एव तदुच्यते ।
ना बोधं बुध्यते बोधो वैरूप्यात्तेन नान्यथा ।६।२५।१२
यदि काष्ठोपलादीनां न भवेद् बोधरूपता ।
तत्सदानुपलम्भः स्यादेतेषामसतामिव । (६।२५।१५)
सर्वं जगद्गतं दृश्यं बोधमात्र मिदं ततम् ।
स्पन्द मात्रं यथा वायुर्जल मात्रं यथार्णवः ।६।२५।१७
मनोमनन निर्माण मात्रमेतज्जगत्त्रयम् । (४।११।२३)
द्यौः क्षमा वायु राकाशं पर्वताः सरितो दिशः
अंतः करण तत्त्वस्य भागा बहिरिव स्थिताः । (५।५६।३५)
कल्पं क्षणीकरोत्यंतः क्षणं नयति कल्पताम्
मनस्तदायत्त मतो देशकालक्रमं विदुः । (३।१०३।१४)
कांता विरहिणा मेकं वासरं वत्सरायते । (३।२०।५१)
ध्यान प्रक्षीण चित्तस्य न दिनानि न रात्रयः। (३।६०।२६)

भावार्थः—बोध या ज्ञान से जो वस्तु जानी जाय उसे बोध ही समझना चाहिए। बोध या ज्ञान बोध-भिन्न पदार्थ को नहीं जान सकता। यदि काठ और पत्थर बोधरूप न हों तो असत्पदार्थों की भाँति उनकी कभी उपलब्धि न हो। यह सारा ब्रह्मांड बोधरूप है, जैसे वायु केवल स्पंदन है और समुद्र जलमात्र है। यह तीनों लोक मन के मनन द्वारा ही निर्मित हैं. मनोमय हैं। द्युलोक, पृथ्वी, वायु, आकाश, पर्वत, नदियां, दिशाएं—यह सब अंतःकरण द्रव्य के भाग-से हैं जो बाहर स्थित हैं।

देश और काल का क्रम मन के अधीन है। मन एक क्षण को कल्प के बराबर लंबा बना सकता हैं और एक कल्प को क्षण के बराबर छोटा। जिनका प्रियतमा से वियोग हो जाता है उन्हें एक दिन वर्ष के बराबर प्रतीत होता है। ध्यान-द्वारा जिसने चित्त (वृत्तियों) का क्षय कर दिया है उसके लिये न दिन हैं न रातें।

पाठक कहेंगे कि यह तो विज्ञानवाद या बर्कले की सब्जेक्टिविज़्म है। इसीलिये हमने कहा था कि योगवाशिष्ठ पर बौद्ध-दर्शन का प्रभाव दिखाई देता है। योगवाशिष्ठ के लेखक में बौद्ध-विचारकों जैसी उड़ान और साहस है। परंतु फिर भी योगवाशिष्ठ वेदांत का ग्रंथ है। एक श्लोक कहता है,

जाग्रात्स्वप्नदशा भेदो न स्थिरास्थिरते विना
समः सदैव सर्वत्र समस्तोऽनुभवोऽनयोः। (४।१६।११)

अर्थात् जाग्रत दशा और स्वप्नदशा में कोई भेद नहीं हैं, सिर्फ़ यही भेद है कि पहली में स्थिरता और दूसरी में अस्थिरता पाई जाती है। दोनों में सदैव और सर्वत्र एक-सा अनुभव होता है।

यह विशुद्ध विज्ञानवाद है। परंतु योगवाशिष्ठ के रचयिता का एक स्थिर तत्त्व 'ब्रह्म' में विश्वास है, यही विज्ञानवाद से भेद है।

सर्व शक्ति परं ब्रह्म सर्ववस्तु मयं ततम्
सर्वथा सर्वदा सर्वं सर्वैः सर्वत्र सर्वगम्। (६।१४।८)
आवाच्य मनभि व्यक्त मतीन्द्रिय मनामकम्। (६।२२।२७)
न चेतनो न च जडो न चैवासन्नसन्मयः।
नाहं नान्यो न चैवैको नानेको नाप्यनेकवान्। (५।७२।४१)
यस्य चात्मादिकाः संज्ञाः कल्पिता न स्वभावजाः। (३।५।५)
न च नास्तीति तद्वक्तुं युज्यते चिद्वपुर्यदा।
न चैवास्तीति तद्वक्तुं युक्तं शान्तमलं तदा। (६।५३।६)
अतयामृत सम्पूर्णादम्भोदादिव वृष्टयः। (३।५।१४)
द्रष्टृदर्शनदृश्यानां त्रयाणामुदयो यतः। (६।१०६।११)
न सन्नासन्न मध्यान्तं न सर्वं सर्वमेव च।
मनोवाचोभिरग्राह्यं शून्याच्छून्यं सुखात्सुखम् (३।११६।८३)
आत्मैव स्पन्दते विश्वं वस्तु जातैरिवोदितम्।
तरङ्ग कण कल्लोलै रनन्तास्ववम्बुधाविव। (५।७२।२३)
परमार्थघनं शैलाः परमार्थघनं द्रुमाः।

परमार्थघनं पृथ्वी परमार्थघनं नभः । (३।५१।४५)
लीयतेऽङ्कुरकोशेषु रसीभवतिपल्लवे ।
उल्लसत्यम्बु वीचित्वे प्रनृत्यति शिलोदरे ।
प्रवर्षत्यम्बुदो भूत्वा शिलीभूयावतिष्ठते । (३।४०।२१,२२)
ब्रह्म सर्वं जगद्वस्तु पिण्डमेक मखण्डितम् । (३।६०।३६)

भावार्थः—ब्रह्म सर्वशक्तिमय है, सर्ववस्तुमय है; वह सदा, सर्वत्र सब रूपों में विराजमान है। वह अवाच्य है, अभिव्यक्त नहीं है, इंद्रिय-रहित और नाम-शून्य है। वह न चेतन है, न जड़, न सत् न असत्, न मैं न मैं से भिन्न, न एक न अनेक। आत्मा आदि उसके नाम कल्पित हैं, स्वाभाविक नहीं। 'वह नहीं है', ऐसा नहीं कह सकते क्योंकि वह चैतन्य स्वरूप है; 'वह है' ऐसा भी दोष-रहित ब्रह्म को नहीं कह सकते। जैसे मेघों से वृष्टि होती है वैसे ही आनंदमय अथवा अमृतमय ब्रह्म से द्रष्टा, दृश्य और दर्शन इन तीनों का उदय होता है। ब्रह्म न सत् है न असत्, न मध्य न अंत, न सब कुछ न-न-कुछ, वह वाणी और मन से ग्रहण होने योग्य नहीं है, वह शून्य से भी शून्य है, सुखरूप है। हजारों वस्तुओं के रूप में आत्मा ही स्पंदित हो रही है, जैसे समुद्र में अनंत जल तरंग, कण, कल्लोल रूप में स्पंदित रहता है। पर्वत, वृक्ष, पृथ्वी और आकाश परमार्थ ब्रह्मरूप हैं। वही ब्रह्म अंकुरों में लीन होता है, वही पत्तों में रस बन जाता है; जल की लहरों में क्रीड़ा करता है, शिला-गर्भ में नाचता है, मेघ बन कर बरसता है और शिला बन कर स्थिर रहता है। एक अखंड ब्रह्म ही जगत् की सारी वस्तुएँ है।[1]

गौड़पाद की माण्डूक्य-कारिका

माण्डूक्योपनिषत् पर कारिका लिखनेवाले गौड़पाद सांख्य-कारिका के टीकाकार से भिन्न कहे जाते हैं। अद्वैत-वेदांत के ग्रंथों में यह कारि-

१—योगवाशिष्ठ शंकर के बाद की रचना मानी जाती है यद्यपि प्रो०, आत्रेय का मत और है। (दे० दासगुप्त, भाग २, पृ० २२८)

काएं सबसे प्राचीन हैं। शंकर का मायावाद यहां पाया जाता है। श्री गौड़पाद शायद शंकराचार्य के शिक्षक श्री गोविंद के गुरु थे। कारिकाओं पर शंकराचार्य ने टीका लिखी है। कुल कारिकाएं चार प्रकरणों में विभक्त हैं—अर्थात् आगम प्रकरण जो मांडूक्य की व्याख्या है, वैतथ्य प्रकरण, जिस में जगत् का मिथ्यात्व सिद्ध किया है, अद्वैत प्रकरण और अलात शांति प्रकरण। गौड़पाद के सिद्धांत कहीं विज्ञानवाद, कहीं शून्यवाद और कहीं अद्वैत वेदांत से मिलते हैं। वे वेदांती हैं, पर उनपर बौद्धों का प्रभाव स्पष्ट प्रतीत होता है। कारिकाओं में 'बुद्ध' शब्द का प्रयोग कई जगह हुआ है। कुछ कारिकाएं नागार्जुन की कारिकाओं से बिलकुल मिलती हैं। कम-से-कम यह निश्चित है कि गौड़पाद बौद्ध दर्शन और बौद्ध ग्रंथों से काफ़ी परिचित थे।

गौड़पाद के मत में संसार स्वप्न की तरह मिथ्या है। वैतथ्य प्रकरण के चौथे श्लोक की टीका में श्री शंकराचार्य लिखते हैं:—

जाग्रद् दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा, दृश्यत्वादिति हेतुः। स्वप्नदृश्य भाववदिति दृष्टांतः।

अर्थात् जाग्रतावस्था में दीखनेवाले भावपदार्थ मिथ्या हैं, क्योंकि वे दृश्य हैं, स्वप्न में दीखनेवाले भाव पदार्थों की तरह। इस प्रकार प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण तीनों मौजूद हैं। 'जो-जो दृश्य है, वह-वह मिथ्या है' यह व्याप्ति है। यह गौड़पाद की पहली युक्ति है। दूसरी युक्ति सुनिए,

आदावंते च यन्नास्ति वर्त्तमानेऽपि तत्तथा।

जो आदि में नहीं है और अंत में भी नहीं है, उसे वर्त्तमान काल में भी वैसाही समझना चाहिए। एक समय था जब यह जगत् नहीं था, एक समय यह रहेगा भी नहीं; इसलिये अब इस जगत् की वास्तविक सत्ता है, यह हठपूर्वक कौन कह सकता है?

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान्।
बाह्यानाध्यात्मिकाँश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः (२।१६)

पहले जीव की कल्पना होती है, फिर भौतिक और मानसिक भावों की। कल्पित जीव की जैसी विद्या होती है वैसी ही उसकी स्मृति होती है।

जैसे अंधकार में निश्चय न होने के कारण रस्सी कभी सर्प कभी पानी की धारा मालूम होती है, वैसी ही जीव की कल्पना है। (२।१८)

जैसे स्वप्न हैं जैसी माया है, जैसा गंधर्व-नगर (गंधर्व-रचित मायिक नगर) होता है, वैसा ही वेदांत के वेत्ता इस जगत् को समझते हैं। (२।३१)

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता। (२।३२)

न जन्म होता है न नाश; न कोई बद्ध है न साधक। मोक्षार्थी भी कोई नहीं है, यही परमार्थ-ज्ञान है।

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा।
आकाशे संप्रलीयंते तद्वज्जीवा इहात्मनि (३।४)

जैसे घट आदि के नष्ट हो जाने पर घटाकाश आदि का महाकाश में लय हो जाता है, वैसे ही जीवों का आत्मा या ब्रह्म में लय हो जाता है।

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः (३।८)

जैसे बालकों की मति में आकाश...संसार के मलों से मलिन हो जाता है, वैसे ही अविद्वान् आत्मा को मलिन होनेवाला समझते हैं।

नागार्जुन की तरह गौड़पाद का भी मत है कि किसी वस्तु की उत्पत्ति मानना संगत नहीं है। 'अजाति' अथवा जन्म का अभाव ही दार्शनिक सत्य है। वे कहते हैं,

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति (३।२०)

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथञ्चिद् भविष्यति ।३।२१।

जन्म की सत्यता के पक्षपाती अजात (जो उत्पन्न नहीं हुआ है) तत्त्व का ही जन्म कथन करते हैं। परंतु जो 'अजात' है वह अमर है, वह मरणशील कैसे बनेगा (अर्थात् वह उत्पन्न कैसे होगा) ?

जो अमर है, वह मरणशील नहीं बन सकता, जो मरणशील है वह अमर नहीं हो सकता। कोई वस्तु अपने स्वाभाविक धर्म को नहीं छोड़ सकती।

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ।४।३।
भूतं न जायते किञ्चिदभूतं नैव जायते ।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ।४।४।

द्वैतवादियों में आपस में विरोध है। कुछ वादी विद्यमान की उत्पत्ति कहते हैं, कुछ अविद्यमान की (पहले सत्कार्यवादी है, दूसरे असत्कार्यवादी)। न विद्यमान उत्पन्न होता है, न अविद्यमान ही उत्पन्न होता है। वास्तव में 'अजाति' ही सत्य है, इसे तर्क करते हुए अद्वैती सिद्ध करते हैं।

स्वतो वा परतोवाऽपि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत् सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।४।२२।

न कोई चीज़ अपने से उत्पन्न होती है, न दूसरे पदार्थ से; सत्, असत्, या सत् और असत् कोई चीज़ उत्पन्न नहीं होती। पाठक इस कारिका की नागार्जुन की पहली कारिका से तुलना करें।

कारणाद् यद्यनन्यत्व मतः कार्यमजं तव
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् । ।४।१२ ।

सांख्यवाले प्रकृति को अज कहते हैं और कार्य की कारण से अनन्यता बतलाते हैं। यदि कार्य और कारण एक ही हैं, तो कारण की तरह कार्य को भी अज (जन्म-रहित) मानना चाहिए। यदि कार्य

महत्तत्त्व आदि अज नहीं हैं तो कारण प्रकृति कैसे अज हो सकती है ?

यदि कारण को अज न मानकर उत्पत्तिवाला मानें तो भी नहीं बनता। वह उत्पन्न कारण किसी और से उत्पन्न हुआ होगा, वह किसी और से इस प्रकार अनवस्था हो जायगी।। ४।१३।

नास्त्यसद्धेतुकमसत् सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः।४।४०।

असत् हेतु वाला असत् कहीं नहीं है, असत् जिसका हेतु हो ऐसा सत् पदार्थ भी नहीं है; सत् से उत्पन्न सत्पदार्थ भी नहीं है; सत् हेतुवाला असत् पदार्थ तो हो ही कैसे सकता है ? अभिप्राय यह है कि कार्य-कारण-भाव किसी प्रकार नहीं बनता। उत्पत्ति और नाश के समान ही कारणता की धारणा विरोध-ग्रस्त है।

गौड़पाद को विज्ञानवाद भी अभिप्रेत नहीं है क्योंकि उसमें भी उत्पत्ति की धारणा वर्त्तमान है और गौड़पाद 'अजाति' के समर्थक हैं।

तस्मान्न जायते चित्तंचित्त-दृश्यं न जायते।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम्।४।२८।

चित्त उत्पन्न नहीं होता, चित्त के दृश्य भी उत्पन्न नहीं होते। जो उसकी उत्पत्ति मानते हैं वे आकाश में 'पद' देखते हैं। पद का अर्थ है सरणि या मार्ग। चित्त की उत्पत्ति आकाश-कुसुम के तुल्य है, यह आशय है।

कल्पना-हीन अज ज्ञान ज्ञेय से अभिन्न कहा जाता है। ब्रह्म ज्ञेय है, अज है, नित्य है; अज द्वारा ही वह ज्ञेय है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों अज हैं। (३।३३)

जब मन निगृहीत (समाधिस्थ) होता है तब उसमें कल्पनाएं नहीं रहतीं; यह दशा (योग-द्वारा) ज्ञेय है, यह सुषुप्ति से भिन्न है। सुषुप्ति-दशा में प्रवृत्ति और वासनाओं के बीज वर्त्तमान रहते हैं। ३।३४।

ब्रह्म अज है, निद्रा और स्वप्न रहित है, नाम और रूप हीन है,

सदैव प्रकाश-स्वरूप है, सर्वज्ञ है। ब्रह्म-प्राप्ति के लिये उपचार (किसी प्रकार के अनुष्ठान) की आवश्यकता नहीं है (३।३६)

जब चित्त सुषुप्ति में लय होना छोड़ देता है, जब वह विक्षिप्त नहीं होता, वायु-रहित स्थान में दीप की नाईं जब वह स्थिर हो जाता है, जब उसमें विषयों की कल्पनाएं स्फुरित होना बन्द हो जाती हैं, तब साधक ब्रह्म-स्वरूप हो गया, ऐसा समझना चाहिए। (३।४६)

इस स्वस्थ, शान्त, कैवल्यरूप, अज, अजद्वारा ज्ञेय, अनुत्तम सुख या आनन्द की ही सर्वज्ञ संज्ञा है। आनन्द और ज्ञान ब्रह्म का ही स्वरूप है। (३।४७)

दुर्दर्शं मति गम्भीर मजं साम्यं विशारदम्

बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथा बलम्। ४।१००।

जो ब्रह्म कठिनता से देखा जाता है, जो अतिशय गम्भीर है, जो अज, सम और विशारद है, जो अनेकता-हीन है, उस परमार्थ तत्त्व को यथाशक्ति नमस्कार करते हैं।

छठवां अध्याय

अद्वैत वेदांत

अद्वैत वेदांत के प्रतिपादक श्री शंकराचार्य भारत के दार्शनिक आकाश के सब से प्रभापूर्ण नक्षत्र हैं। उनकी गणना भारत के श्रेष्ठतम विचारकों में होनी चाहिए। याज्ञवल्क्य, आरुणि, गौतम, कणाद और कपिल के अतिरिक्त, जो कोरे दार्शनिक ही नहीं बल्कि ऋषि थे, भारत के किसी दार्शनिक की तुलना शंकर से नहीं की जा सकती। तर्कपूर्ण पाण्डित्य और क्रान्तदर्शिता में रामानुज के अतिरिक्त भारत का दूसरा दार्शनिक शंकर के पास भी नहीं पहुँचता। उपनिषदों और भगवद्गीता की तरह शांकर-भाष्य का स्थान विश्व-साहित्य में है। श्री शंकराचार्य का भाष्य समुद्र की तरह गम्भीर और आकाश-मण्डल की तरह शान्त और शोभामय है। संसार के किसी दार्शनिक ने ऐसे मेधावी टीकाकारों और व्याख्याताओं को आकर्षित नहीं किया, जैसे कि शंकर ने; किसी के इतने अनुयायी नहीं हुये जितने कि शंकर के। अकेले शंकर ने हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक बौद्धों के बौद्धिक साम्राज्य को नष्ट करके वेदांत की दुन्दुभि बजा दी।

श्री शंकराचार्य

शंकर का समय (७८८—८२० ई०) बताया जाता है। उनकी अवस्था सिर्फ़ बत्तीस वर्ष की हुई। कहते है कि आठ वर्ष की अवस्था तक वे सब वेद पढ़ चुके थे। ब्रह्मचर्यावस्था से ही उन्होंने संन्यास ले लिया। शंकर का हृदय बड़ा मृदुल था। कहा जाता है कि संन्यास-धर्म के विरुद्ध उन्होंने अपनी मृतक माता का दाह-संस्कार किया। उनकी मृत्यु केदार-नाथ(हिमालय) में हुई।

एक किंवदन्ती के पता चलता है कि शंकर की कुमारिल से भेंट हुई थी। कुमारिल ने बौद्धों का खण्डन करके अपने कर्म-प्रधान दर्शन का प्रचार किया था। कुमारिल के शिष्य मण्डनमिश्र से शंकर को घोर शास्त्रार्थ करना पड़ा। इस शास्त्रार्थ में मण्डन मिश्र की पत्नी 'भारती' मध्यस्थ थीं। मंडन मिश्र मीमांसा के अद्वितीय पंडित थे। उनके दर्वाज़े पर कीरांगनाएं (सारिकाएं) 'प्रामाण्यवाद' के विषय में बातें करती थीं। शंकर से परास्त हो कर वे अद्वैत-वादी 'सुरेश्वराचार्य' बन गये। इन कथाओं में कितना ऐतिहासिक तथ्य है, यह बताना कठिन है। सुरेश्वर को मंडन मिश्र के नाम से कई प्रसिद्ध लेखकों ने उद्धृत किया है।

वेदान्त का साहित्य

श्री शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र, उपनिषदों और भगवद्गीता पर भाष्य लिखे हैं। उपदेशसाहस्री, शतश्लोकी आदि उनके सरल प्रकरण-ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने दक्षिणामूर्ति स्तोत्र, हरिमीडे स्तोत्र, आनंदलहरी, सौन्दर्यलहरी आदि भी लिखे हैं। अपनी कृतियों से शंकराचार्य कवि, भक्त और दार्शनिक सभी सिद्ध हो जाते हैं। उनके दर्शन को किसी ने अद्वैतवाद, किसी ने मायावाद या मिथ्यात्ववाद और किसी ने (आधुनिक काल में) रहस्यवाद का नाम दिया है।

शांकर भाष्य पर पद्मपाद ने "पंचपादिका"[1] लिखी और श्री वाचस्पति मिश्र ने "भामती।" वाचस्पति मिश्र ने सभी आस्तिक दर्शनों पर महत्त्व पूर्ण ग्रंथ लिखे हैं, परंतु उनमें "भामती" का, जो कि उनकी अंतिम कृति है, स्थान सब से ऊँचा है। 'पंचपादिका' पर प्रकाशात्मन् ने 'विवरण' लिखा। "भामती" पर अमलानंद का 'कल्पतरु' और उस पर अप्पय दीक्षित का 'कल्पतरु-परिमल' प्रसिद्ध हैं। "भामती" और 'विवरण' के नाम से अद्वैतवेदांत के दो संप्रदाय चल पड़े। 'सर्वदर्शन संग्रह' के लेखक माधवाचार्य ने 'विवरण-प्रमेय-संग्रह' और 'पंचदशी'

१—पंचपादिका टीका सिर्फ़ पहले चार सूत्रों (चतुःसूत्री) पर है।

दो ग्रन्थ लिखे हैं। शांकर-भाष्य पर आनंदगिरि का 'न्याय-निर्णय' और गोविंदानंद की 'रत्नप्रभा' भी प्रसिद्ध हैं। शंकर के शिष्य सुरेश्वर ने 'नैष्कर्म्य सिद्धि' और 'वार्त्तिक' दो महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे हैं। सुरेश्वराचार्य के शिष्य श्री सर्वज्ञमुनि का 'संक्षेप शारीरक' भी प्रसिद्ध ग्रन्थ है। श्रीहर्ष का 'खंडन-खंड-खाद्य' (११९० ई०) तर्कनात्मक ग्रन्थों में बहुत प्रसिद्ध है। उक्त ग्रन्थ पर चित्सुखाचार्य की 'चित्सुखी' महत्वपूर्ण टीका है। नवीन ग्रन्थों में मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैतसिद्धि' बहुत प्रसिद्ध है। धर्मराजाध्वरीन्द्र की 'वेदान्त-परिभाषा' (१६ वीं शताब्दी) वेदान्त के सिद्धान्तों का प्रमाणों के अंतर्गत वर्णन करती है। 'शिखामणि' उस पर टीका है। सदानंद का 'वेदांत सार' सरल रूप में वेदांत का तत्त्व समझाता है।

पाठकों को यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि भारतीय दर्शनों की उन्नति और विस्तार टीकाओं के रूप में हुआ है। टीका लिखना हमारे यहां छोटा काम नहीं समझा जाता था। भारत के बड़े-बड़े विचारक टीकाकार के रूप में ही जनता के सामने आए हैं। प्रत्येक टीकाकार मूल-ग्रन्थ से कुछ अधिक कहने की चेष्टा करता है। वाचस्पति, सुरेश्वर, प्रकाशात्मन् जैसे प्रतिभाशाली लेखकों पर किसी भी देश को गर्व हो सकता है, परंतु वे अपने को टीकाकार या व्याख्याता के अतिरिक्त कुछ नहीं समझते। भारतीय दार्शनिकों ने वैयक्तिक यश की विशेष परवाह न की, उन्होंने जो कुछ किया अपने संप्रदाय के लिए किया। फिर भी यह ठीक है कि कभी-कभी टीकाओं और उपटीकाओं की संख्या वैध सीमा का उल्लंघन कर जाती है। 'वेदान्त-सूत्रों' से 'कल्पतरु-परिमल' तक टीकाओं या व्याख्याओं की गिनती आधुनिक विद्यार्थी के लिए विस्मय-जनक है।

मीमांसा की आलोचना

शांकर भाष्य में भारत के प्रायः सभी दर्शनों की आलोचना की गई है। मीमांसकों और वेदांतियों का झगड़ा मुख्यतः दो विषयों पर है।

प्रथमतः, मीमांसक कर्म से मुक्ति मानते हैं और वेदांती ज्ञान से। कुछ विचारकों का मत ज्ञान-कर्म-समुच्चयवाद भी है पर वेदांत उससे सहमत नहीं है। दूसरा झगड़ा श्रुतियों के प्रतिपाद्य के विषय में हैं। मीमांसकों के मत में वेद कर्म-परक हैं, ज्ञान-परक नहीं। वेदांतियों की सम्मति में ब्रह्म का ज्ञान कराना ही श्रुतियों का परम उद्देश्य है। इन दोनों मत-भेदों का हम क्रमशः वर्णन करेंगे।

कर्म और ज्ञान—मोक्ष के साधन

कर्म से मोक्ष की प्राप्ति किस प्रकार होती है इसका वर्णन हम मीमांसा के प्रकरण में कर चुके हैं। मीमांसक विचारकों के अनुसार काम्य तथा प्रतिषिद्ध कर्मों के त्याग और नित्य कर्मों के सतत अनुष्ठान से मुक्ति मिल सकती है। नित्य कर्मों से तात्पर्य संध्या-बंदन आदि से है। वेदांतियों का कथन है कि नित्य-कर्म सब के लिए एक-से नहीं है, वे वर्णादि की अपेक्षा रखते हैं, और द्वैत की भावना के बिना अनुष्ठित नहीं हो सकते। द्वैत-भावना अज्ञान है, उससे मोक्ष की आशा नहीं की जा सकती। मीमांसक भी मानते हैं कि कर्म-फल से छूटने पर ही मुक्ति होती है। परंतु कर्म का मूल अज्ञान है, अज्ञान को नष्ट किये बिना, केवल काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मों को छोड़ देने से, कर्म की जड़ नष्ट नहीं हो सकती और कर्म-फल से छुटकारा भी नहीं मिल सकता।

मोक्ष कर्म का फल नहीं हो सकती; इस विषय में श्री सुरेश्वराचार्य, शांकर-भाष्य का अनुसरण करते हुए कहते हैं :—

उत्पाद्य माप्यं संस्कार्यं विकार्यं च क्रियाफलम्।
नैवं मुक्तिर्यतस्तस्मात्कर्म तस्या न साधनम्॥

नैष्कर्म्य सिद्धि। १।५३

कर्म का फल या तो उत्पाद्य (उत्पन्न करने योग्य वस्तु) होता है या विकार्य; या संस्कार्य अथवा आप्य (प्राप्य)। मुक्ति इनमें से कुछ

भी नहीं है इसलिए वह कर्म का फल नहीं हो सकती। श्री शंकराचार्य लिखते हैं :—

यस्यतूत्पाद्यो मोक्षस्तस्य मानसं, वाचिकं, कायिकं वा कार्यमपेक्षते इति युक्तम्। तथा विकार्यत्वे च तयोः पक्षयोर्मोक्षस्य ध्रुवमनित्यत्वम्।

अर्थात् यदि मोक्ष को उत्पाद्य या विकार्य मानें तो मुक्तावस्था अनित्य हो जायगी। इसी प्रकार संस्कार का अर्थ है दोष दूर करना या गुणारोपण करना। परंतु मोक्ष तो अपने ही स्वरूप के आविर्भाव को कहते हैं। मुक्त होने का अर्थ कहीं जाना भी नहीं है। संयोग का अन्त वियोग में होता है, इसलिए किसी देश या स्थान-विशेष की प्राप्ति मोक्ष नहीं है (संयोगाश्च वियोगान्ता इति न देशादिलाभोऽपि—सांख्यसूत्र)। इस प्रकार मोक्ष कर्म का फल नहीं हो सकती।

तब क्या कर्म मोक्ष-प्राप्ति में बिलकुल सहायक नहीं हो सकते? वेदांत का उत्तर है कि कर्म 'आरादुपकारक' या सहायक मात्र हैं। अच्छे कर्मों से चित्त-शुद्धि और विघ्नों का नाश होता है जिससे कि मुमुक्षु को शीघ्र ज्ञान हो जाता है। परंतु मुक्ति का 'नियतपूर्ववृत्ति' कारण ज्ञान ही है। गीता कहती है,

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारण मुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारण मुच्यते॥

अर्थात् जो मुनि योगारूढ़ होना चाहता है उसे कर्मों से सहायता मिल सकती है, परंतु योगारूढ़ के लिये 'शम' (संन्यास) ही साधन है। इस प्रकार कर्म दूरवर्त्ती उपकारक हैं और ज्ञान साक्षात् उपकारक है।

श्रुति का प्रतिपाद्य केवल कर्म या ब्रह्म भी?

अब हम दूसरे विवाद-ग्रस्त प्रश्न पर आते हैं। प्रभाकर का मत है कि वेद के सब वाक्य क्रिया-परक हैं, सब श्रुतियां 'कुछ करो' का उपदेश करती हैं, 'अमुक वस्तु का ऐसा स्वरूप या धर्म है' यह बतलाना श्रुति का उद्देश्य नहीं है। पारिभाषिक शब्दों में वेद में 'सिद्ध वस्तु' के बोधक वाक्य नहीं हैं। प्रभाकर का

मत है कि भाषा-ज्ञान विना कार्य-परक वाक्यों के नहीं हो सकता। 'गाय लाओ' 'अश्व लाओ' इन दो वाक्यों से गाय और अश्व का भेद समझ में आता है। इसी प्रकार 'गाय लाओ' और 'गाय को बाँधो', इन आज्ञाओं का पालन होता हुआ देखकर बालक 'लाओ' और 'बाँधो' का अर्थ-भेद जान सकता है। सारे सार्थक वाक्यों का संबंध किसी कर्म या क्रिया से होना चाहिए। प्रत्येक शब्द का किसी क्रिया से संबंध रहता है जिससे कि उस शब्द का अर्थ-ज्ञान हुआ था।

अद्वैतवादी उत्तर दे सकता है कि शुरू में शब्दों का अर्थ किसी प्रकार भी सीखा जाय, बाद को शब्दों का प्रयोग क्रिया की ओर संकेत किये बिना सर्वथा संभव है। कुमारिल इस तथ्य को समझता है, परंतु श्रुति आत्म-ज्ञान का साधन है, यह उसे भी स्वीकार नहीं है। अपने मत की पुष्टि के लिए कुमारिल ने 'प्रमाण-व्यवस्था' की दुहाई दी है। प्रत्येक प्रमाण का विषय निश्चित है; एक प्रमाण का विषय दूसरे प्रमाण से नहीं जाना जा सकता। प्रत्यक्ष का विषय श्रुति से जाना जाय यह उचित नहीं है श्रुति का विषय ख़ास तौर से, दूसरे प्रमाणों का अज्ञेय होना चाहिए। जहां प्रत्यक्षादि से काम चल जाय वहां श्रुति उद्धृत करने की क्या आवश्यकता है? क्योंकि आत्मा एक सिद्ध वस्तु है, उसे दूसरे प्रमाणों से जाना जा सकता है; इसलिए आत्मा को श्रुति का प्रतिपाद्य मानना ज़रूरी नहीं है।

'प्रमाण' का यह लक्षण वेदांत को भी स्वीकार है। वेदांत-परिभाषा के अनुसार।

अनधिगताबाधित विषयज्ञानत्वं प्रमात्वम्।

अनधिगत और अबाधित अर्थ-विषयक ज्ञान को प्रमा कहते हैं। ऐसे ज्ञान का साधन 'प्रमाण' है। प्रमाण के इस लक्षण को 'भामती' भी स्वीकार करती है (अबाधितानधिगता संदिग्धबोध जनकत्वंहि प्रमाणत्वं प्रमाणानाम्—१।१।४)। इस लक्षण के अनुसार श्रुति की विषय-वस्तु

प्रमाणान्तर से अज्ञेय होनी चाहिए। वेदांतियों का कथन है कि आत्मा का ज्ञान श्रुति की सहायता के बिना नहीं हो सकता। इस प्रकार 'ब्रह्म श्रुति का प्रतिपाद्य है' इसकी असंभावना नष्ट हो जाती है।

यदि श्रुति के सब वाक्यों को क्रिया-परक माना जाय तो निषेध-वाक्य जैसे 'ब्राह्मण को नहीं मारना चाहिए', व्यर्थ हो जाएंगे। इस के आलावा श्रुति के पचासों वाक्यों की कार्य परक व्याख्या संभव नहीं है। 'उस समय एक अद्वितीय सत् ही वर्त्तमान था' इस वाक्य की कार्य-परक व्याख्या नहीं हो सकती। 'मैं उस औपनिषद् (उपनिषदों में वर्णित) पुरुष के विषय में पूछता हूँ' (तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामि) इत्यादि से सिद्ध होता है कि उपनिषदों में मुख्यतया आत्म-तत्त्व का प्रतिपादन है।

श्री शंकराचार्य कहीं-कहीं कहते हैं कि ब्रह्म सिर्फ श्रुति-द्वारा ज्ञेय है, अन्य प्रमाणों का विषय नहीं है।[1] अन्यत्र उनका कथन है कि 'सिद्ध वस्तु' होने के कारण ब्रह्म-विचार में श्रुति, प्रत्यक्षादि सब का प्रामाण्य है और सब का उपयोग होना चाहिये। ब्रह्म-ज्ञान का फल ही अनुभव-विशेष है।[2]

वेदांत में तर्क का स्थान

ब्रह्मज्ञान में प्रमाणों का क्या उपयोग है इसी से संबद्ध यह प्रश्न भी है कि वेदांतशास्त्र में तर्क का क्या स्थान है? इस विषय में भी शंकराचार्य ने परस्पर-विरोधी बातें कही हैं। 'तर्काप्रतिष्ठानात्' सूत्र पर भाष्य करते हुए शंकर कहते हैं कि ब्रह्म जैसे गम्भीर विषय में तर्क को चुप रहना चाहिए क्योंकि तर्क अप्रतिष्ठित है। यह बहुधा देखा गया है कि एक तार्किक की युक्तियों का दूसरा अधिक चतुर तार्किक खण्डन कर डालता

---

१ न च परिनिष्ठित वस्तु स्वरूपत्वेऽपि प्रत्यक्षादि विषयत्वं ब्रह्मणः। १, १, ४ (पृ० ९२)।

२ श्रुत्यादयोऽनुभवादयश्च यथा संभव मिह प्रमाणम्, अनुभवावसानत्वाद् भूत वस्तु विषयत्वाच्च ब्रह्मज्ञानस्य। १, १, २ (पृ० ५२)

है। तर्क-ज्ञान आपस में विरोधी भी होते हैं—तर्क से परस्पर-विरुद्ध बातें भी सिद्ध की जा सकती हैं।

इस पर प्रतिपक्षी कहता है कि 'तर्क अप्रतिष्ठित है' यह भी तो बिना तर्क के सिद्ध नहीं हो सकता। न बिना तर्क के लोक-व्यवहार ही चल सकता है। शंकर उत्तर देते हैं कि कुछ विषयों में तर्क अवश्य उपयोगी होता है, पर ब्रह्म-विषय में नहीं।

दूसरे स्थानों में शंकर तर्क की प्रशंसा करते हैं। माण्डूक्य-कारिका (३।१) पर टीका करते हुए वे कहते हैं कि केवल तर्क से भी अद्वैत का बोध हो सकता है। गीता में 'ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता' ऐसा कहने वालों को डाँटते हुए वे कहते हैं :—

तथा च तदधिगमाय अनुमाने आगमे च सति ज्ञानं नोत्पद्यत इति साहस मेतत्। गीता २।२१।

अर्थात्—अनुमान और श्रुति के रहते हुए यह कहना कि ब्रह्म का ज्ञान नहीं हो सकता, साहस-मात्र है। यहां आचार्य ने यह मान लिया है कि अनुमान प्रमाण ब्रह्म-ज्ञान में सहायक होता है। यहीं पर शंकर कहते हैं कि ब्रह्म इन्द्रियातीत भी नहीं है,

करणा गोचरत्वादिति चेन्न शास्त्राचार्योपदेश शमदमादिसंस्कृतं मन आत्मदर्शने करणम्।

शास्त्र और आचार्य के उपदेश और शम, दम आदि से शुद्ध किया हुआ मन आत्म-दर्शन का साधन होता है। प्रश्न यह है कि शंकर की इन विरोधी उक्तियों का सामंजस्य कैसे किया जाय?

डायसन आदि विद्वानों ने यह लक्षित किया है कि 'तर्क' की भरसक बुराई करते हुए भी शंकराचार्य ने अपने ग्रंथों में तर्क का स्वच्छन्द प्रयोग किया है।[1] वस्तुतः शंकर की गणना संसार के श्रेष्ठतम तर्क-विशारदों में होनी चाहिए। फिर उनका तर्क के विरोध में इतना आग्रह क्यों है? इस

---

[1] सिस्टम आव् वेदांत, पृ० ९६

प्रश्न के उठानेवाले इस बात को भुला देते हैं कि शंकर ने कहीं-कहीं तर्क की प्रशंसा भी की है। प्रश्न शंकर की इन विभिन्न प्रवृत्तियों में संगति स्थापित करने का है।

शंकर के एक कथन से यह सिद्ध होता है कि वे तर्क को प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि) से भिन्न समझते थे। न्याय का भी यही मत है। वात्स्यायन की सम्मति में तर्क प्रमाणों से भिन्न प्रमाणों का अनुग्राहक (सहायक) मात्र है।[1] वेदांत सूत्र २, २, २८ में आचार्य विज्ञानवाद का खण्डन करते हुए कहते हैं; कि 'जो प्रमाणों से जाना जाय वह संभव है, अन्यथा असंभव, संभवता और असंभवता प्रमाणों से निरपेक्ष नहीं जानी जा सकती। प्रमाण-सिद्ध वस्तु का संभावना-असंभावना के विचार से अपलाप नहीं हो सकता।'[2] जो बात अनुभव-सिद्ध है, जैसे बाह्य जगत की सत्ता, उसका तर्क से खण्डन नहीं किया जा सकता। इसलिए शंकर का मत है कि तर्क को विशृंखल नहीं हो जाना चाहिए। "श्रुति से अनुगृहीत तर्क का ही, अनुभव का अंग होने के कारण, आश्रय लिया जाता है।"[3] अभिप्राय यह है कि जो तर्क अनुभव पर आश्रित नहीं है, वह शुष्क, सारहीन अथवा अप्रतिष्ठित होता है। पंचदशी कहती है :—

स्वानुभूत्यनुसारेण तर्क्यताम् मा कुतर्क्यताम्

नीचे अर्थात् अपने अनुभव के अनुसार तर्क करो, कुतर्क का जाल मत फैलाओ। शंकर के मत में निरंकुश तर्क की अपेक्षा अनुमान-मूलक तर्क

---

१ तर्को न प्रमाण संगृहीतो न प्रमाणान्तरं, प्रमाणानामनुग्राहकस्तत्त्व ज्ञानाय कल्पते। वात्स्यायन भाष्य, (चौखम्बा० डा० गंगानाथ झा द्वारा संपादित), पृ० ३२

२ प्रमाण प्रवृत्यप्रवृत्ति पूर्वकौ संभवासंभवाववधार्येते न पुनः संभवा संभव पूर्विके प्रमाण प्रवृत्यप्रवृत्ती। सर्वैरेव प्रमाणै र्बाह्योऽर्थ उपलभ्यमानः कथं व्यतिरेकाव्यतिरेकादि विकल्पै र्नभवतीत्युच्येतोपलब्धे रेव ? वे० भा० २, २, २८।

३ श्रुत्यनुगृहीत एव ह्यत्र तर्कोऽनुभवाङ्गत्वेनाश्रीयते। वे० भा २,१,६

अधिक प्रबल है। स्वयं अनुमान प्रत्यक्ष पर आश्रित है।[1] इस प्रकार प्रत्यक्ष या अनुभव वेदांत में अन्यतम प्रमाण है। वेदांत का प्रत्यक्ष-विषयक मत महत्त्व पूर्ण भी है। प्रमाणों में हम केवल इसी का वर्णन करेंगे। सांख्य और वेदांत के प्रत्यक्ष-संबंधी विचारों में बहुत समता।

वेदांती प्रत्यक्ष प्रमाण को 'अपरोक्ष' कहना ज्यादा पसंद करते हैं।

प्रत्यक्ष या अपरोक्ष

किसी प्रकार का भी साक्षात् ज्ञान (डाइरेक्ट एक्सपीरियेंस प्रत्यक्ष या अपरोक्ष ज्ञान है। इंद्रिय-संनिकर्ष सर्वत्र आवश्यक नहीं है। सांख्य के मत में दस इंद्रियां और मन अहंकार का कार्य हैं, यहां उन्हें भौतिक माना जाता है। अंतःकरण भी भौतिक है। वेदांती मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार को अंतःकरण-चतुष्टय कहते हैं; संशय, निश्चय, स्मरण और गर्व क्रमशः इनके धर्म हैं। एक ही अंतःकरण (आंतरिक इंद्रिय) के चार क्रियायें करने के कारण यह चार नाम हैं। चारों भूतों का कार्य होते हुए भी अंतःकरण में तेजस् तत्त्व की प्राधानता है। सुषुप्ति के अतिरिक्त सब दशाओं में अंतःकरण सक्रिय रहता है। सांख्य की तरह वेदांत में भी अंतःकरण की वृत्तियां मानी जाती हैं। पदार्थों के प्रत्यक्ष में क्या होता है? अंतःकरण की वृत्ति, किरण की भाँति, निकल कर पदार्थ का आकार धारण कर लेती है। सांख्य के पुरुष की तरह वेदांत की आत्मा अपने चैतन्य से वृत्तियों को प्रकाशित कर देती है और तब ज्ञान उत्पन्न होता है।

वेदांत में 'ज्ञान' का प्रयोग दो अर्थों में होता है। एक अर्थ में वृत्तियों को प्रकाशित करनेवाला चेतन-तत्त्व ही जिसे साक्षि-चैतन्य कहते हैं, ज्ञान वा ज्ञानस्वरूप है। ज्ञान आत्मा का गुण नहीं है, बल्कि स्वरूप ही है। चेतन-तत्त्व ही ज्ञान है। इस प्रकार वेदांत का मत न्याय-वैशेषिक से

---

[1] प्रत्यक्षपूर्वकत्वादनुमानस्य बृहदा० उप० भा० १।२।१

भिन्न है। दूसरे अर्थ में चैतन्य से प्रकाशित बुद्धिवृत्ति ही ज्ञान है।[1] यह मत सांख्य के समान है। पहले अर्थ में ज्ञान नित्य, अखंड और निर्विकार है; दूसरे अर्थ में ज्ञान परिवर्त्तित होता रहता है। पहले ज्ञान को 'साक्षि-ज्ञान' और दूसरे को 'वृत्ति-ज्ञान' कहते हैं।[2] पाठक इन शब्दों को अच्छी तरह याद कर लें। साक्षिज्ञान सुषुप्ति में भी बना रहता है; वृत्तिज्ञान द्रष्टा और दृश्य के संयोग का फल है।

वृत्तिज्ञान के अतिरिक्त भी अंतःकरण के परिणाम होते हैं; सुख, दुःख आदि ऐसे ही परिणाम हैं। सुख, दुख का ज्ञान भी वृत्तियों द्वारा होता है, परंतु उनके ज्ञान में वृत्ति को 'बाहर' नहीं जाना पड़ता। सुख-दुख का ज्ञान भी प्रत्यक्ष-ज्ञान है, इसीलिये इंद्रिय-अर्थ-संनिकर्ष प्रत्यक्ष के लिये आवश्यक नहीं माना गया। वृत्ति का विषयाकार हो जाना ही प्रत्यक्ष का हेतु है। वेदांत का निश्चित सिद्धांत है कि ज्ञान निर्विषयक नहीं होता,[3] मिथ्याज्ञान का भी 'विषय' होता है। 'प्रत्यक्ष' या 'अपरोक्ष' ज्ञान में ज्ञेय वस्तु की सत्ता ज़रूर होती है, यद्यपि यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञेय वस्तु का इंद्रियों से ही ग्रहण हो। जीव का अपना स्वयं प्रत्यक्ष होता है, परंतु इसी कारण 'अहंप्रत्यय' को इंद्रियों का विषय नहीं कह सकते। स्वप्न-दशा में सिर्फ़ सूक्ष्म शरीर सक्रिय होता है और स्थूल शरीर से संयोग छूट जाता है। आप पूछ सकते हैं कि, क्या स्वप्न-प्रत्यक्ष में भी ज्ञेय वस्तुओं की सत्ता होती है? आपको सुनकर आश्चर्य होगा कि वेदांत का उत्तर स्वीकारात्मक है। सुषुप्ति-दशा में सूक्ष्म-शरीर का साथ भी छूट जाता है और कारण-शरीर मात्र रह जाता है। कारण-शरीर से मतलब साक्षी की अज्ञानोपाधि से है। सुषुप्ति-दशा में सूक्ष्म शरीर या लिंग-शरीर अविद्या में लय हो जाता है। साक्षि-चैतन्य का सूक्ष्म-शरीर से

[1] तु० की० विवरण—सांख्य वेदांतिनां करणव्युत्पत्त्या बुद्धिवृत्ति ज्ञानम् भाव व्युत्पत्त्या संवेदनमिति पृ० १७४।

[2] हिरियन्ना, पृ० ३४४। [3] वही पृ० ३४६।

संबद्ध होना-ही 'जीव' की सत्ता का हेतु है। सुषुप्ति-अवस्था में वस्तुतः जीव की, जो कि कर्त्ता और भोक्ता है, सत्ता नहीं रहती। उपनिषद् में लिखा है कि सब प्राणी प्रतिदिन सत् (ब्रह्म) से संपन्न होते हैं, पर इसे जानते नहीं। सुषुप्ति में मनुष्य को, बल्कि हर प्राणी को, ब्रह्मरूपता प्राप्त हो जाती है (समाधिसुषुप्ति सुक्तिषु ब्रह्मरूपता)। अन्तःकरण के निष्क्रिय हो जाने के कारण सुषुप्ति में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता।

हम ने कहा कि सुषुप्ति-अवस्था में सिर्फ़ अज्ञान की उपाधि रह जाती है। यहां उपाधि का अर्थ समझ लेना चाहिए।

उपाधि का अर्थ

यदि 'क' नामक वस्तु 'ख' नामक वस्तु से संसक्त हो कर 'ख' में अपने गुणों का आरोपण कर दे तो 'क' को 'ख' की उपाधि कहा जायगा (स्वस्मिन्निव स्वसंसर्गिणि स्वधर्मासंजक उपाधिः उपसमीपे स्थित्वा स्वीयं रूप मन्यत्रादधातीत्युपाधिः)। आकाश व्यापक है, परंतु घट में जो आकाश है वह परिच्छिन्न है। शास्त्रीय भाषा में हम कहते हैं कि घट की उपाधि से आकाश परिच्छिन्न हो जाता है। घटाकाश, मठाकाश आदि उपाधि-सहित आकाश की संज्ञाएं हैं। इसी प्रकार अविद्या या माया की उपाधि से वेदांत का 'ब्रह्म' 'जीव' बन जाता है।

ऊपर कहा गया है कि वेदांत के मत में स्वप्न के ज्ञेय-पदार्थों की भी सत्ता होती है। यह सत्ता किस प्रकार की है, यह आगे बतलाया जायगा। भ्रम के पदार्थ की भी सत्ता होती है। शुक्ति में जो रजत दिखलाई देती है, रज्जु में जो सर्प दीखता है, उनका भी अस्तित्व होता है। ज्ञान बिना विषय के नहीं होता, इस सिद्धांत को अच्छी तरह याद रखना चाहिए।

नैयायिकों और बौद्धों की दी हुई सत्पदार्थ की परिभाषा हम देख चुके हैं। वेदांतियों ने भी सत् की अलग परिभाषा की है। जिसकी सत्ता हो उसे

अनिर्वचनीय-ख्याति

सत्पदार्थ नहीं कहते।[1] सत्पदार्थ उसे कहते हैं जिसका तीनों कालों में 'बाध' न हो। तीनों कालों में स्थिर रहनेवाली वस्तु 'सत्' है। जिसकी कभी, तीनों कालों में प्रतीति न हो वह 'असत्' है। वेदांतियों के मत में केवल ब्रह्म ही सत्पदार्थ है। खपुष्प और वंध्यापुत्र असत्पदार्थों के उदाहरण हैं।

शुक्ति में जो रजत प्रतीत होती है वह न सत् है, न असत्। शुक्ति-रजत को सत् नहीं कह सकते क्योंकि बाद को शुक्तिका-ज्ञान से उसका 'बाध' हो जाता है; उसे असत् भी नहीं कह सकते क्योंकि उसकी प्रतीति होती है। सत्ख्याति (रामानुज की) और असत्ख्याति (शून्यवादी की) दोनों ही भ्रम की ठीक व्याख्याएं नहीं हैं। अख्याति, अन्यथाख्याति और विपरीतख्याति भी सदोष हैं। वेदांत के मत में भ्रम की व्याख्या अनिर्वचनीय-ख्याति से ठीक-ठीक हो सकती है। भ्रम में जो पदार्थ दीखता है वह 'अनिर्वचनीय' है।

अनिर्वचनीय एक पारिभाषिक शब्द है; पाठकों को इसका अर्थ ठीक-ठीक समझ लेना चाहिए। लोक में अनिर्वचनीय का अर्थ अवर्णनीय समझा जाता है; इसीलिए अक्सर आत्मा या ब्रह्म को अनिर्वचनीय कह दिया जाता है। वास्तव में ब्रह्म अनिर्वचनीय नहीं है। जो चीज़ सत् भी न कही जा सके और असत् भी न कही जा सके उसे अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ है 'सदसद्-विलक्षण' (सत् और असत् से भिन्न)। ब्रह्म तो सत् है, अनिर्वचनीय नहीं। वेदांती लोग माया या अविद्या को अनिर्वचनीय कहते हैं। माया या अज्ञान का वर्णन न सत् कहकर हो सकता है, न असत् कहकर; सत्त्व और असत्त्व से वह अनिर्वचनीय है। भ्रांत ज्ञान में जो पदार्थ दीखता है वह भी अनिर्वचनीय है अर्थात् अनिर्वचनीय अविद्या, माया या अज्ञान का कार्य है। इसी प्रकार स्वप्न के पदार्थ भी अनिर्वाच्य हैं। यही नहीं जाग्रतावस्था के

---

[1] न प्रकाश मानता मात्रं सत्वम्—भामती।

पदार्थ भी मायामय हैं, अनिर्वचनीय हैं। यही वेदांत का मायावाद है। पाठक याद रक्खें, वेदांत यह नहीं कहता कि जगत् है ही नहीं अथवा जगत् के पदार्थों की सत्ता नहीं है। यदि ऐसा होता तो जगत् अनिर्वचनीय न हो कर असत् होता, जैसा कि माध्यमिक का मत बतलाया जाता है। जगत् मिथ्या है, शून्य नहीं; अनिर्वचनीय है, असत् नहीं। शून्यत्व और मिथ्यात्व में भेद है इसलिये शून्यवाद और अनिर्वचनीयवाद भी भिन्न-भिन्न हैं।

विवर्त्तवाद

वेदांत का कारणता-संबंधी सिद्धांत 'विवर्त्तवाद' कहलाता है। हम देख चुके हैं कि नैयायिक का असत्कार्यवाद और सांख्य का सत्कार्यवाद दोनों कठिनाई में डाल देते हैं, दोनों सदोष हैं। इसलिये वेदांत का कथन है कि उत्पत्ति से पहले कार्य को न तो नैयायिकों की तरह असत् मानना चाहिए, न सांख्यों की तरह सत्। कार्य वास्तव में अनिर्वचनीय होता है। सत् कारण से अनिर्वचनीय कार्य उत्पन्न होता है। अनिर्वचनीय कार्य का पारिभाषिक नाम 'विवर्त्त' है। परिणामवाद (जो कि सांख्य का सिद्धांत है) और विवर्त्तवाद में क्या भेद है इसे वेदांत परिभाषा इस प्रकार बतलाती है,

परिणामो नामोपादान सम सत्ताक कार्यापत्तिः।
विवर्त्तो नामोपादान विषम सत्ताक कार्यापत्तिः।[1]

अर्थात्—उपादान कारण का सदृश कार्य परिणाम कहलाता है और विषम कार्य विवर्त्त। यह सादृश्य और विषमता सत्ता की श्रेणी या प्रकार में होती है। दही दूध का परिणाम है और सर्प रस्सी का विवर्त्त। दही और दूध की सत्ता एक प्रकार की है, सर्प और रस्सी की दो प्रकार की। सर्प की सत्ता सिर्फ़ कल्पना में है; देश और काल में नहीं।

---

[1] पृष्ठ १४१ वेदांतसार में लिखा है:—
सतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विकार इत्युदीरितः
अतत्त्वतोऽन्यथा प्रथा विवर्त्त इत्युदीरितः।

ब्रह्म की सत्ता 'पारमार्थिक' या तात्त्विक सत्ता है; इस सत्ता का कभी 'बाध' नहीं होता। स्वप्न के पदार्थों की 'प्रातिभासिक' सत्ता है; शुक्ति में दीखनेवाली रजत की सत्ता भी ऐसी ही है। 'प्रातिभासिक' सत्तावाले पदार्थ सब देखनेवालों के लिये एक-से नहीं होते, उन्हें लेकर व्यवहार नहीं किया जा सकता। जगत् के कुर्सी, मेज़, वृक्ष आदि पदार्थों की 'व्यावहारिक' सत्ता है जो सब देखनेवालों के लिये एक-सी है। स्वप्न और भ्रम के पदार्थों का बाध या नाश जाग्रतावस्था या ठीक व्यावहारिक ज्ञान से हो जाता है। जाग्रतावस्था के पदार्थ भी, जिनकी व्यावहारिक सत्ता है, तत्त्वज्ञान होने पर नष्ट हो जाते हैं। वास्तविक ज्ञानी के लिये ब्रह्म के अतिरिक्त कोई सत्पदार्थ नहीं है। जैसे जागे हुये के लिये स्वप्न के पदार्थ झूठे हो जाते हैं, वैसे ही ज्ञानी के लिये जगत् मिथ्या हो जाता है। अब पाठक 'विवर्त्त' का अर्थ समझ गये होंगे। सर्प रस्सी का विवर्त्त है क्योंकि उसकी सत्ता रस्सी से भिन्न प्रकार की है—रस्सी की व्यावहारिक सत्ता है और सर्प की प्रातिभासिक। इसी प्रकार जगत् ब्रह्म का विवर्त्त है, ब्रह्म की पारमार्थिक सत्ता है और जगत् की व्यावहारिक।

तीन प्रकार की सत्ताएं

प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से व्यावहारिक सत्तावाले जगत के पदार्थों का ज्ञान हो सकता है; ब्रह्म के ज्ञान के लिए श्रुति ही एक मात्र अवलंबन है। उपनिषदों में जो परा और अपरा विद्याओं का भेद किया गया है, वह शंकर को स्वीकार है। अपरा विद्या की दृष्टि से जीव और जड़ पदार्थ बहुत से हैं, संसार में भेद है। इसके बिना व्यवहार नहीं चल सकता, इसलिए इसे व्यावहारिक ज्ञान भी कह सकते हैं। सब जीवों की एकता और विश्व-तत्त्व के ऐक्य का ज्ञान परा विद्या है। क्योंकि उपनिषद् इस ज्ञान को शिक्षा देते हैं, इसलिए उपनिषदों की भी 'परा विद्या' संज्ञा है। परा विद्या वह है जिससे ब्रह्म का ज्ञान हो (अथ परा यथा तदक्षरमधिगम्यते)। इस प्रकार

'पारमार्थिक ज्ञान' और 'व्यावहारिक ज्ञान' में भेद है। अद्वैत दर्शन में इस भेद का महत्त्वपूर्ण स्थान है। तर्काप्रतिष्ठानात्—सूत्र की व्याख्या में शंकराचार्य कहते हैं कि एक तार्किक की युक्तियों का दूसरा तार्किक खंडन कर डालता है। संसार के तीनों कालों के तार्किकों को इकट्ठा करना संभव नहीं है जिससे कि सत्य का निश्चय किया जा सके। इसलिए तर्क अप्रतिष्ठित है। श्रुति और तर्क में विरोध होने पर तर्क को त्याग देना चाहिए।

श्रुति कहती है कि विश्व में एक ही चेतन तत्त्व है जिसको जानने से सब कुछ जाना जाता है। यह तत्त्व सत्, चित् और आनंद स्वरूप है। परंतु हमारा व्यावहारिक ज्ञान इसके विरुद्ध साक्षी देता है, इसका क्या कारण है? शंकर का उत्तर है कि इसका कारण 'अध्यास' या मिथ्या-ज्ञान है।

अध्यास

'जो जैसा न हो उसे वैसा जानना' यह अध्यास का लक्षण है। एक वस्तु में दूसरी वस्तु के गुणों का आरोप और प्रतीति अध्यास है। रज्जु में सर्प का दीखना, शुक्ति में रजत की प्रतीति, रेते में जल का अनुभव यह सब अध्यास के उदाहरण हैं। अध्यास का अर्थ है मिथ्याज्ञान (एतावता मिथ्या ज्ञान-मित्युक्तं भवति—भामती)। श्री शंकराचार्य ने अध्यास का लक्षण 'स्मृति रूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'[1] किया है। स्मृति ज्ञान में ज्ञान का विषय उपस्थित नहीं होता, इसी प्रकार मिथ्याज्ञान का विषय भी सद्रूप से वर्तमान नहीं होता। स्वप्न-ज्ञान भी अध्यास-रूप है। यथार्थ ज्ञान में ज्ञान का विषय जैसा जाना जाता है वैसा उपस्थिति होता है। आत्मा में जो परिच्छिन्नता, अनेकता और दुःख की प्रतीति होती है, उसका कारण अध्यास है। अज्ञानवश हम आत्मा में अनात्मा के गुणों का आरोप कर डालते हैं और अनात्मा में आत्मा के। हम आत्मा को सुखी, दुःखी,

---

[1] वेदांत भाष्य भूमिका

कृश और स्थूल कहते हैं तथा देह को चेतन। यह जड़ और चेतन का परस्पराध्यास है। प्रश्न यह है कि इस प्रकार का अध्यास कब और कैसे संभव हो सका। पहले प्रश्न के उत्तर में शंकर का कथन है कि यह अध्यास अनादि और नैसर्गिक है (स्वाभाविकोऽनादिरयं व्यवहारः—वाचस्पति)। दूसरा प्रश्न यह है—आत्मा में अनात्मा का अध्यास संभव कैसे है? शंकर के शब्दों में,

कथं पुनः प्रत्यगात्मन्यविषयेऽध्यासो विषयतद्धर्माणाम्। सर्वोहि पुरोऽवस्थिते विषये विषयान्तरमध्यस्यति, युष्मत्प्रत्ययापेतस्य च प्रत्यगात्मनोऽविषयत्वं ब्रवीषि।

उच्यते, न तावदयमेकान्तेनाविषयः, अस्मत्प्रत्यय विषयत्वात्, अपरोक्षत्वाच्च प्रत्यगात्मप्रसिद्धेः।[1]

प्रश्न-कर्त्ता कहता है कि आत्मा में विषय का, जड़ जगत् का, अध्यास कैसे होता है, यह समझ में नहीं आता। जो वस्तु सामने होती है उसी में दूसरी वस्तु का अध्यास किया जा सकता है, रस्सी के सम्मुख होने पर ही उसमें सर्प का भ्रम हो सकता है; आपके कथनानुसार तो आत्मा विषय नहीं है, प्रमाणों से ज्ञेय नहीं है, फिर उसमें जड़ जगत् और उसके धर्मों का अध्यास कैसे संभव है?

उत्तर में शंकराचार्य कहते हैं कि आत्मा ज्ञान का विषय ही न हो, ऐसा नहीं है। यह ठीक है कि आत्मा अन्य विषयों की तरह नहीं जानी जाती, परंतु वह अस्मत्प्रत्यय का विषय है। 'मैं हूँ' इस ज्ञान में आत्म-प्रतीति होती है। चैतन्यमय आत्मा का अपरोक्ष ज्ञान भी है।

यदि चिदात्मा को अपरोक्ष न मानें तो उसके प्रथित (प्रसिद्ध, ज्ञात) न होने से सारा जगत् भी प्रथित न हो सकेगा और सब कुछ अंध या अप्रकाश हो जायगा (वाचस्पति)। जगत् जड़ है, वह स्वतः-प्रकाशित

---

[1] वही भूमिका।

नहीं है, यदि आत्मा को भी स्वतः-प्रकाशित न मानें तो जगत् में कहीं भी प्रकाश न मिल सकेगा।

पाठक देखेंगे कि शंकराचार्य की इन पंक्तियों में आत्म-सत्ता की सिद्धि के लिए एक विशेष प्रकार की युक्ति का प्रयोग किया गया है। मीमांसकों से शास्त्रार्थ करते समय वेदांती लेखक कह देते हैं कि आत्मा श्रुति के बिना ज्ञेय नहीं है। इसका अभिप्राय यही समझना चाहिए कि आत्मा का स्वरूप श्रुति की सहायता बिना प्रत्यक्षादि प्रमाणों से नहीं जाना जा सकता। परंतु आत्मा की सत्ता सिद्ध करने के लिए श्रुति की अपेक्षा नहीं है; आत्मसत्ता की सिद्धि शब्द प्रमाण पर निर्भर नहीं है। फिर क्या आत्म-सिद्धि के लिए किसी और प्रमाण से काम लेना पड़ेगा? वेदांत का उत्तर है, नहीं। आत्मा स्वयं-सिद्ध है, वह किसी प्रमाण की अपेक्षा नहीं करती।

आत्मा की स्वयं-सिद्धता

जैन-दर्शन, न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग और मीमांसा में भी आत्म-सत्ता को अनुमान द्वारा सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। आत्मा को शरीर, इंद्रियों और मन से भिन्न भी सिद्ध किया गया है। परंतु वेदांत आत्म-सत्ता की सिद्धि में अनुमान का प्रयोग नहीं करता। जिस अनुमान से आप आज आत्मा को सिद्ध करना चाहते हैं उसमें कल कोई आपसे बड़ा तार्किक दोष निकाल सकता है। ईश्वर के अनुमान में संसार के विचारकों का एक मत आज तक न हो सका। इसलिए वेदांत-दर्शन अपने चरम तत्त्व आत्मा की सिद्धि के लिए अनुमान प्रमाण पर निर्भर नहीं रहना चाहता।

परंतु किसी न किसी प्रकार की युक्ति तो देनी ही पड़ेगी। इस युक्ति का निर्देश हम ऊपर कर चुके हैं। संसार के सारे विचारक एक बात पर एक मत हैं, वह यह कि हमें किसी न किसी प्रकार का अनुभव अवश्य

होता है। जीवन अनुभूतिमय है; रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, सुख, दुःख आदि का अनुभव, अपनी चेतना का अनुभव, यह जीवन की साधारण घटनाएं हैं। इस घटना के दृढ़ आधार (नींव) पर खड़े होकर हमें दार्शनिक प्रक्रिया का आरंभ करना चाहिए। वेदांत का कथन है कि किसी प्रकार का भी अनुभव या अनुभूति चैतन्य-तत्त्व के बिना नहीं हो सकती। यदि ज्ञेय की तरह ज्ञाता भी जड़ है, तो ज्ञान या चैतन्य की किरण कहां से फूट पड़ती है ? विश्व-ब्रह्मांड से अनुभव-कर्त्ता को निकाल दीजिए और आप देखेंगे कि संसार में प्रकाश नहीं है, ज्ञान नहीं है, ऐक्य नहीं है, भेद नहीं है। चेतन-तत्त्व के बिना विश्व नेत्रहीन हो जायगा (प्राप्तमान्ध्यमशेषस्य जगतः—वाचस्पति)। इसलिए यदि आप चाहते हैं कि आपका प्रमाण-प्रमेय व्यवहार चलता रहे, आपके तर्क सार्थक हों, तो आपको आत्मतत्त्व की स्वयं-सिद्धता को स्वीकार कर लेना चाहिए। आत्मा को माने बिना किसी प्रकार का अनुभव संभव नहीं हो सकता, इसलिए आत्मा की सत्ता अनुभव या अनुभूति (एक्सपीरियंस) की सत्ता में ओतप्रोत है। आत्मा व्यापक है और अनुभव व्याप्य; व्यापक के बिना व्याप्य नहीं रह सकता। अग्नि के बिना धूम की सत्ता संभव नहीं है, यह तर्कशास्त्र का साधारण नियम है। श्री शंकराचार्य लिखते हैं :—

आत्मत्वाच्चात्मनो निराकरणशंकानुपपत्तिः । नह्यात्माऽऽगंतुकः कस्यचित्, स्वयं सिद्धत्वात्। नह्यात्मात्मनः प्रमाणमपेक्ष्य सिध्यति। तस्य हि प्रत्यक्षादीनि प्रमाणान्यन्याप्रसिद्धप्रमेयसिद्धय उपादीयंते।... आत्मातु प्रमाणादि व्यवहाराश्रयत्वात्प्रागेव प्रमाणादि व्यवहारात् सिध्यति। न चेदृशस्य निराकरणं संभवति। आगंतुकं हि वस्तु निराक्रियते न स्वरूपम्। य एव हि निराकर्त्ता तदेव तस्य स्वरूपम्। न ह्यग्नेरौष्ण्यमग्निना निराक्रियते। (वेदांत भाष्य, २।३।७)

इस महत्त्वपूर्ण वाक्य-समूह को हमने उसके सौन्दर्य और स्पष्टता के के कारण विस्तार से उद्धृत किया है। इसका अर्थ यही है कि 'आत्मा

होने के कारण ही आत्मा का निराकरण संभव नहीं है। आत्मा बाहर की चीज़ नहीं है, वह स्वयं-सिद्ध है। आत्मा आत्मा के प्रमाणों से सिद्ध नहीं होता क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणों का प्रयोग आत्मा अपने से भिन्न पदार्थों की सिद्धि में करता है। आत्मा तो प्रमाणादि व्यवहार का आश्रय है, और प्रमाणों के व्यवहार से पहले ही सिद्ध है। आगन्तुक (आई हुई, बाह्य) वस्तु का ही निराकरण होता है न कि अपने रूप का। यह आत्मा तो निराकरण करनेवाले का ही अपना स्वरूप है। अग्नि अपनी उष्णता का निराकरण कैसे कर सकती है?'

आगे आचार्य कहते हैं कि आत्मा 'सर्वदा-वर्त्तमान-स्वभाव' है, उसका कभी अन्यथा-भाव नहीं होता। पहले सूत्र की व्याख्या में ब्रह्म की सिद्धि भी इसी प्रकार की गई है। सब की आत्मा होने के कारण ब्रह्म का अस्तित्व प्रसिद्ध ही है (सर्वस्यात्मत्वाच्च ब्रह्मास्तित्व-प्रसिद्धिः—१।१।१)। आत्मा ही ब्रह्म है। इस प्रकार वेदांत के विश्व-तत्त्व की सत्ता स्वयं-सिद्ध है। जो आत्मा और परमात्मा में भेद मानते हैं वे ब्रह्म या ईश्वर की सत्ता त्रिकाल में भी सिद्ध नहीं कर सकते।

यह विषय बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। आत्मा की सिद्धि के लिए वेदांत ने जो युक्ति दी है वह दर्शनशास्त्र का अन्तिम तर्क है। जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक कॉण्ट ने शंकर के ग्यारह सौ वर्ष बाद इसी तर्क से 'ईगो' या अनुभव-केन्द्र (यूनिटी ऑव ऐपर्सेप्शन) की सिद्धि की है। केवल इस युक्ति के आविष्कार के कारण ही कॉण्ट का स्थान योरुप के धुरन्धर दार्शनिकों में है। कॉण्ट की युक्ति ट्रांसेंडेण्टल युक्ति कही जाती है। शंकर ने इस युक्ति का प्रयोग कई जगह किया है, यद्यपि उसे कोई विशेष नाम नहीं दिया है। शंकर के अनुयायी भी इस युक्ति के महत्त्व को भली प्रकार समझते थे। सुरेश्वराचार्य कहते हैं:—

यतोऽराद्धिःप्रमाणानां स कथं तैः प्रसिध्यति

अर्थात् जिससे प्रमाणों की सिद्धि होती है वह प्रमाणों से कैसे सिद्ध होगा ? प्रमाता के बिना प्रमाणों की चर्चा व्यर्थ है। याज्ञवल्क्य ने कहा था—विज्ञातारमरे केन विजानीयात्, जो सब को जाननेवाला है उसे किस प्रकार जाना जा सकता है। सूर्य के लिये प्रकाश की आवश्यकता नहीं है। प्रमाणों के प्रकाशक आत्मा को प्रमाण प्रकाशित नहीं कर सकते।

आत्मा की स्वयं-सिद्धता वेदांत की भारतीय दर्शन को सब से बड़ी देन है। भारत के किसी दूसरे दर्शन ने इस महत्त्वपूर्ण विषय पर ज़ोर नहीं दिया। जहां तार्किक-शिरोमणि नैयायिक अनुमान के भरोसे बैठे रहे, वहां वेदांतियों ने विश्व-तत्त्व को आत्म-तत्त्व से एक बताकर स्वतःसिद्ध कथन कर डाला।

आत्मा का स्वरूप

आत्मा की सत्ता तो स्वयं-सिद्ध है परंतु आत्मा का विशेष ज्ञान श्रुति पर निर्भर है, यह शंकराचार्य का सिद्धांत है। उनके अनुयायियों ने आत्मा के स्वरूप को अनुमान द्वारा पकड़ने की कोशिश की है। आत्मा सत् और चित् है, यह तो आत्म-सत्ता के साथ ही सिद्ध हो जाता है; आत्मा आनंद स्वरूप भी है, यह श्रुति और अनुमान के बल पर सिद्ध किया गया है। संक्षेप शारीरक के लेखक श्री सर्वज्ञात्म मुनि ने आत्मा की आनन्द-रूपता सिद्ध करने को दो युक्तियां दी हैं।

आत्मा सुखस्वरूप इस लिये है कि उसका और सुख का लक्षण एक ही है; सुख का लक्षण आत्मा में घटता है। "जो वस्तु अपनी सत्ता से ही परार्थता को छोड़ देती है उसे सुख कहते हैं।" सब पदार्थों की कामना सुख के लिये की जाती है परंत सुख की कामना किसी अन्य वस्तु के लिये नहीं होती, स्वयं सुख के लिए ही होती है। इसलिए सुख वह है जो परार्थ या दूसरे के लिये नहीं है। सुख का यह लक्षण आत्मा में भी वर्त्तमान है, इसलिए आत्मा सुख-स्वरूप है।

सब चीजें आत्मा के लिये हैं, आत्मा किसी के लिये नहीं है (संक्षेप शारीरक, १।२४)।

सुख का दूसरा लक्षण यह है कि उसमें उपाधि-हीन प्रेम होता है; अन्य वस्तुओं का प्रेम औपाधिक है। आत्मा में भी उपाधि-शून्य प्रेम होता है। याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा के लिये ही सब वस्तुएं, पिता पुत्र, भार्या, धन आदि, प्रिय होते हैं। इस युक्ति से भी आत्मा आनन्द-स्वरूप है। (१।२५)।

श्री सुरेश्वराचार्य ने आत्मा की आनंदमयता या दुःख-शून्यता सिद्ध करने के लिये दूसरी युक्ति दी है। वे कहते हैं :—

> दुःखी यदि भवेदात्मा कः साक्षी दुःखिनो भवेत्।
> दुःखिनः साक्षिताऽयुक्ता साक्षिणो दुःखिता तथा।
> नर्तेस्याद् विक्रियां दुःखी साक्षिता का विकारिणः।
> धीविक्रिया सहस्राणां साक्ष्यतोऽहमविक्रियः।
>
> (नैष्कर्म्यसिद्धि, २। ७६, ७७)

यदि आत्मा को दुःखी माना जाय तो दुःखी होने का, अथवा 'मैं दुःखी हूँ' इसका, साक्षी कौन होगा? जो दुःखी है वह साक्षी (द्रष्टा) नहीं हो सकता और साक्षी को दुःखी मानना ठीक नहीं। बिना विकार के आत्मा दुःखी नहीं हो सकता, और यदि आत्मा विकारी है तो वह साक्षी नहीं हो सकता। बुद्धि के हजारों विकारों का मैं साक्षी हूँ इसलिये मैं विकार-हीन हूँ, यह सिद्धांत सांख्य के अनुकूल ही है।

यदि वास्तव में आत्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त-स्वभाव है तो उसमें अनित्यता, अशुद्धि, अल्पज्ञता और बंधन का दर्शन झूठा होना चाहिए। अध्यास के सद्भाव में यही युक्ति है। यही नहीं अनुभव भी अध्यास की विद्यमानता की गवाही देता है। उपनिषद् ऋषियों के अनुभव का शब्द-मय वर्णन मात्र हैं। ऋषियों या आप्तों के अनुभवों का कोई भी साधक अपने जीवन में साक्षात् कर सकता है। वेदांत की दृष्टि में सब प्रमाणों

की अपेक्षा अपना अनुभव अधिक विश्वसनीय है। ब्रह्मज्ञान तभी सार्थक है जब वह अपने साथ विश्व-तत्त्व की एकता का व्यावहारिक अनुभव लाए। वास्तविक ज्ञान जीवन को प्रभावित करता है; वह साधारण व्यक्ति को गीता का स्थितप्रज्ञ या जीवन्मुक्त बना देता है।

अध्यास के लिये यह आवश्यक नहीं है कि अध्यास के अधिष्ठान (शुक्ति) और अध्यस्त पदार्थ (रजत) में समता या सादृश्य ही हो। आत्मा में मनुष्यत्व, पशुत्व, ब्राह्मणत्व आदि का अध्यास होता है, परंतु आत्मा और मनुष्यत्व, पशुत्व, या ब्राह्मणत्व में कोई सादृश्य नहीं है। इसी प्रकार विषय दोष या करण दोष (इंद्रियादि का दोष) भी अपेक्षित नहीं है। अध्यस्त वस्तु का पूर्व संस्कार भी ज़रूरी नहीं है।[1] अध्यास का पुष्कल कारण अज्ञान है; अज्ञान की सत्ता अध्यास को जन्म देने को यथेष्ट है। अज्ञान, अविद्या या माया यही अध्यास का बीज है।

यदि एक निर्गुण, निरंजन, निर्विकार ब्रह्म ही वास्तविक तत्त्व है तो

माया

यह जगत् कहां से आया? एक से अनेक की उत्पत्ति कैसे हुई? भेद-शून्य से भेदों की सृष्टि कैसे हुई? पर्वत, नदी, वृक्ष, तरह-तरह के जीवित प्राणी एक निर्विशेष तत्त्व में से कैसे निकल पड़े? एक और अनेक में क्या संबंध है? मानव-जाति एक है और मनुष्य अनेक; इन अनेक मनुष्यों में जो मनुष्यत्व की एकता है उसका क्या स्वरूप है? यह दर्शनशास्त्र की प्रथम और अंतिम समस्या है; मस्तिष्क को उलझन में डालनेवाली यह प्रमुख पहेली है। न एकता से इनकार करते बनता है न अनेकता से, और दोनों में संबंध सोचना असंभव मालूम पड़ता है। हज़ारों प्राणियों में एक-सी प्रवृत्तियां पाई जाती हैं। जीव-विज्ञान बतलाता है कि प्राणियों की असंख्य जातियों के असंख्य व्यक्तियों में एक ही जीवन-धारा प्रवाहित हो रही है। जातियों के भेद तात्त्विक नहीं हैं; एक जाति दूसरी जाति में परिवर्तित हो जाती

१ दे० सक्षेप शारीरक, १।२८-३०

है। प्राणि-वर्गों का यह जाति-परिवर्त्तन ही विकास है। मछली और बंदर धीरे-धीरे मनुष्य बन जाते हैं। हमारा प्रश्न यह था कि प्राणियों के भेदों में व्यापक जीवन की यह एकता क्या है, उसे कैसे समझा जा सकता है?

कविता लिखकर कवि निश्चल नहीं बैठ सकता, अपनी कविता उसे किसी को सुनानी ही पड़ेगी। आलोचकों की झिड़कियां सहकर भी साहित्य-कार साहित्य-रचना से बाज़ नहीं आ सकता। जेल जाकर भी गेलिलिओ को यह घोषणा करनी ही पड़ी कि पृथ्वी सूर्यमंडल के चारों ओर घूमती है। हम अपने सत्य और सौंदर्य के अनुभव को छिपाकर नहीं रख सकते। हमें विधाता ने ही परमुखापेक्षी बनाया है। समाज के बिना हम जीवित नहीं रह सकते। एकांत-वास का आनंद मनुष्य के लिये नहीं है। योगी भी किसी से योग चाहता है। हम पूछते हैं कि हम में एक-दूसरे में प्रवेश करने की इतनी प्रबल उत्कंठा क्यों है? कौन शक्ति हमें एकता के सूत्र में बाँधे हुये हैं? और हम में भेद क्यों है, हम संघर्ष और घृणा-द्वेष में क्यों फँसते हैं, यह भी विचारणीय विषय है।

वेदांत का उत्तर है कि जगत् के दो कारण हैं; एक तात्त्विक और दूसरा अतात्त्विक या अनिर्वचनीय। अभेद का कारण हम में ब्रह्म की उपस्थिति है और भेद का कारण हमारी अविद्या है। एक ब्रह्म की सत्ता खंड-खंड होकर दीखती है। नाम-रूप के योग से एक अनेक हो जाता है। ब्रह्म जगत् का विवर्त्तकारण है और विश्व के विवर्त्तों का कारण अविद्या या माया है। सांख्य की प्रकृति के समान माया जगत् का उपा-दान कारण है। जगत् माया का परिणाम है और ब्रह्म का विवर्त्त। कुछ विद्वान् यों भी कहते हैं कि माया-सचिव (माया-युक्त) ब्रह्म ही जगत् का कारण है। मूल बात यह है कि माया की उपस्थिति के कारण निर्गुण और अखंड ब्रह्म नामरूपात्मक जगत् के रूप में परिवर्तित प्रतीत होने लगता है।

माया या अविद्या मेरी या आपकी चीज़ नहीं है; वह सार्वजनिक और सार्वभौम है; वह ब्रह्म की चीज़ है। माया को मैंने या आपने नहीं बुलाया, वह अनादि है और स्वाभाविक है। आप में और मुझमें भेद डालनेवाली यह माया कब और कहां से आई, यह कोई नहीं बता सकता। आपको पाठक और मुझे लेखक किसने बनाया, कोई नहीं कह सकता। स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्ध, ईंट और पत्थर का भेद माया की सृष्टि है। यह माया न सत् है न असत्, यह अनिर्वचनीय है। माया का कार्य जगत् भी अनिर्वचनीय है। सर राधाकृष्णन् कहते हैं कि माया वेदांतियों की 'ब्रह्म और जगत् में संबंध बता सकने की अशक्ति या अक्षमता' का नाम है। क्रिश्चियन लेखक अर्कहार्ट कहता है कि रहस्यवादी की एकता की अनुभूति उसे भेदों को 'माया' कहने को बाध्य करती है।[1]

जो अनादि और भावरूप (पाज़िटिव) है, जो ज्ञान से नष्ट हो जाती है, जो सत् और असत् से विलक्षण है, वह अज्ञान है, वह माया है। 'भावरूप' का अर्थ यही है कि माया 'अभावरूप' नहीं है, उसकी सत्ता है (अभावविलक्षणत्व मात्रं विवाक्षितम्)।

माया या अज्ञान में दो शक्तियां हैं, एक आवरण-शक्ति और दूसरी विक्षेप-शक्ति। अपनी पहली शक्ति के कारण माया आत्मा के वास्तविक स्वरूप को ढक लेती है; अपनी दूसरी शक्ति के बल पर वह जगत् के पदार्थों की सृष्टि करती है। श्री सर्वज्ञमुनि कहते हैं,

> आच्छाद्य विक्षिपति संस्फुरदात्मरूपम्
> जीवेश्वरत्व जगदाकृतिभिर्मृषैव।
> अज्ञान मावरण विभ्रमशक्तियोगात्
> आत्मत्वमात्र विषयाश्रयता बलेन ॥ सं० शारीरक १।२०।

अर्थात् आत्म-विषयक और आत्माश्रयी अज्ञान आत्मा के ज्योतिर्मय रूप को ढक कर अपनी विभ्रमशक्ति से आत्म-तत्त्व को जीव, ईश्वर और

[1] वेदांत और माडर्न थाट, पृ० १०६

जगत् की आकृतियों में विक्षिप्त कर देता है। सर्वज्ञमुनि के गुरु सुरेश्वराचार्य भी अज्ञान शब्द का प्रयोग करना पसंद करते हैं।

थोड़ी देर के लिये हम भी 'अज्ञान' शब्द का प्रयोग करेंगे। अज्ञान अनादि और भावरूप है, यह ऊपर कहा जा चुका है। प्रश्न यह है कि (१) अज्ञान रहता कहां है, अज्ञान का आश्रय क्या है; और (२) अज्ञान किसका है, अज्ञान का विषय क्या है। अज्ञान ब्रह्म का है, या ब्रह्म-विषयक है इस विषय में प्रायः मतैक्य है। वाचस्पति के मत में अज्ञान का आश्रय जीव है; सुरेश्वर, सर्वज्ञमुनि और प्रकाशात्मन् की सम्मति में अज्ञान का आश्रय और विषय दोनों ब्रह्म है (आश्रयत्व विषयत्वभागिनी, निर्विभाग चितिरेव केवला—सर्वज्ञमुनि)। संक्षेप-शारीरक में वाचस्पति के मत का खण्डन किया गया है। सर्वज्ञमुनि कहते हैं,

अज्ञान का आश्रय और विषय

पूर्व सिद्ध तमसोहि पश्चिमो
नाश्रयो भवति, नापि गोचरः।१।३१९।

अज्ञान जीव से पहले की वस्तु है और जीव का कारण है; अज्ञान पूर्व-सिद्ध है, जीव बाद को आता है। इसलिए जीव अज्ञान का न आश्रय हो सकता है, न विषय। इसी प्रकार जड़-तत्त्व भी अज्ञान का आश्रय नहीं हो सकता, क्योंकि जड़ जगत् भी, जीव की तरह अज्ञान से उत्पन्न होता है। कार्य अपने कारण का आश्रय या विषय कभी नहीं बन सकता।

वाचस्पति के अनुयायियों का उत्तर है कि यह प्रश्न करना कि 'जीव पहले या अज्ञान' व्यर्थ है, बीज और अंकुर की तरह उनका संबंध अनादि है। पहले अविद्या थी जिससे जीव उत्पन्न हुआ, यह कथन भ्रमात्मक है। ऐसा कोई समय न था जब जीव नहीं थे, इसलिए जीव को अविद्या का आश्रय मानने में कोई दोष नहीं है।

वास्तव में माया और अविद्या एक ही वस्तु हैं।[1] शंकराचार्य ने सृष्टि का हेतु बताने में दोनों शब्दों का प्रयोग किया है। ब्रह्मसूत्र की भूमिका में उन्होंने अध्यास का निमित्त मिथ्याज्ञान को बतलाया है जो अविद्या का पर्याय है। 'कृत्स्न-प्रसक्ति' नामक अधिकरण के भाष्य में भी ब्रह्म के अनेक रूपों को अविद्या-कल्पित बतलाया है (अविद्या कल्पित रूप भेदाभ्युपगमात्—२।१।२७)। कहीं-कहीं वे माया शब्द का प्रयोग भी करते हैं। 'जैसे मायावी अपनी फैलाई हुई माया में नहीं फँसता वैसे ही ब्रह्म जगत् के नानात्व से स्पर्श नहीं किया जाता'। इस प्रकार हम देखते हैं कि शंकराचार्य ने माया और अविद्या दोनों शब्दों का प्रयोग बिना अर्थभेद के किया है। साधारण भाषा में अविद्या का मतलब विद्या या ज्ञान का अभाव समझा जाता है। ऐसी अविद्या वैयक्तिक और अभावरूप है। परंतु वेदांत की अविद्या सार्वजनिक और भावरूप है। वस्तुतः जीव या बद्ध पुरुषों के दृष्टिकोण से वही माया है। 'अविद्या' का संबंध ज्ञाता या विषयी से अधिक है और 'माया' का ज्ञेय या विषय से। अविद्या बुद्धि का धर्म है और माया का स्वयं ब्रह्म से संबंध है। माया ब्रह्म की शक्ति है। लोकमत अथवा लौकिक प्रयोग का ध्यान रखते हुए ही शायद बाद के वेदांतियों ने अविद्या और माया में भेद कर दिया। शुद्ध-सत्त्व-प्रधान माया है और मलिन-सत्त्व-प्रधान अविद्या; माया 'ईश्वर' की उपाधि है और अविद्या 'जीव' की।

माया और अविद्या

> अविद्योपाधिको जीवो न मायोपाधिकोखलु।
> मायाकार्यगुणच्छन्ना ब्रह्मविष्णुमहेश्वराः॥

अर्थात् जीव अविद्या की उपाधिवाला है, माया की उपाधिवाला नहीं।

---

[1] दे० पंचपादिका विवरण (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज़), पृ० ३२ भाष्यकारेणचाविद्या मायाऽविद्यात्मिका मायाशक्तिरिति तत्र-तत्र निर्देशात्। टीकाकारेण चाविद्या मायाऽक्षर मित्युक्तत्वात्।......

माया के गुणों से आच्छन्न तो ब्रह्मा, विष्णु और महेश्वर (शिव) हैं।[1]

अविद्या शब्द के प्रयोग से जीवगत दोष की प्रतीति होती है। जीव का दोष जीव तक ही सीमित होगा और उससे अलग अस्तित्ववान् न हो सकेगा। परंतु अविद्या ऐसी नहीं है। मुझे जो पर्वत दिखाई देता है, वह मेरे वैयक्तिक दोष के कारण नहीं। संसार के और प्राणियों को भी पर्वत दीखता है। अविद्या व्यक्ति का नहीं सार्वभौम दोष है, ब्रह्मांड का पाप है। ज्यों-ज्यों वेदांत-दर्शन का विकास होता गया त्यों-त्यों अविद्या या माया की भावरूपता पर अधिक जोर दिया जाने लगा। पद्मपाद ने अविद्या को 'जड़ात्मिका-अविद्या-शक्ति'[2] कहकर वर्णित किया है। वाचस्पति के मत में अविद्या अनिर्वचनीय पदार्थ है (अनिर्वाच्याविद्या)। सुरेश्वर और सर्वज्ञमुनि अज्ञान को आवरण और विक्षेप शक्तिवाला अनादि भाव पदार्थ समझते हैं। अविद्या या माया का भावात्मक स्वरूप व्यक्ति के मिथ्या-ज्ञान और जगत् के जड़त्व में अभिव्यक्त होता है।

मूलाविद्या और तूलाविद्या

'भामती' के मंगलाचरण में श्री वाचस्पति मिश्र ने ब्रह्म को अविद्या-द्वितय-सचिव (दो अविद्याओं से सहचरित) कथन किया है। जगत् की व्यावहारिक सत्ता का कारण मूलाविद्या है, यह अविद्या मुक्ति से पहले नष्ट नहीं होती। परंतु झूठ और सच, भ्रम और यथार्थज्ञान का भेद व्यावहारिक जगत् के अंतर्गत भी है, उसका कारण तूलाविद्या है। तूलाविद्या का अर्थ 'व्यावहारिक अज्ञान' समझना चाहिए। परमार्थ-सत्य की दृष्टि से शुक्ति-ज्ञान

---

[1] विवरण-कार के मत में माया और अविद्या एक हैं, पर व्यवहार-भेद से विक्षेप की प्रधानता से माया और आवरण की प्रधानता से अविद्या संज्ञा है—तस्माल्लक्षणैक्याद्वृद्धव्यवहारे चैकत्वावगमा देकस्मिन्नपि वस्तुनि विक्षेप प्राधान्येन माया आच्छादन प्राधान्येनाविद्येति व्यवहार भेदः। वही, पृ० ३२।

[2] अज्ञान मिति च जड़ात्मिकाऽविद्या शक्तिः पञ्चपादिका (विजयानगरम् संस्कृत सीरीज़), पृ० ४।

भी भ्रम है जब कि व्यावहारिक दृष्टि से शुक्ति-ज्ञान यथार्थ ज्ञान या नैया-यिकों की प्रमा है और रजत-ज्ञान भ्रम। शुक्ति में रजत-ज्ञान या रजत के अध्यास का कारण तूलाविद्या है; ब्रह्म में शुक्ति अथवा सम्पूर्ण व्यावहारिक जगत् का अध्यास मूलाविद्या का परिणाम है। तूलाविद्या का नाश सतर्क निरीक्षण, विज्ञान अथवा प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की सहायता से होता रहता है, किंतु मूलाविद्या बिना ब्रह्म-ज्ञान के नष्ट नहीं हो सकती। 'उपाधि-सहित चैतन्य का आच्छादन करनेवाली अविद्या का नाम तूलाविद्या है।'

क्या जगत् मिथ्या है?

शंकराचार्य के अनुसार जगत् का निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों 'ईश्वर' या 'सगुण ब्रह्म' या 'कार्यब्रह्म' है। जगत् का उपादान ईश्वर है और विवर्तो-पादान ब्रह्म। मिट्टी घड़े का उपादान कारण है और कुम्हार निमित्त कारण रस्सी सर्प का विवर्त्तोपादान है। वाचस्पति के मत में ब्रह्म जगत् का कारण है और अविद्या या माया सहकारी कारण। वेदांत परिभाषा की सम्मति में जगत् का कारण माया को कहना चाहिए। सर्वज्ञमुनि के मत में अद्वि-तीय ब्रह्म ही जगत् का कारण है। प्रश्न यह है कि क्या इनमें से किसी मत के अनुसार जगत् मिथ्या है? उत्तर में 'हां' और 'न' दोनों कहे जा सकते हैं। प्रश्नकर्त्ता 'मिथ्या' शब्द से क्या समझता है इसी पर उसके प्रश्न का उत्तर निर्भर है। जगत् इस अर्थ में मिथ्या नहीं है कि उसकी 'सत्ता' नहीं है। जगत् की 'सत्ता' है, व्यावहारिक सत्ता है, इससे कोई वेदांती स्वप्न में भी इनकार नहीं कर सकता।[1] शश-शृंग और आकाश-

---

[1] अपने 'विवेक चूड़ामणि' ग्रंथ के कुछ स्थलों में तो श्री शंकराचार्य ने जगत् को 'सत्' तक कह डाला है 'सत् ब्रह्म का सब कार्य सत् ही है' (सद्ब्रह्म-कार्यं सकलं सदेव—श्लो० २३२) 'जैसे मिट्टी के सब कार्य मिट्टी ही होते हैं, वैसे ही सत् से उत्पन्न यह सब कुछ सदात्मक ही है' (मृत्कार्यं सकलं घटादि... मृण्मात्र मेवाभितः तद्वत्सज्जनितं सदात्मकमिदं सन्मात्रमेवाखिलम्—श्लोक २५३) "कथमसतः सज्जायेत" वाक्य में भी जगत् को सत् कहा गया है।

पुष्प की भांति जगत् असत् या शून्य नहीं है। शंकर के मत में तो भ्रम और स्वप्न के पदार्थों में भी एक प्रकार की सत्ता, प्रातिभासिक सत्ता है। भ्रम-ज्ञान भी वस्तु-शून्य या निर्विषयक नहीं होता। परंतु यदि मिथ्या का पारिभाषिक अर्थ समझा जाय तो संसार को मिथ्या कहने में कोई दोष नहीं है। मिथ्या का पारिभाषिक अर्थ है अनिर्वचनीय अर्थात् सत् और असत् से भिन्न। सत् का अर्थ है 'त्रिकालाबाधित'। इस अर्थ में ज़रूर संसार मिथ्या है।

विज्ञान-वाद का खण्डन करते हुये, "वैधर्म्याच्च न स्वप्नादिवत्" (२।२।२९) सूत्र के भाष्य में शंकर ने स्पष्ट कहा है कि जगत् स्वप्न के समान नहीं है। वे लिखते हैं:—

वैधर्म्यं हि भवति स्वप्न जागरितयोः। किं पुनर्वैधर्म्यम्? बाधाबाधाविति ब्रूमः। बाध्यतेहि स्वप्नोपलब्धं वस्तु प्रतिबुद्धस्य......अपि च स्मृतिरेषा यत्स्वप्नदर्शनम्। उपलब्धिस्तु जागरित दर्शनम्। तत्रैवं सति न शक्यते वक्तुं मिथ्या जागरितोपलब्धि रुपलब्धित्वात्स्वप्नोपलब्धिवदित्यु-भयोरन्तरं स्वयमनुभवता। (२।२।२९)

अर्थात् स्वप्नदशा और जाग्रतदशा के धर्मों (स्वरूप) में भेद है। वह भेद क्या है? 'बाध होना' और 'बाध न होना'। स्वप्न के पदार्थों का जाग्रत दशा में बाध हो जाता है...एक और भी भेद है। स्वप्नदर्शन स्मृतिरूप है और जाग्रतकाल की 'उपलब्धि' से भिन्न है। इस प्रकार स्वप्न और जाग्रत के भेद का स्वयं अनुभव करते हुये यह कहना ठीक नहीं कि 'जाग्रत काल की उपलब्धि झूठी है, उपलब्धि होने के कारण, स्वप्न की उपलब्धि की तरह'।

जगत् की स्वतंत्र सत्ता का इससे अच्छा मण्डन और क्या हो सकता है? भारतीय वेदांत भी यथार्थवादी है और भारतीय यथार्थवाद में आदर्शवाद ओत-प्रोत है। वास्तव में जीवन पर दृष्टि रखना भारतीय दर्शन का एक विशेष गुण है। पाठक देखेंगे कि उपर्युक्त

भाष्य-खण्ड में श्री शंकराचार्य ने गौड़पाद की कारिका का खण्डन किया है।[1]

ईश्वर

ईश्वर, सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म और कार्य ब्रह्म अद्वैत वेदांत में पर्याय-वाची शब्द हैं। हम कह चुके हैं कि माया की उपाधि से ब्रह्म ईश्वर बन जाता है। इस प्रकार ईश्वर की सत्ता व्यावहारिक जगत् की सत्ता के समान है। व्यावहारिक दृष्टि से ईश्वर और जगत् दोनों की सत्ता है और ईश्वर जगत् का 'अभिन्न निमित्तोपादान कारण' है। ईश्वर ही विश्व की सत्ता का आधार है; यही मत गीता का भी है। 'माया' में सतोगुण की प्रधानता है। सांख्य की प्रकृति की तरह माया स्वतः जगत् को उत्पन्न नहीं कर सकती। माया ईश्वर की शक्ति है; ईश्वर के आश्रय से वह सृष्टि करती है। गीता कहती है—मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् अर्थात् मेरी अध्यक्षता में प्रकृति चर और अचर जगत् को उत्पन्न करती है। पाठक पूछेंगे कि क्या अद्वैत वेदांत का ईश्वर अज्ञानी है? वेदांत का उत्तर कुछ इस प्रकार होगा। अज्ञानी होना और सर्वज्ञता व्यावहारिक जगत् की चीज़ें हैं। परमार्थ-सत्य की दृष्टि से उक्त प्रश्न ही व्यर्थ है। व्यवहार-जगत् में ईश्वर अज्ञानी नहीं, सर्वज्ञ है। ईश्वर माया का स्वामी है न कि दास। ईश्वर के ऊपर माया की आवरण-शक्ति काम नहीं करती। ईश्वर को सदैव सब बातों का ज्ञान रहता है। ईश्वराश्रित माया अपनी विक्षेप शक्ति के कारण संसार की उत्पत्ति का हेतु बनती है। ब्रह्म-तत्त्व की एकता और जगत् के मायिक स्वरूप का ज्ञान ईश्वर में सदैव रहता है। ईश्वर मनुष्य की सब प्रकार की उन्नति का आदर्श और श्रद्धा-भक्ति का विषय है। ईश्वर में अनन्त ज्ञान, अनन्त सौंदर्य और अनन्त पवित्रता है। हमारे नैतिक जीवन का आदर्श संकीर्णता को त्याग कर सबको अपना रूप जानना और सब से समान व्यवहार करना है। नैतिक-जीवन की ऊँचाई पर पहुँच कर

---

१ गौड़पादीय कारिका।२।४।

हम अपने और समाज के, नहीं-नहीं अपने और विश्व-ब्रह्मांड के स्वार्थ में भेद करना छोड़ देते हैं। विश्व का कल्याण ही हमारा कल्याण हो जाता है, विश्व का हित ही हमारा हित। यह आदर्श भगवान् में नित्य चरितार्थ है। वे विश्व की आत्मा हैं, विश्व का कल्याण-साधन ही उनका एकमात्र कार्य है। इसीलिए भगवान् का अवतार होता है, इसीलिए वे तरह-तरह की विभूतियों में अपने को प्रकट करते हैं। सर्वज्ञ ईश्वर ने वेदों की रचना की है और मनुष्य को प्रकाश दिया है। ईश्वर की भक्ति से ज्ञान और ब्रह्मलोक की प्राप्ति हो सकती है जिसका निश्चित अंत मोक्ष है।

परंतु यह याद रखना चाहिए कि वेदांत का ईश्वर ब्रह्म की अपेक्षा कम तात्त्विक है। ईश्वर का संबंध व्यावहारिक जगत् से है और ज्ञानियों के लिए ईश्वर-भक्ति अपेक्षित नहीं है। ज्ञानी की क्रांत-दर्शिनी दृष्टि में जगत् के समान ईश्वर की भी पारमार्थिक सत्ता नहीं है; ईश्वर भी ब्रह्म का एक विवर्त्त (ऐपियरेंस) है। यही ब्रेडले का भी मत है।

जीव

अविद्या से संसक्त होकर, अविद्या की उपाधि से, ब्रह्म का विशुद्ध चैतन्य-स्वरुप जीव बन जाता है। प्रत्येक जीव के साथ एक अन्तःकरण की उपाधि रहती है। इसीलिए जीव परिच्छिन्न और अल्पज्ञ है। ईश्वर में अविद्या नहीं है, पर अविद्या ही जीव का जीवन है। अविद्या में रजोगुण और तमोगुण की प्रधानता है तथा सतोगुण की न्यूनता (मलिनसत्त्व प्रधानाऽविद्या)। ईश्वर में वैयक्तिक स्वार्थ नहीं है, सारा ब्रह्मांड उसका शरीर है और सारे ब्रह्मांड का स्वार्थ ही उसका स्वार्थ है। परंतु जीव का अपना अलग स्वार्थ है। जिसके कारण वह कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध और साधक बनता है। कुछ के मत में अंतःकरण में ब्रह्म का प्रतिबिंब ही जीव है। इस मत में ईश्वर, माया में ब्रह्म के प्रतिबिंब का नाम है। विद्यारण्य के अनुसार मन में ब्रह्म का प्रतिबिंब जीव है, और सारे प्राणियों के वासना संस्कारों-सहित

माया में ब्रह्म का प्रतिबिंब ईश्वर है। पंचपादिका-विवरण का लेखक जीव को ईश्वर का प्रतिबिंब मानता है।[1]

एक और अनेक जीववाद

कुछ विचारकों के मत में वास्तव में जीव एक ही है और उपाधि अविद्या है। एक ही जीव है और एक ही शरीर। शेष जीव और शरीर उक्त एक जीव की कल्पना सृष्टि या स्वप्न-मात्र है।[2] अथवा, एक मुख्य जीव हिरण्यगर्भ है, शेष जीव हिरण्यगर्भ की छायामात्र हैं। स्वयं हिरण्यगर्भ ब्रह्म का प्रतिबिंब है।[3] इस दूसरे मत में जीव एक है और शरीर अनेक। इन शरीरों में सब में अवास्तविक जीव हैं। एक जीव-वादियों का एक तीसरा समुदाय भी है जिसके अनुसार एक ही जीव बहुत से शरीरों में रहता है।[4] यह सारे मत शांकरभाष्य के विरुद्ध हैं जहां जीवों की अनेकता का स्पष्ट प्रतिपादन है। अनेक जीव-वादियों में भी इसी प्रकार मतभेद हैं, परंतु हमारी दृष्टि में इन सब मतों का दार्शनिक महत्त्व बहुत कम है। एक अनिर्वचनीय तत्त्व अविद्या की धारणा ही अद्वैत-वेदांत की मौलिक सूझ है।

अप्पय दीक्षित ने 'सिद्धांतलेश' के आरंभ में लिखा है कि प्राचीन आचार्य एक अद्वितीय सत् पदार्थ ब्रह्म के प्रतिपादन में ही विशेष रुचि रखते थे, ब्रह्म से जगत् के विवर्त्त किस प्रकार या किस क्रम से उत्थित होते हैं, इसके वर्णन में उनकी अभिरुचि कम थी; इसीलिए नवीन लेखकों में मतभेद उत्पन्न हो गये। इन्हीं मतभेदों का प्रदर्शन अप्पय दीक्षित के 'सिद्धांतलेश संग्रह' का वर्ण्य विषय है। वास्तव में चैतन्य-तत्त्व की एकता और अविद्या की धारणा यही अद्वैत वेदांत के दो महत्त्वपूर्ण सिद्धांत हैं। अन्य बातों का स्थान गौण है।

---

१ प्रतिबिम्बो जीवः बिम्बस्थानीय ईश्वरः—सिद्धांतलेश (विजयानगरम्), पृ० १७

२ वही, पृ० २०

३ वही, पृ० २१

४ वही, पृ० २१

ऊपर हम साक्षि-ज्ञान और वृत्ति-ज्ञान का भेद बता चुके हैं। साक्षी का अर्थ है देखनेवाला। साक्षी ब्रह्म, ईश्वर और जीव तीनों से भिन्न बतलाया जाता है।

जीव और साक्षी[1]

उपाधि-शून्य चेतन तत्त्व का नाम ब्रह्म है; वही तत्त्व अन्तःकरण की उपाधि से साक्षी बन जाता है। साक्षी बुद्धि-वृत्तियों को प्रकाशित मात्र करता है। 'जीव' का बुद्धि-वृत्तियों से अधिक घनिष्ठ संबंध है; जीव में कर्तृत्व और भोक्तृत्व का अभिमान भी होता है। साक्षी ईश्वर से भी भिन्न है, ईश्वर क्रियाशील है और साक्षी निष्क्रिय। यह हमने आपको विद्यारण्य स्वामी का मत सुनाया।

ऐसी जटिल परिस्थितियों में मतभेद होना स्वाभाविक है। कौमुदी-कार के मत में ईश्वर का एक विशेषरूप ही साक्षी है।[2] उपनिषद् के दो पक्षियों में एक स्वादिष्ट फल खाता है और दूसरा सिर्फ़ देखता रहता है। पहला पक्षी जीव है और दूसरा ईश्वर। शंकराचार्य के ग्रंथों में इन दोनों मतों के पक्ष में उद्धरण मिल सकेंगे।

वेदांत-परिभाषा के मत में जीव ही एक दृष्टि से 'साक्षी' है और दूसरी दृष्टि से 'जीव' अर्थात् कर्ता और भोक्ता। अंतःकरण से उपहित चैतन्य साक्षी है। यह साक्षी प्रत्येक व्यक्ति में अलग-अलग है। वही अंतःकरण जिसका धर्म है वह प्रमाता या जीव है। जीव और अंतःकरण का संबंध, साक्षी और अंतःकरण के संबंध से अधिक घनिष्ठ है। सिद्धांत लेश के अनुसार—अंतःकरण विशिष्टः प्रमाताः तदुपहितः साक्षी।[3] जिस प्रकार साक्षी का व्यक्तिगत शरीर से संबंध होता है, इसी प्रकार ईश्वर का सम्पूर्ण जगत् से संबंध है। यह मत भी अन्य मतों से अधिक विरुद्ध नहीं है।

---

१ राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ६०१-६०३

२ सिद्धांतलेश, पृ० ३३

३ वही, पृ० ३४

विशुद्ध ब्रह्म ही शरीर, अंतःकरण आदि की उपाधि से जीव हो जाता है। कर्तृत्व-और भोक्तृत्व-संपन्न जीव के तीन शरीर हैं। पहला शरीर स्थूल शरीर है जो दीखता है और मरने पर जिसका दाह-संस्कार किया जाता है। स्वप्न और सुषुप्ति में स्थूलशरीर क्रियाहीन हो जाता है; यह प्रत्येक जन्म में बदलता रहता है। पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच कर्मेन्द्रिय, मन, बुद्धि और पांच प्राण मिलकर सूक्ष्म शरीर बनाते हैं। यह सांख्य के लिंग-शरीर के समान है। अज्ञान की उपाधि, जो सुषुप्ति में भी वर्त्तमान रहती है, कारण-शरीर है। यह कारण-शरीर मुक्ति से पहले नहीं छूटता।

जीव के शरीर; पंचकोश

जीव को पांच कोशों में लिपटा हुआ भी बतलाया जाता है। अन्न-मय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय यह पांच कोश हैं। मोक्ष दशा में यह कोश नहीं रहते। अन्नमय कोश स्थूल शरीर है; प्राण-मय, मनोमय और विज्ञानमय कोश सूक्ष्म शरीर के तत्त्व हैं। शंकराचार्य के मत में आनंद ब्रह्म का स्वरूप नहीं है; 'आनंदमय' भी एक कोश है। वेदांत के 'आनंदमयाधिकरण' की शंकर ने दो व्याख्याएं की हैं। ब्रह्म आनंदमय है, यही सूत्रों का स्वाभाविक अर्थ है। इसके विरुद्ध अनेक आक्षेप उठाकर सूत्रकार ने उनका खंडन किया है। परंतु शंकर के मत में ब्रह्म और आनंदमय एक नहीं हैं। तैत्तिरीय में ही, जहां जगह-जगह ब्रह्म को आनंदमय कहा है, ब्रह्म को आनंद का 'पुच्छ और प्रतिष्ठा' भी बत-लाया है (ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा) आनंद के हिस्सों का भी वर्णन है। 'प्रिय उसका सिर है, मोद दाहिना पक्ष, प्रमोद दूसरा पक्ष, आनंद आत्मा और ब्रह्म पूंछ या प्रतिष्ठा।' इस प्रकार ब्रह्म आनंदमय से भिन्न है। रामानुज का मत सूत्रकार के अनुकूल है। 'सोऽकामयत' (उसने इच्छा की) क्रिया का कर्त्ता 'आनंदमय' ही हो सकता है। ब्रह्म शब्द नपुंसक लिंग है, उसका 'सः' (पुंलिङ्ग 'वह') से निर्देश नहीं हो सकता। 'मय' प्रत्यय प्राचुर्य अर्थ में है न कि विकार अर्थ में। हमें रामानुज की व्याख्या ज्यादा

स्वाभाविक और संगत मालूम पड़ती है। अपनी रूपकमयी भाषा में ब्रह्म को आनंद की प्रतिष्ठा कह कर भी उपनिषद् उसे ब्रह्म से भिन्न नहीं समझते। ब्रह्म का आनंदमयत्त्व उपनिषदों की काव्यमय शैली के अधिक अनुकूल है। कवि-हृदय विश्व-तत्त्व को निरानंद नहीं देख सकता, भले ही वह दार्शनिक बुद्धि के अधिक अनुकूल हो।

अपनी 'विवेक चूड़ामणि' में कवि शंकराचार्य ने ब्रह्म को 'निरंतरानंद रसस्वरूप' कह कर वर्णन किया है (देखिये, श्लोक २३९) परंतु उसी ग्रंथ में दार्शनिक शंकर ने आनंदमय का कोश होना सिद्ध किया है। (श्लोक, २११)

अवच्छेदवाद और प्रतिबिंबवाद

सूर्य का सहस्रों घटों, नदियों और समुद्रों में प्रतिबिंब पड़ता है। एक सूर्य अनेक होकर दीखता है; स्थिर सूर्य लहरों में हिलता हुआ प्रतीत होता है। घड़ों को नष्ट कर दीजिए, नदियों और समुद्रों को हटा दीजिए, तो फिर एक ही सूर्य रह जाता है। इसी प्रकार अविद्या में ब्रह्म के अनेक प्रतिबिंब वास्तविक प्रतीत होते हैं, वास्तव में ब्रह्म अनेक या विकारी नहीं हो जाता। अविद्या के नष्ट होते ही ब्रह्म का यथार्थ स्वरूप प्रकाशित हो उठता है। यह 'प्रतिबिंबवाद' है। रूपक के सौंदर्य के कारण ही कुछ विचारकों ने इसे स्वीकार कर लिया, ऐसा प्रतीत होता है।

अवच्छेदवाद के समर्थक अधिक हैं। सूर्य की तरह ब्रह्म साकार नहीं है जिसका कहीं प्रतिबिंब पड़े। अविद्या की उपाधि ही ब्रह्म के दूसरे रूपों में भासमान होने का हेतु है। अवच्छेद और परिच्छेद लगभग समानार्थक हैं। अविद्या की उपाधि से अवच्छिन्न या परिच्छिन्न ब्रह्म जीव और जगत बन जाता है। अवच्छेदक का अर्थ है सीमित कर देनेवाला। अज्ञान से अवच्छिन्न ब्रह्म खंड-खंड प्रतीत होता है। दोनों 'वादों' में शब्द मात्र का भेद है। वेदांत की मूल धारणाएं—ब्रह्म और अविद्या दोनों में वर्त्तमान हैं।

'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है और जीव ब्रह्म से भिन्न नहीं है' यही वेदांत की शिक्षा का, एक लेखक के मत में, सारांश है। जो तत्त्व पिंड (शरीर) में है, वही ब्रह्मांड में है, जो शरीर का आधार है वही जगत् का भी आधार है। 'ब्रह्म को जानने से सब कुछ जाना जाता है' 'आरंभ में केवल एक अद्वितीय सत् ही था' इत्यादि श्रुतियां जगत् की एकता घोषित करती हैं। श्रुति के महावाक्य बतलाते हैं कि जीव और ब्रह्म एक ही हैं। 'मैं ब्रह्म हूं'' 'वह (ब्रह्म) तू है' 'यह आत्मा ब्रह्म है' (अहं ब्रह्मास्मि, तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म) इत्यादि वाक्य नित्यशुद्ध और नित्यमुक्त ब्रह्म तथा बंधन-ग्रस्त जीव की एकता कथन करते हैं। प्रश्न यह है कि ब्रह्म और जीव जैसी भिन्न वस्तुओं की एकता समझ में किस प्रकार आ सकती है? श्रुति के वाक्यों का तात्पर्य हृदयंगम ही कैसे हो सकता है? अत्यंत भिन्न धर्मवाले 'तत्पदार्थ' (ब्रह्म) और 'त्वं पदार्थ' (जीव) का ऐक्य मन पर आसानी से अंकित नहीं हो सकता।

महावाक्यों का अर्थ

वेदांतियों का कहना है कि श्रुति-वाक्यों का अभिप्राय लक्षणाओं की सहायता से जाना जा सकता है। जहां शब्दों का सीधा वाच्यार्थ लेने से वाक्य का अर्थ-बोध न हो, वहां लक्षणा से आशय जाना जाता है (तात्पर्यानुपपत्तिर्लक्षणाबीजम्)। शब्दों का साधारण अर्थ वाच्यार्थ कहलाता है; लक्षणा की सहायता से जो अर्थ मिलता है उसे 'लक्षितार्थ' कहते हैं। महावाक्यों के अर्थ-बोध के लिये तीन लक्षणाओं का ज्ञान आवश्यक है अर्थात् जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा और जहदजहल्लक्षणा। पहली दो को 'जहत्स्वार्था' और 'अजहत्स्वार्था' भी कहते हैं; तीसरी इन्हीं दो का मेल है।

जहत्स्वार्था—'गंगा में गांव है' इस वाक्य का वाच्यार्थ विरोध-ग्रस्त है। गंगा-प्रवाह में गांव की स्थिति संभव नहीं है। इसलिए उक्त वाक्य का 'गंगा के तट पर गांव' है, यह अर्थ करना चाहिए। यहां 'गंगा' शब्द

का वाच्यार्थ, कोश-गत अर्थ, छोड़ देना पड़ा, इस लिये इसे जहत्स्वार्था लक्षणा का उदाहरण कहेंगे। जहत् का अर्थ है त्यागता हुआ या त्यागती हुई, जहत्स्वार्था का मतलब हुआ 'अपने अर्थ को छोड़ती हुई'।

अजहत्स्वार्था या अजहल्लक्षणा—इस लक्षणा में भी वाच्यार्थ में परिवर्तन करना पड़ता है, परंतु वाच्यार्थ को सर्वथा छोड़ नहीं दिया जाता। 'शोणो गच्छति' शोण जाता है, इस वाक्य में शोण का वाच्यार्थ 'लाल' है। परंतु इतने से काम नहीं चलता, इसलिए 'शोण' में लक्षणा करनी पड़ती है। शोण का लक्षितार्थ हुआ 'लाल रंग का घोड़ा'। इस प्रकार शक्यार्थ या वाच्यार्थ का परित्याग नहीं हुआ क्योंकि घोड़े का रंग लाल है। शोण का अर्थ लक्षणा की सहायता से शोणत्व या लालिमा-विशिष्ट अश्व-द्रव्य हो गया, जिस से वाक्य सार्थक प्रतीत होने लगा।

जहदजहल्लक्षणा—इस लक्षणा में वाच्यार्थ का एक अंश छोड़ना पड़ता है और एक अंश का ग्रहण होता है। इस प्रकार इसमें 'जहती' और 'अजहती' दोनों के गुण वर्त्तमान हैं। 'जिस देवदत्त को मैंने काशी में देखा था उसी को अब मथुरा में देखता हूँ' यहां काशीस्थ देवदत्त और मथुरा-स्थित देवदत्त की एकता का कथन है। परंतु पहले देवदत्त और दूसरे देवदत्त के देश-काल में भेद है। पहली बार जब देवदत्त को देखा था तो वह और देश तथा और समय में था; अब वह दूसरे स्थान और दूसरे काल में है। दोनों देवदत्तों की एकता तभी समझ में आ सकती है, जब हम दोनों में से देश-काल के विशेषण हटा लें। इस प्रकार 'तत्कालीन' और 'एतत्कालीन' तथा 'काशीस्थ' और 'मथुरास्थ' की विशेषताओं को वाच्यार्थ में से घटा देना पड़ता है। शेष वाच्यार्थ ज्यों का त्यों रहता है और दो देवदत्तों की एकता समझ में आ जाती है।

वेदांतियों का कथन है कि जीव और ब्रह्म की एकता बताने वाले महा वाक्यों का अर्थ भी इसी प्रकार, जहदजहल्लक्षणा से, समझ में आ सकता है। 'जीव' और 'ब्रह्म', 'त्वम्' और 'तत्' के वाच्यार्थ में से उन गुणों को

घटा देना चाहिए जो दोनों में तुल्य नहीं हैं। प्रत्यक्त्व अथवा चैतन्य गुण जीव और ब्रह्म दोनों में समान है। इस प्रकार उनकी एकता हृदयंगम हो सकती है।

वेदांत की साधना; मोक्षावस्था

वेदांत के आलोचकों का कथन है कि वेदांत में व्यावहारिक अथवा नैतिक जीवन के लिए स्थान नहीं है। शंकर का ज्ञान-मार्ग मनुष्यों को नैतिक उन्नति (मॉरल प्रोग्रेस) के लिए किसी प्रकार का प्रोत्साहन नहीं देता। कर्तव्याकर्तव्य का विचार नीची श्रेणी के मनुष्यों के लिए है, ज्ञानियों के लिये नहीं। वैयक्तिक और सामाजिक कर्तव्य ज्ञानी के लिये नहीं है। वेद के विधि-वाक्य भी ज्ञानी की दृष्टि में अर्थ-हीन हैं। जिसकी दृष्टि जगत् को मिथ्या देखती है, जो संसार के सारे व्यवहारों को अतात्त्विक मानता है, वह विधि-निषेध का पालन करने को बाध्य नहीं हो सकता। इस प्रकार वेदांत-दर्शन सामाजिक जीवन का घातक है।

उत्तर में हमें निवेदन करना है कि यद्यपि वेदांत प्रवृत्ति-मार्ग से निवृत्ति-मार्ग को श्रेष्ठ समझता है, तथापि नैतिक-जीवन का परित्याग उस की शिक्षा नहीं है। वस्तुतः वेदांत की दृष्टि में बिना नैतिक गुणों—यम, नियम, आदि, का धारण किये ज्ञान-प्राप्ति संभव नहीं है। ज्ञान-प्राप्ति तो दूर की बात है, चरित्र-हीन को ब्रह्म की जिज्ञासा करने का भी अधिकार नहीं है। 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' पर भाष्य करते हुये श्री शंकराचार्य ने 'अथ' का आनंतर्य अर्थ बतलाया है। ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी वही हो सकता है (१) जो नित्य और अनित्य के भेद का विवेक कर चुका है; (२) जिसे इहलोक और परलोक के भोगों से वैराग्य हो गया है; (३) जिसमें शम-दम (मन और इंद्रियों का निग्रह) आदि सम्पत्तियां वर्त्तमान हैं। और (४) जिसे मोक्ष की उत्कट अभिलाषा है।

ज्ञान कोरी बुद्धि का विषय नहीं है। ज्ञान के लिए चतुर्मुखी साधना की आवश्यकता है। घृणा, द्वेष, स्वार्थ-परता और पक्षपात को जीते बिना

हृदय-भूमि तैयार नहीं हो सकती, जिसमें ज्ञान का बीज बोया जा सके। संसार को मिथ्या या अतात्त्विक कहने का अर्थ झूठ, कपट, आडम्बर और मिथ्यादम्भ को प्रश्रय देना नहीं है। यह ठीक है कि ज्ञानी के लिये श्रुति के विधि-निषेध नहीं है (निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतः को विधिः को निषेधः—शुकाष्टक), पर हमें इस विचार का अनर्थ नहीं करना चाहिए। 'ज्ञानी के लिये कोई नियम या बंधन नहीं है' इसका क्या अर्थ है? जब शुरू-शुरू में कवि-छात्र कविता करना प्रारंभ करता है अथवा चित्रकला का विद्यार्थी चित्र-रचना का अभ्यास करता है तब उन्हें पिंगल और रेखा-शास्त्र के अनेक कठिन नियमों का बड़े मनोयोग से पालन करना पड़ता है। धीरे-धीरे जब वे छात्र काव्य-कला और चित्राङ्कण में निपुण होने लगते हैं तब उन्हें उन नियमों का पालन साधारण बात मालूम पड़ने लगती है—वे बिना मनोयोग के नियमानुकूल काम करने लगते हैं। अपनी कलाओं के पूरे 'मास्टर' या पंडित बन जाने पर उन्हीं छात्रों को काव्य और चित्र-कला के नियमों की परवाह भी नहीं रहती। तब वे जो कुछ लिख या खींच देते हैं वही कविता और चित्र हो जाता है; उनकी कृतियां स्वयं अपने नियमों की सृष्टि करने लगती है और उनके लिये शास्त्रों के बंधन नहीं रहते। इसी प्रकार सच्चरित्रता और साधुता के पंडितों को सदाचार के नियम सिखाने की आवश्यकता नहीं रहती। जिसने एक बार अपनी स्वार्थ-भावना का समूलोच्छेद कर लिया है उसे कर्त्तव्य-विषयक शिक्षा की अपेक्षा नहीं रहती। ज्ञानी के विधि-निषेध से परे होने का यही यथार्थ अभिप्राय है।

गीता में जिसे स्थितप्रज्ञ कहा है वही वेदांत का कर्त्तव्य-बंधनों से मुक्त ज्ञानी है। गीता के अनुसार ज्ञानी को भी लोक-कल्याण के लिये कर्म करने चाहिए। ज्ञानी कर्म करे या न करे, इससे उसके ज्ञानीपन में कोई भेद नहीं पड़ता। परंतु ज्ञानी कभी पाप-कर्म में लिप्त हो सकता है, इसकी संभावना उतनी ही है जितनी कि किसी महाकवि के छंदोभंग

करने की। ज्ञान होने के बाद साधक सिर्फ प्रारब्ध कर्मों के भोग के लिये जीवित रहता है। उस दशा में उसे 'जीवन्मुक्त' कहा जाता है। ज्ञान-प्राप्ति में जो सुख और शांति है वह केवल परलोक की चीज़ नहीं है; उसका अनुभव इसी जन्म में बिना बहुत विलंब के हो सकता है। इस प्रकार ज्ञान का महत्त्व अनुभव से परे नहीं है।

मोक्ष-प्राप्ति के लिये वेदांत विशेषरूप से श्रवण, मनन और निदिध्यासन का उपदेश करता है। ये तीनों ही ब्रह्म की अनुभूति प्राप्त करने के साधन हैं। ब्रह्म की अनुभूति ही वह ज्ञान है जो अविद्या को नष्ट कर देता है। यह ब्रह्मानुभव भी बुद्धि की एक वृत्ति है, इसलिये श्रवण आदि साधनों से उत्पन्न की जा सकती है।[1] यह वृत्ति उत्पन्न होकर अज्ञान की दूसरी वृत्तियों को नष्ट करके स्वयं भी नष्ट हो जाती है। जैसे अग्नि ईंधन को जलाकर शांत हो जाती है वैसे ही यह वृत्ति अन्य वृत्तियों को नष्ट करके स्वयं भी नाश को प्राप्त हो जाती है।

मोक्ष के विषय में अप्पय दीक्षित का मत[2]

मोक्ष पर अप्पय दीक्षित के विचार बड़े महत्त्व के हैं। उनका मत है कि 'पूर्ण मुक्ति' वैयक्तिक नहीं, सार्वजनिक चीज़ है। जब तक सब जीव मुक्त न हो जायं तब तक पूर्ण मुक्ति संभव नहीं है। अन्य जीवों के बंधन में रहते हुये एक दूसरे प्रकार की मुक्ति संभव है। इस दूसरे अर्थ में मुक्त जीव को ब्रह्म-लोक या ईश्वर-भाव प्राप्त हो जाता है,[3] जिसका वेदांत के अंतिम अध्याय में वर्णन है। आत्मैक्य का सिद्धांत यों भी स्वार्थपरता के लिये घातक है, उसके साथ ही यदि साधक यह भी जान ले कि बिना जगत् की मुक्ति हुये उसकी मुक्ति नहीं हो सकती तो उसका वैयक्तिक साधना

---

१ देखिये विवरणप्रमेयसंग्रह, पृ० २१२, अनुभवो नाम ब्रह्मसाक्षात्कार फलकोऽन्तःकरण वृत्ति भेदः। एवं भामती पृ० ३१, (१।१।४)।

२ देखिये सिद्धांतलेश (विजयानगरम् संस्करण), पृ० १११ तथा आगे।

३ तस्माद्यावत्सर्वमुक्ति परमेश्वरभावो मुक्तस्य, वही, पृ०, ११२।

में विशेष आग्रह न रहे। सारी मानव-जाति, नहीं नहीं, सारे प्राणि-वर्ग, को साथ लेकर ही हमें साधना करती है। बोधिसत्त्वों के आदर्श के अनुसार संपूर्ण विश्व के प्राणियों को मुक्ति दिलाए बिना अपनी मोक्ष स्वीकार करना भी पाप है। इसीलिये 'बोधिसत्त्वों' का पृथ्वी पर अवतार होता है, इसीलिये भगवान् कृष्ण को भी लोक-संग्रह के लिये कर्म करना पड़ते हैं।

अप्पय दीक्षित ने अपने मत की पुष्टि में शांकर भाष्य से उद्धरण दिया है। परंतु यदि यह शंकर का मत न भी हो तो भी उसके महत्त्व में कोई कमी नहीं पड़ती। वस्तुतः साधना वैयक्तिक हो भी नहीं सकती। क्या शंकराचार्य ने संसार के कल्याण के लिये अपना भाष्य नहीं लिखा? क्या उन्होंने अपने ज्ञान और बुद्धि से एक राष्ट्र को लाभ नहीं पहुँचाया? कृष्ण की गीता ने कितने हृदयों को सांत्वना दी है! जब कोई साधु, महात्मा या विद्वान् लोगों में अपना मत फैलाने की कोशिश करता है तब वह, ज्ञात या अज्ञात-भाव से, मानव-जाति को अपने साथ साधना करने का निमंत्रण देता है। विश्व-साहित्य के कवि, नाटक-कार और औपन्यासिक भी यही साधना कर रहे हैं। प्रयोग-शालाओं में जीवन बितानेवाले वैज्ञानिक भी इसी में संलग्न हैं। सभी हृदयों में ब्रह्म की ज्योति छिपी है, और सभी उसे अभिव्यक्त करने का यत्न कर रहे हैं। किसी का यत्न अधिक तीव्र और स्पष्ट है; किसी का कम। सभी एक मार्ग के पथिक हैं, सभी एक ही आत्म-सौंदर्य के आकर्षण में पड़े हैं। ऐसी दशा में किसी को किसी से घृणा करने की जगह भी कैसे हो सकती है?

सातवां अध्याय

विशिष्टाद्वैत[1] अथवा रामानुज-दर्शन

आजकल के स्वतंत्र विचारकों की दृष्टि में यह प्रश्न विशेष महत्त्व का नहीं है कि उपनिषदों की ठीक व्याख्या शंकर ने की है या रामानुज ने। आज हम शंकर और रामानुज के भाष्यों का अध्ययन उन्हीं के मत को जानने के लिये करते हैं, बादरायण का मत जानने के लिये नहीं। बादरायण ही बड़े या आदरणीय हों ऐसा आग्रह हमारा नहीं हैं, जिसके लेख में महत्त्वपूर्ण विचार हों वही बड़ा है। परंतु पुराने विचारों के अद्वैती और विशिष्टाद्वैतियों के लिये उक्त प्रश्न बड़े महत्त्व का है। उपनिषदों के अध्याय में हम देख चुके हैं कि उनमें ब्रह्म के सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार के वर्णन पाये जाते हैं। इन विरोधी वर्णनों का सामंजस्य कैसे किया जाय? शंकर ने उपनिषदों के परा और अपरा विद्या के भेद की अपने अनुकूल व्याख्या करके इस समस्या को हल कर लिया। जहां ब्रह्म को सगुण कहा गया है, वह व्यावहारिक दृष्टि से, वास्तव में ब्रह्म निर्गुण है। निर्गुणता की प्रतिपादक श्रुतियां भी बहुत हैं (अरूपवदेव हि तत्प्रधानत्वात्–ब्रह्मसूत्र)। 'व्यावहारिक' और 'पारमार्थिक' का यह भेद रामानुज को स्वीकार नहीं है। ब्रह्म एक ही है, 'पर' और 'अपर' भेद से दो प्रकार का नहीं। ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है। जब श्रुति ब्रह्म को निर्गुण कहती है तब उसका तात्पर्य ब्रह्म को दोष या दुष्ट-गुण-हीन कथन करना होता है। ब्रह्म में प्रकृति के गुण नहीं हैं, बद्धजीवों के विशेष गुण भी नहीं है। श्रुति के सगुण वर्णनों से पता चलता है कि ब्रह्म अशेष कल्याणमय गुणों का आकार है। ब्रह्म में अनंत ज्ञान, अनंत सौंदर्य और अनंत कल्याण

---

[1] विशिष्टाद्वैत मत को 'श्रीसंप्रदाय भी कहते हैं।

है। ब्रह्म और ईश्वर में भेद नहीं है; माया में संसक्त ब्रह्म को ईश्वर नहीं कहते। जिस ईश्वर की भक्ति और शरणागति का उपदेश आर्ष ग्रंथों में मिलता है वह ब्रह्म से भिन्न या नीची कोटि का नहीं है। ईश्वर की सिर्फ़ व्यावहारिक सत्ता ही नहीं है, तह परमार्थ-तत्त्व है। इसी प्रकार जगत् तथा जीवों की सत्ता भी 'सिर्फ़ व्यावहारिक' नहीं है। अद्वैत वेदांत का सबसे बड़ा दोष यही है कि वह ईश्वर, जीव और जगत् से वास्तविक सत्ता छीन कर उन्हें ब्रह्म का 'विवर्त्तमात्र' बतला डालता है।

अद्वैत मत की बौद्धिकता रामानुज को सह्य नहीं है। उन्होंने साधारण जनता के मनोभावों को दार्शनिक भाषा में अभिव्यक्त करने की चेष्टा की। मनुष्य के व्यक्तित्व में बुद्धि के अतिरिक्त हृदय का भी स्थान है। मनुष्य प्रेम और भक्ति, पूजा और उपासना, आकांक्षा और प्रयत्न करनेवाला है। उसके प्रेम, भक्ति, पूजा और उपासना से संबद्ध भाव झूठे हैं, उसके प्रयत्नों में वास्तविक बल नहीं है, उसके बंधन और मोक्ष सच्चे नहीं केवल व्यावहारिक हैं, उसकी आत्मा और परमात्मा पारमार्थिक सत्ताएं नहीं हैं, यह सिद्धांत मानव-बुद्धि को व्याकुल और स्तब्ध करनेवाले हैं। हमारे जीवन में जो अच्छे और बुरे, पाप और पुण्य का संघर्ष चलता रहता है वह क्या झूठा है? हमारे 'व्यक्तित्व' को 'सिर्फ़ व्यावहारिक' कहना उसे 'कुछ नहीं या मिथ्या' कहने का ही शिष्ट ढंग है। शंकर का व्यावहारिक और मिथ्या का भेद मनुष्यों की सामान्य बुद्धि में नहीं धँसता; जगत् को मिथ्या कहना शून्यवाद का अवलंबन करना है। जन-साधारण मिथ्या का अर्थ 'शून्य' ही समझते हैं। विज्ञानभिक्षु जैसे विद्वान भी शंकराचार्य को प्रच्छन्न बौद्ध (छिपा हुआ शून्यवादी) कहने से नहीं चूके। शंकर का मायावाद हमारे प्रबलतम नैतिक प्रयत्नों और गूढ़तम भक्ति-भावनाओं को मदारी के खेल जैसा झूठा करार दे देता है। शंकर की दृष्टि में जीवन की जटिल समस्याओं में कोई गम्भीरता नहीं है, जीवन एक बाजीगर का तमाशा है, ब्रह्म के मनोविनोद की सामग्री है। हमारे सुख, दुख और

आकांक्षाएं, हमारा व्यक्तित्व, हमारा बौद्धिक और नैतिक जीवन, हमारे विचार और भावनाएं किसी में कोई तत्त्व नहीं है; सब मिथ्या हैं, सब कुछ माया है, केवल ब्रह्म ही सत्य है।

लेकिन ऐसे निर्गुण, निर्मम और निष्ठुर ब्रह्म को लेकर हम क्या करें? वह ब्रह्म जो हमारे दुख-दर्द से विचलित नहीं होता, जिस तक हमारी आहों की गर्मी नहीं पहुँचती, जो हमारी प्रार्थना नहीं सुन सकता, जिसके न कान है न आँखें, न बुद्धि है, न हृदय, उस ब्रह्म का हम क्या करें? ऐसे ब्रह्म से किसी प्रकार का संबंध जोड़ना संभव नहीं है। यदि हम माया के पुतले हैं तो हम जो कुछ करें सब माया ही है। फिर श्रुति के विधि-निषेध, अच्छे बुरे का उपदेश किस लिए है? श्रुति की आज्ञाओं का क्या अर्थ है? ज्ञान की खोज भी किस लिए? बंधन, मोक्ष और मोक्ष की इच्छा, साधक, और साधना सभी तो मिथ्या हैं।

रामानुज का मत है कि जीव और जगत् को वास्तविक, पारमार्थिक, सत्ता माने बिना काम नहीं चल सकता। यदि हमारे जीवन का कोई मूल्य है, यदि सृष्टि-प्रक्रिया विडंबना-मात्र नहीं है, तो हमारे प्रयत्नों का क्षेत्र जगत् भी सत्य होना चाहिये। तो क्या रामानुज अनेकवादी हैं? नहीं वे अद्वैतवादी हैं; किंतु उनका अद्वैत शंकर से भिन्न है; वह विशिष्टाद्वैत है। विशिष्टाद्वैत का अर्थ है 'विशिष्ट का विशिष्टरूप से अद्वैत' (विशिष्टस्य विशिष्टरूपेणाद्वैतम्—वेदांत देशिक)। अद्वितीय ब्रह्म विशिष्ट पदार्थ है, जीव और प्रकृति उसके विशेषण हैं, इस विशिष्ट-रूप में ब्रह्म ही एकमात्र तत्त्व है।

साहित्य

वैष्णव-धर्म का इतिहास और साहित्य तो बहुत प्राचीन है, यद्यपि उसे दार्शनिक आधार देने का बहुत-कुछ श्रेय श्रीरामानुजाचार्य को है। ऋग्वेद में विष्णु एक साधारण सौर देवता थे। धीरे-धीरे उनका महत्त्व बढ़ा। साथ ही एक 'भाग' नामक देवता भी 'भगवत्' या भगवान् में परिवर्तित होकर प्रसिद्ध

हो गए और भागवत धर्म की नींव पड़ी। महाभारत में भागवत-धर्म का वर्णन है। भागवत धर्म का विकसित रूप वैष्णव धर्म बन गया, विष्णु और भगवान् एक हो गये। कुछ काल बाद, कृष्ण को विष्णु का अवतार मान लिया जाने पर, कृष्ण-पूजा भी वैष्णव-संप्रदाय का अंग बन गई। ईसा से पहले-पहले भागवत धर्म दक्षिण में प्रवेश कर चुका था। भगवान् कृष्ण की भक्ति तो उत्तर भारत में भी बहुत प्रसिद्ध है और इस प्रकार भारतवर्ष में वैष्णव-संप्रदाय का प्रभाव बहुत व्यापक हो गया है। भारत की साधारण जनता राम और कृष्ण की उपासक है; शिव तथा अन्य देवी-देवताओं का स्थान बाद को है। कम से कम उत्तर भारत में इस समय शैवों और वैष्णवों का विरोध नहीं है। इस विरोध को मिटाने में तुलसी दास जी का काफ़ी हाथ रहा है। उनकी 'शिव द्रोही मम दास कहावा, सो नर सपनेहु मोहिं न पावा' जैसी उक्तियों का उत्तर भारत के धार्मिक हृदय पर बहुत प्रभाव पड़ा है।

रामानुज से पहले के वैष्णव-शिक्षकों में दक्षिण के यामुनाचार्य और नाथमुनि के नाम मुख्य हैं। वैष्णव-संप्रदाय के माननीय ग्रंथ दो प्रकार के हैं, इसी से वैष्णवों का साहित्य 'उभय वेदांत' कहलाता है। वैष्णव लोग वेद, उपनिषद् ब्रह्मसूत्र और भगवद् गीता को तो मानते ही हैं; इनके अतिरिक्त वे पुराणों और तामिल भाषा के कुछ ग्रंथों को भी प्रमाण मानते हैं। यही वैष्णवों के 'आगम' हैं। यामुनाचार्य ने 'आगमों' का प्रामाण्य सिद्ध करने के लिये 'आगम प्रामाण्य' और 'महापुरुष-निर्णय' लिखे। 'सिद्धित्रय' और 'गीतार्थ-संग्रह' भी उनके प्रसिद्ध ग्रंथ हैं। रामानुज का श्री भाष्य वेदांत सूत्रों की प्रसिद्ध व्याख्या है। सुदर्शन भट्ट ने भाष्य पर 'श्रुत-प्रकाशिका' लिखी। इसके अतिरिक्त रामानुज ने गीता-भाष्य, वेदार्थ-संग्रह वेदांत-सार, वेदांत-दीप आदि भी लिखे हैं। रामानुज के बाद विशिष्टाद्वैत संप्रदाय का प्रचार करनेवालों में श्री वेंकटनाथ या वेदांतदेशिक (१३२० ई०) का नाम सब से प्रसिद्ध है। वेदांत-देशिक अनेक विषयों

के प्रकाण्ड पंडित थे। उन्होंने अद्वैत मत का बड़ा युक्तिपूर्ण खण्डन किया और विशिष्टाद्वैत के सिद्धांतों की शृंखलित व्याख्या की। उनके मुख्य ग्रंथ तत्त्व-टीका ('श्री भाष्य' की असम्पूर्ण व्याख्या), तात्पर्य-चंद्रिका (गीता-भाष्य पर टीका) 'तत्त्व मुक्ता कलाप' और 'शतदूषणी' हैं। अंतिम ग्रंथ में अद्वैत-वेदांत की कड़ी समीक्षा है। वेदांत देशिक ने 'सेश्वर मीमांसा' ग्रंथ भी लिखा है। श्री निवासाचार्य (१७०० ई०) की 'यतीन्द्र मत-दीपिका' में रामानुज के सिद्धांतों का संक्षिप्त और सरल वर्णन है। रामानुज ने उपनिषदों पर भाष्य नहीं लिखा। अठारहवीं शताब्दी में रंग रामानुज ने कुछ उपनिषदों पर विशिष्टाद्वैत के अनुकूल टीका की।

हिंदू-धर्म के इतिहास पर रामानुज का व्यक्त और विस्तृत प्रभाव पड़ा है। अद्वैतवाद के आलोचक और भक्ति-मार्ग के प्रचारक रामानुज के विशेष रूप से ऋणी हैं। मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य, चैतन्य, रामानंद आदि पर रामानुज के विशिष्टाद्वैत का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।

प्रत्यक्ष प्रकरण

रामानुज के मत में प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम यह तीन ही प्रमाण हैं। अनुमान-वाक्य में पांच नहीं तीन ही अवयव होने चाहिए, पहले तीन या बाद के तीन। सांख्य और वेदांत की भाँति यहां भी 'प्रत्यक्ष' का वर्णन महत्त्वपूर्ण है। रामानुज का निश्चित सिद्धांत है कि निर्विशेष या निर्गुण वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता। यदि अद्वैत वेदांत की तरह ब्रह्म को निर्गुण माना जाय तो ब्रह्म अज्ञेय हो जायगा। जानने का अर्थ है वस्तु को किसी 'विशेष' या 'गुण' से संबद्ध समझना। नैयायिकों के मत में निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में वस्तु की जाति आदि विशेषताओं का अनुभव नहीं होता। रामानुज का मत इससे भिन्न है। वे भी निर्विकल्पक और सविकल्पक का भेद मानते हैं, परंतु दूसरी प्रकार। सिर्फ़ वस्तु की सत्ता (सन्मात्रता) का ग्रहण नहीं हो सकता, इसलिये मानना चाहिए कि निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में भी पदार्थों के गुणों का कुछ बोध ज़रूर

होता है। गाय के निर्विकल्पक प्रत्यक्ष में 'यह गाय है' ऐसा ज्ञान होता है। यह ज्ञान सविकल्पक से भिन्न किस प्रकार है? सविकल्पक प्रत्यक्ष में 'यह भी गाय है, यह (अनेकों में से) एक गाय है' इस प्रकार का ज्ञान होता है। प्रत्येक वस्तु का जो पहली बार प्रत्यक्ष होता है वह निर्विकल्पक होता है। निर्विकल्पक ज्ञान भी जटिल है। रामानुज जाति या सामान्य को अलग पदार्थ नहीं मानते। व्यक्तियों में सादृश्य होता है जिसे देखकर हम 'जाति' या 'सामान्य' की धारणा बनाते हैं। जाति केवल बौद्धिक पदार्थ है।

जब श्रुतियां ब्रह्म को निर्गुण बताती हैं तब वे ब्रह्म में कुछ गुणों का अभाव कथन करती हैं, उनका अभिप्राय यही होता है कि ब्रह्म में अन्य गुण हैं। ब्रह्म-साक्षात्कार बिना भक्ति और उपासना के नहीं हो सकता। तत्त्व-ज्ञान भी बिना भगवान् की कृपा के नहीं होता और भगवान् की कृपा बिना भक्ति तथा उपासना के असंभव है।

सत्ख्याति

रामानुज का भ्रम-विषयक सिद्धांत 'सत्ख्याति' कहलाता है। ख्यातियों के विषय में दो श्लोक पाठक याद रख सकते हैं।

आत्म-ख्याति रसत्ख्याति रख्यातिः ख्यातिरन्यथा।
तथाऽनिर्वचन-ख्याति रित्येतत्ख्यातिपंचकम्॥
योगाचारा माध्यमिका स्तथा मीमांसका अपि।
नैयायिका मायिनश्च प्रायः ख्यातीः क्रमाज्जगुः॥

अर्थात् योगाचार, माध्यमिक, मीमांसक, नैयायिक और वेदांती क्रमशः आत्मख्याति, असत्ख्याति, अख्याति, अन्यथा-ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति के समर्थक हैं। रामानुज के अनुयायी इन सब

ख्यातियों को दोषपूर्ण मानते हैं और अपनी सत्ख्याति का प्रतिपादन करते हैं।

पाठकों को याद होगा कि अद्वैत वेदांती हर ज्ञान को सविषयक मानते हैं। परंतु ज्ञान के विषय की सत्ता प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक भेद से तीन प्रकार की हो सकती है। रामानुज सत्ताओं के इस वर्गीकरण को स्वीकार नहीं करते। सत्ता एक ही प्रकार की है। परंतु वे भी अद्वैत के इस सिद्धांत को मानते हैं कि प्रत्येक ज्ञान का विषय होता है। यही नहीं, प्रत्येक विषय सविशेष या गुणवाला भी होना चाहिए, अन्यथा उसकी प्रतीति न होगी। इसका यह अर्थ हुआ भ्रमज्ञान का भी विषय सत् होता है, वास्तविक होता है। शुक्ति में जो रजत दीखती है उसकी वास्तविक सत्ता होती है।

यहां पाठक संक्षेप में वेदांत का 'पंचीकरण' सिद्धांत समझ लें। जिन महाभूतों (स्थूल भूतों) का प्रत्यक्ष होता है उनमें से प्रत्येक में दूसरे भूत मिले रहते हैं। स्थूल पृथ्वी में आठवां-आठवां भाग जल, वायु आदि का है और शेष अपना। इस प्रकार प्रत्येक भौतिक पदार्थ में पांचों भूत वर्त्तमान हैं। यही पंचीकरण-प्रक्रिया है। शुक्ति में रजत के परमाणु वर्त्तमान हैं, इसलिये रजत का प्रत्यक्ष भी 'सत्पदार्थ' का प्रत्यक्ष है। इसी प्रकार रेते में जल-कण उपस्थित है और मृग-मरीचिका असत् का ज्ञान नहीं है। यतीन्द्रमत दीपिका कहती है,

अतः सर्वं ज्ञानं सत्यं सविशेषविषयंच, निर्विशेष वस्तुनोऽग्रहणात्।

अर्थात् सब ज्ञान (ज्ञानमात्र) सच्चा और सविशेष पदार्थ का होता है, निर्विशेष वस्तु का ग्रहण नहीं होता। इसका सीधा अर्थ यह है कि भ्रम या मिथ्या ज्ञान की वास्तव में सत्ता ही नहीं है। भ्रम की यह व्याख्या सर्वथा असंतोषजनक मालूम होती है। पंचीकरण सिद्धांत क्या हुआ, जादू हुआ, जो किसी वस्तु को कुछ दिखला सकता है। यदि पंची-

करण इतना व्यापक और प्रभावशाली है तो रस्सी में हाथी का भ्रम क्यों नहीं होता, सांप का ही क्यों होता है ? और शुक्ति में सर्प का भ्रम क्यों नहीं होता ? सत्ख्याति भ्रम की व्याख्या नहीं करती, उसकी सत्ता ही उड़ा देती है। यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान में भेद किये विना काम नहीं चल सकता। सत्ख्यातिवादियों से एक रोचक प्रश्न किया जा सकता है—क्या भ्रम से बचने की कोशिश करनी चाहिए ? यदि हां, तो वह कोशिश सफल कैसे हो सकती है ?

रामानुज के मत में प्रमा उस यथार्थ (वस्तु-संवादी) ज्ञान को कहते हैं, जो व्यवहारानुग भी है अर्थात् जिसके अनुसार व्यवहार करने से सफलता हो सकती है (यथावस्थित व्यवहारानुगुण ज्ञानं प्रमा)। स्वप्न के पदार्थ भी सत् होते हैं, परंतु स्वप्न-ज्ञान व्यवहार में काम नहीं आता। रामानुज के अनुसार स्वप्न के पदार्थों का स्रष्टा ईश्वर है, जीव नहीं। फिर विभिन्न व्यक्तियों के स्वप्न भिन्न-भिन्न क्यों होते हैं ? क्योंकि स्वप्न के पदार्थों की सृष्टि जीवों के कर्मानुसार होती है। अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुरूप ही जीव अच्छे बुरे स्वप्न देखता है। यह मत मनोविज्ञान के प्रतिकूल है। प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक फ्रॉयड के मतानुसार मनुष्य की अव्यक्त चेतना या अनभिव्यक्त मानसिक जीवन की गुप्त वासनाएं ही स्वप्नों का कारण होती हैं। अद्वैतमत में भी स्वप्न जीव की सृष्टि होते हैं परंतु रामानुज का कट्टर यथार्थवाद उन्हें स्वप्न-पदार्थों को काल्पनिक कहने से रोकता है।

रामानुज की सम्मति में पूर्व और उत्तर मीमांसा में कोई विरोध नहीं है। वेद के कर्म-काण्ड, उपासना-काण्ड और ज्ञान-कांड सभी का महत्त्व है। रामानुज का मत कोई नवीन मत नहीं है; उनका दावा है कि व्यास, बोधायन, गुहदेव, भारुचि, ब्रह्मानंद, द्रविड़ार्य, पराङ्कुश नाथ, यामुनाचार्य आदि प्राचीन शिक्षकों ने जो श्रुति की व्याख्याएं की हैं, वे उनके मत

के अनुकूल हैं। उन्होंने प्राचीनों की शिक्षा को पुनरुज्जीवित-मात्र किया है।

रामानुज के कुछ ही पहले के वेदांत के व्याख्याताओं में यह दो नाम उल्लेखनीय हैं। भास्कर का समय ६०० ई० समझना चाहिए। वे भेदाभेदवादी और ब्रह्म-परिणामवाद के समर्थक थे। ब्रह्म एक ही काल में भेदवान् और भेद-रहित, एक और अनेक दोनों है। एक ब्रह्म में से जगत् का बहुत्व विकसित होता है। भास्कराचार्य ने मायावाद का खंडन किया है। जड़ जगत् की वास्तविक सत्ता है। जीव और ईश्वर में स्फुलिंग और अग्नि का संबंध है। साधना के विषय में भास्कर का ज्ञान और कर्म के समुच्चय में विश्वास है।

भास्कर और यादव प्रकाश

यादव प्रकाश कुछ काल तक रामानुज के गुरु रहे थे, उनका समय ग्यारहवीं सदी है। रामानुज का समय भी यही शताब्दी है। थोड़े समय बाद उनका यादवप्रकाश से मतभेद हो गया। यादव भी ब्रह्मपरिणामवाद के प्रचारक थे। ब्रह्म चित्, अचित् और ईश्वर बन जाता है और अपने शुद्ध रूप में भी स्थित रहता है। ब्रह्म जगत् से भिन्न भी है और अभिन्न भी। । यादव ने ब्रह्म और ईश्वर में भेद किया जो रामानुज को स्वीकार नहीं है। भेदाभेदवाद भी ठीक नहीं, एक ही ब्रह्म में विरोधी गुण नहीं रह सकते। फिर ब्रह्म, जीव और जगत् में क्या संबंध है? रामानुज का अपना उत्तर कुछ जटिल है, अब हम उसी को समझने की चेष्टा करेंगे।

रामानुज के मत में ब्रह्म प्रकारी है और जीव तथा जगत् उसके प्रकार। प्रकार का अर्थ कुछ-कुछ जैन-दर्शन के 'पर्याय' शब्द के समान है। जैनियों के अनुसार द्रव्य ध्रुव या परिवर्तन-शून्य है और उसके पर्याय बदलते रहते हैं। इस प्रकार जैनों के द्रव्य में स्थिरता और परिवर्तन दोनों साथ चलते हैं। प्रकार-प्रकारी-भाव को अनेक दृष्टियों से समझा जा सकता है। रामानुज सत्कार्य-

प्रकार-प्रकारी भाव

वाद के समर्थक हैं। कारणता-विचार की दृष्टि से प्रकारी को उपादान और प्रकार को उपादेय (उपादान कारण का कार्य) कहना चाहिये। जीव और जगत् ब्रह्म के उपादेय हैं, ब्रह्म की परिणमन-क्रिया के फल हैं। ब्रह्म का जगत् और जीवों के रूप में परिणाम होता है, फिर भी ब्रह्म निर्विकार रहता है, यह श्रुति के अनुरोध से मानना चाहिए (श्रुतेस्तु शब्द मूलत्वात्)। ब्रह्म में विचित्र शक्तियां हैं, उसे कुछ भी अशक्य नहीं हैं।

ईश्वर तथा जगत् और जीवों में आत्मा और शरीर जैसा संबंध है। ईश्वर सब की आत्मा है। जैसे भौतिक-शरीर की आत्मा जीव है, वैसे ही जीव की आत्मा ईश्वर है। ईश्वर जीव का अन्तर्यामी है (अन्तर्याम्यमृतः)।

मीमांसा की परिभाषा में कहें तो जीव और ईश्वर में शेष-शेषी-भाव संबंध है।[1] मुख्य यज्ञ-विधान को शेषी कहते हैं और उसके साधनभूत सहकारी विधान को शेष। मीमांसा में शेष का अर्थ है 'उपकारी' अथवा पराए उद्देश्य से प्रवृत्त होनेवाला। जब मनुष्य अपना और ईश्वर का संबंध ठीक-ठीक समझ लेता है तब वह अपनी अहन्ता और व्यक्तित्व भगवान् के अर्पण कर देता है, उसके अपने उद्देश्य नहीं रहते और वह सिर्फ़ भगवत्-अर्पण बुद्धि से कर्मों में प्रवृत्त होता है। ऐसा करने में ही व्यक्तित्व की सार्थकता और असली स्वतंत्रता है।

भगवान् की उद्देश्य-पूर्ति का साधन जीव उनका दास है। इस तरह प्रकार-प्रकारी-भाव का अर्थ सेवक और स्वामी का संबंध भी है।

प्रकार और प्रकारी में गुण और द्रव्य का संबंध भी बताया जाता है। रामानुज का द्रव्य और गुण का संबंध-विषयक मत ध्यान देने योग्य है। उनके अनुसार द्रव्य और गुण में तादात्म्य संबंध नहीं है। 'देवदत्त मनुष्य है' यह वाक्य देवदत्त और मनुष्यता का तादात्म्य कथन नहीं करता, जैसा

---

१ रामानुज' ज आइडिया आफ द फाइनाइट सेल्फ़, पृ० ४०

कि सांख्य का मत है। गुणी गुण नहीं होता, और गुण गुणी (गुणवान् पदार्थ) से भिन्न है। रामानुज के मत में द्रव्य और गुण, प्रकारी और प्रकार में अत्यन्त भेद होता है।[1] गुण और गुणी में तादात्म्य नहीं, बल्कि सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहने का भाव) मानना चाहिए। प्रकार को प्रकारी का अपृथक्सिद्ध विशेषण समझना चाहिये। जीव और जगत् ईश्वर (प्रकारी) के प्रकार हैं, वे ईश्वर से अलग नहीं किये जा सकते, पर वे ईश्वर से भिन्न हैं। जीवों और जगत् की स्वतंत्र सत्ता है पर उन्हें ईश्वर से वियुक्त नहीं किया जा सकता; वे ईश्वर के ही अंग हैं, शरीर हैं, कभी जुदा न होनेवाले विशेषण हैं। ईश्वर उनका विशेष्य और आधार है।

रामानुज के दर्शन में द्रव्य और गुण आपेक्षिक शब्द है। यों तो जड़ और चेतन जगत् द्रव्य हैं जिनमें विभिन्न गुण पाये जाते हैं, परंतु ईश्वर की अपेक्षा से जीव और प्रकृति विशेषण या गुणात्मक है। ईश्वर ही विशेष्य या गुणी है जिसे प्रकृति और जीवगण विशेषित करते हैं। ईश्वर के द्रव्यत्व की अपेक्षा से जीव और प्रकृति द्रव्य नहीं, गुण हैं।

ज्ञान भी ज्ञाता का गुण होता है, इसलिये ज्ञाता और ज्ञान में भेद है। ज्ञाता को, अद्वैत-वेदांत के समान, ज्ञान-स्वरूप कहना ठीक नहीं। रामानुज-दर्शन में ज्ञान को 'धर्मभूत ज्ञान' कहा जाता है। जब जीव कुछ जानता है तब 'धर्मभूत ज्ञान' किसी इंद्रिय-द्वार से निकल कर ज्ञेय विषय से संयुक्त होता है। विषयी (आत्मा, ज्ञाता) और विषय (ज्ञेय, पदार्थ) में संबंध उत्पन्न करनेवाला 'धर्मभूत-ज्ञान' है।

जीव और ईश्वर का संबंध 'अंश' शब्द के प्रयोग से भी बतलाया जाता है। जीव ईश्वर का अंश है। गीता कहती है—ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, अर्थात् इस शरीर में भगवान् का एक सनातन अंश का कार्य है; ब्रह्म जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। ब्रह्म

[1] वही, पृ० १८

ही जीव बना हुआ है। परंतु यहां अंश का अर्थ 'जगह घेरनेवाला टुकड़ा' नहीं समझना चाहिए। ब्रह्म अखंड है, उस के देशात्मक टुकड़े नहीं हो सकते। रामानुज के मत में जीव ईश्वर का अंश है जैसे प्रकाश सूर्य का अंश है। या गुण (गोत्व, गो-पन) गुणी (गौ या गाय) का (ब्रह्म-सूत्र, २।३।४९,४६)।

इस प्रकार विशिष्टाद्वैत में जीव, जगत् और ब्रह्म का संबंध समझाने की तरह-तरह से चेष्टा की गई है। प्रकार-प्रकारी-भाव एक सामान्य नाम है जिसके अंतर्गत शेष-शेषी, अवयव-अवयवी, गुण-गुणी आदि अनेक संबंध हैं। इस संबंध का तात्पर्य यही है कि प्रकार और प्रकारी दोनों की वास्तविक सत्ता है, दोनों का अलग-अलग व्यक्तित्व है, एक का दूसरे में लय कभी नहीं होता। जीव ईश्वर की भांति ही नित्य है, वह अविद्या-कल्पित नहीं है। मुक्ति में भी जीव ब्रह्म से भिन्न व्यक्तित्ववाला रहता है और ब्रह्म के आनंद-पूर्ण सन्निध्य का उपभोग करता है। जीव ईश्वर का अंश है, शरीर है अथवा विशेषण या प्रकार है। जिस प्रकार शरीर और आत्मा अलग-अलग लक्षण वाले हैं वैसे ही जीव और ईश्वर तथा जगत् और ईश्वर भी हैं। ब्रह्म जीव से विजातीय (भिन्न जाति वाला) है, जैसे अश्व और गौ एक दूसरे से विजातीय हैं। परंतु फिर भी ईश्वर तथा जीवों और जगत् में घनिष्ठ संबंध है। एक को दूसरे से जुदा नहीं किया जा सकता। प्रकार और प्रकारी 'अपृथक्सिद्ध' हैं, उनकी पृथक्-पृथक् सिद्धि नहीं होती, उनमें विच्छेद संभव नहीं है। यही रामानुज का अद्वैत है। ब्रह्म में जगत् संनिविष्ट है जैसे पुष्प में गन्ध और सोने में पीला-पन। ब्रह्म (विशेष्य) को जीव और जगत् से (विशेषणों) से अलग करके वर्णन नहीं किया जा सकता। ब्रह्म में जगत् का अन्तर्भाव हो जाता है। सांख्य के प्रकृति और पुरुष दोनों ब्रह्म की विभूतियां हैं। इसीलिए श्रुति कहती है कि ब्रह्म को जान लेने पर कुछ जानने को शेष नहीं रहता (येनामतं मतं भवति, अविज्ञातं विज्ञातम्)। जगत् ब्रह्म

ही एकमात्र तत्त्व है पर वह ब्रह्म निर्गुण और निर्विशेष नहीं है, वह सविशेष अर्थात् विशिष्ट है। इस विशिष्ट तत्त्व की एकता के कारण ही रामानुज-दर्शन का नाम 'विशिष्टाद्वैत' है।

अब हम रामानुज के सिद्धांतों का शृङ्खला-बद्ध वर्णन करेंगे। वैशेषिक, सांख्य और जैनमत की तरह रामानुज ने भी पदार्थों का विभाग किया है। रामानुज का मत अनेक सिद्धांतों का मिश्रण-सा है। इसमें कहीं सांख्य के सिद्धांत अनुस्यूत दिखाई देते हैं, कहीं गीता और वेदांत के। पदार्थों के वर्गीकरण में विशिष्टाद्वैत की कुछ अपनी विशेषताएं भी हैं, जिनकी ओर हम यथा-स्थान इंगित करेंगे। 'सर्वदर्शन संग्रह' में वेंकटनाथ या वेदांतदेशिक कृत पदार्थ-विभाग का सारांश इस प्रकार दिया है :—

पदार्थ विभाग

द्रव्याद्रव्यप्रभेदान्मितमुभय विधं तद्विधं तत्त्वमाहु:।
द्रव्यं द्वेधा विभक्तं जड़मजड़ मिति, प्राच्यमव्यक्तकालौ॥
अन्त्यं प्रत्यक् पराक्च प्रथममुभयथा तत्र जीवेशभेदात्।
नित्याभूतिर्मतिश्चेत्यपरमिह, जड़ा मादिमां केचिदाहु:॥[1]

अर्थात्—द्रव्य और अद्रव्य के भेद से तत्त्व दो प्रकार का है। द्रव्य दो प्रकार का होता है, जड़ और अजड़। जड़ द्रव्य प्रकृति और काल हैं। अजड़ द्रव्य प्रत्यक् (चेतन) और पराक् भेद से दो तरह का है। प्रत्यक् अजड़ द्रव्य जीव और ईश्वर हैं; पराक् अजड़ द्रव्य 'नित्यविभूति' और 'धर्मभूत ज्ञान' हैं। नित्यविभूति को कुछ विद्वान् जड़ बतलाते हैं।

पदार्थ के दो भेद द्रव्य और अद्रव्य हैं, यह प्रमेय हैं। प्रमाण (प्रत्यक्ष, अनुमान, शब्द) भी पदार्थ हैं। अद्रव्य पदार्थ सिर्फ़ दस हैं अर्थात् सत्, रज, तम, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध, संयोग और शक्ति। मीमांसा का शक्ति-पदार्थ स्वीकार किया गया है। वैशेषिक के कुछ गुणों का अद्रव्यों में संनिवेश है। सांख्य के सत्, रज और तम यहां वैशेषिक

[1] सर्वदर्शनसंग्रह पृ० ४४

के अर्थ में 'गुण' बन गये हैं। विशिष्टाद्वैत की प्रकृति सांख्य के समान ही चौबीस तत्त्वों वाली है। नीचे लिखी तालिका में द्रव्यों का विभाग दिखाया गया है:—
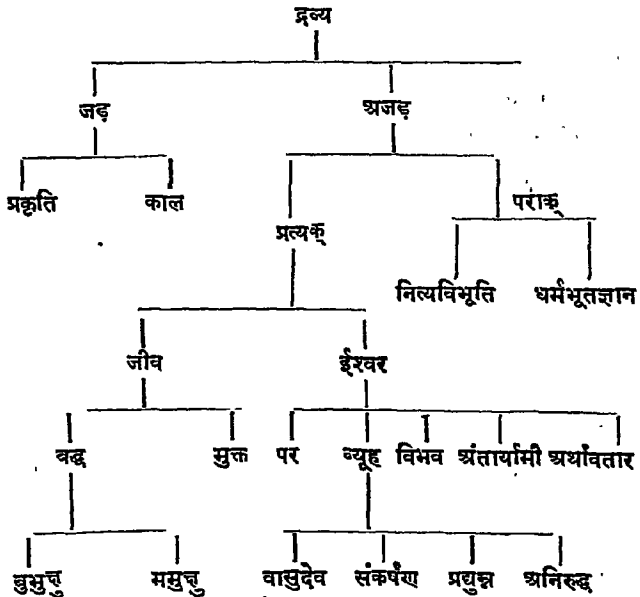
प्रकृति

प्रकृति प्रथम जड़ द्रव्य है, यह जीवों का निवास-स्थान है। क्योंकि स्वयं जीव ईश्वर का शरीर है। इसलिये प्रकृति ईश्वर का भी निवास-स्थान या शरीर है। प्रकृति सांख्य के समान ही 'त्रिगुणमयी' और चौबीस तत्त्वों की जननी है। परंतु यहां सत, रज, तम को द्रव्यात्मक नहीं माना गया है। क्योंकि यह प्रकृति के गुण हैं, इसलिये प्रकृति से भिन्न हैं; प्रकृति और गुणों में 'अपृथक्सिद्धता' है। सांख्य और विशिष्टाद्वैत की प्रकृति में कुछ और भी

दर्शनीय भेद हैं। (१) सांख्य की प्रकृति असीम या विभु है; रामानुज की प्रकृति नीचे की ओर तो अनंत है परंतु ऊपर की ओर 'नित्यविभूति' से परिच्छिन्न है। नित्यविभूति का वर्णन कुछ आगे करेंगे। (२) सिद्धांत में सांख्य की प्रकृति पुरुष पर किसी प्रकार निर्भर नहीं है परंतु रामानुज की प्रकृति सर्वथा चेतन-तत्त्व पर अवलंबित है। प्रकृति और ईश्वर में भी 'अपृथक्सिद्धि' संबंध है।

काल

काल प्रकृति से अलग तत्त्व माना गया है, पर ब्रह्म से अलग वह भी नहीं है। इस प्रकार विशिष्टाद्वैत का काल-तत्त्व न्याय और सांख्य दोनों से भिन्न है। प्रकृति की तरह काल का भी परिणाम होता है। क्षण, घंटे, दिन आदि काल के परिणाम हैं। काल की स्वतंत्र सत्ता है, परंतु अवकाश या शून्य प्रकृति का कार्य है। काल और प्रकृति में कौन पहले था, यह प्रश्न व्यर्थ है। परंतु देश (अवकाश) की अपेक्षा प्रकृति पहले है।

अजड़ तत्त्वों में हम प्रथम 'नित्यविभूति' और 'धर्मभूत ज्ञान' का, पराक्तत्त्वों का, वर्णन करेंगे। यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि विशिष्टाद्वैत में जड़ और चेतन का विभाग नहीं माना गया है। प्रायः चेतन तत्त्व से मतलब ज्ञान-शक्ति-सम्पन्न जीव और ईश्वर समझा जाता है और जड़तत्त्व से प्रकृति। रामानुज इन दो के बीच में एक प्रकार के तत्त्व मानते हैं जो 'अजड़' हैं, पर चेतन नहीं हैं। 'धर्मभूत ज्ञान' और 'नित्यविभूति' जड़ द्रव्य नहीं हैं, न वे जीव और ईश्वर की भाँति चेतन ही हैं। वे विशिष्टाद्वैत के 'पराक्-तत्त्व' हैं जब कि जीव और ईश्वर 'प्रत्यक्तत्व' हैं। प्रत्यक् और पराक् में क्या भेद है?

अजड़-प्रत्यक् और पराक्

अजड़ का अर्थ है 'स्वयं-प्रकाश' जड़ उससे विरुद्ध को कहा जायगा। शुद्धसत्त्व (नित्य विभूति), धर्मभूत ज्ञान, जीव और ईश्वर यह अजड़ अर्थात् स्वयं-प्रकाश द्रव्य हैं। 'पराक्तत्त्व' स्वयं प्रकाश तो होता है, पर स्वयं-ज्ञेय नहीं होता।

परात्तत्त्व का प्रकाश दूसरों के लिये है (स्वयं प्रकाशत्वे सति परस्मा एव भासमानत्वं-यतीन्द्र मत दीपिका) पराक् तत्त्व अजड़ है, पर साथ ही अचेतन भी है।

सतोगुण-प्रधान नित्यविभूति है, अन्यगुण प्रधान प्रकृति। नित्यविभूति स्वयं प्रकाशद्रव्य है, योग की सिद्धियों से उसका कोई संबंध नहीं है। वह ऊर्ध्व देश में, ऊपर की ओर अनन्त है। नीचे की ओर प्रकृति से परिच्छिन्न है। मुक्त जीवों और ईश्वर के शरीर, निवासस्थान, तथा अन्य उपकरण इसी द्रव्य के बने हुये हैं। वैकुण्ठ लोक, गोपुर, वहां के जीवों के शरीर, विमान, कमल, आभूषण आदि नित्यविभूति के कार्य हैं।

नित्य विभूति

ऐसा मालूम होता है कि एक ही सांख्य की प्रकृति गुण-विशेष की प्रधानता के कारण विशिष्टाद्वैत की 'प्रकृति' और 'नित्यविभूति' बन गई है। दोनों मिलकर सब दिशाओं में अनंत भी हो जाती हैं। नित्यविभूति का दूसरा नाम 'शुद्ध-सत्त्व' है जिसका अर्थ यह है कि वैकुण्ठादि लोकों रजस् और तमस् गुणों का अभाव है। परंतु सतोगुण की प्रधानता या अन्य गुणों के अभाव के कारण ही 'नित्य विभूति' किस प्रकार जड़त्व को छोड़कर 'अजड़' हो जाती है, यह समझ में नहीं आता। हमारी समझ में 'नित्य विभूति' को जड़ मानने वाले विद्वान् अधिक ठीक हैं। यदि सतोगुण सम्पन्न प्रकृति को 'अजड़' माना जाय तो प्राकृतिक जगत् में ही जड़ और अजड़ का भेद करना पड़ेगा। नित्यविभूति उन पदार्थों का उपादान कारण है जो 'आदर्श जगत्' (मुक्त जीवों के लोक) में पाई जाती हैं। इस जगत् में भी भगवान् की पवित्र मूर्तियां (जैसे श्रीरंगम् में) नित्यविभूति का कार्य कथन की जाती हैं। वास्तव में प्रकृति और नित्यविभूति में भेदक रेखा खींचना कठिन है।

विशिष्टाद्वैत संप्रदाय में ज्ञान द्रव्य माना जाता है, परंतु वह ईश्वर और जीवों का धर्मभूत (गुण) भी है। 'धर्मभूतज्ञान' का यही तात्पर्य है। 'यतीन्द्र मत दीपिका' के अनुसार धर्मभूत ज्ञान,

धर्मभूत ज्ञान

स्वयं प्रकाशाचेतन द्रव्यत्वे सति विषयित्वम्। विभुत्वेसति प्रभावद्द्रव्य गुणात्मकत्वम्। अर्थप्रकाशो बुद्धिरिति तल्लक्षणम्।

स्वयं-प्रकाश, अचेतन द्रव्य और ज्ञान का विषय है, विभु अर्थात् व्यापक है, प्रभापूर्ण द्रव्य और गुणात्मक है; अर्थ का प्रकाश करनेवाला, बुद्धिरूप है।

धर्मभूत ज्ञान द्रव्य है क्योंकि उसमें परिवर्तन होता है (द्रव्यं नाना दशावत्—वेदांतदेशिक); अद्वैत के अन्तःकरण के समान धर्मभूत ज्ञान विषयाकार हो जाता है। आत्मा में परिवर्तन नहीं होता, ज्ञान और अनुभव से धर्मभूतज्ञान में परिवर्तन होता है। धर्मभूत ज्ञान से संसक्त आत्मा में अनुभव की विविधता और एकरसता दोनों संभव हैं। सुख, दुख इच्छा, द्वेष, प्रयत्न आदि अलग गुण नहीं हैं जैसा कि न्याय-वैशेषिक मानते हैं; वे धर्मभूत ज्ञान के ही रूपान्तर हैं। इसी प्रकार काम, संकल्प विचिकित्सा, श्रद्धा, अश्रद्धा सब ज्ञानरूप हैं। विशिष्टाद्वैत का मनोविज्ञान बुद्धि प्रधान है, वह रेशनल साइकोलॉजी है। धर्मभूत ज्ञान मन या मन-सहित इंद्रियों से सहचरित होकर ही क्रियमाण होता है और प्रत्यक्ष, अनुमान, स्मृति, संशय, विपर्यय, भ्रम, राग, द्वेष, मोह, मात्सर्य आदि में परिणत हो जाता है। नाना दशावाले को द्रव्य कहते हैं (द्रव्यं नाना दशावत्) इस लक्षण के अनुसार धर्मभूत ज्ञान 'द्रव्य' है।

परंतु वह गुणात्मक भी है;[1] ज्ञान बिना जीव या ईश्वर के अवलंबन के कुछ भी नहीं कर सकता। धर्मभूत ज्ञान व्यापक है, इसलिए मुक्त

---

[1] हिरियन्ना पृ० ४०४

जीव में अणु होने पर भी अनंत ज्ञान संभव है। अणुजीव सारे शरीर को जान सकता है, क्योंकि जीव का इस ज्ञान से 'अपृथक्सिद्धि' संबंध है इसीलिए उपनिषद् कहती है—न विज्ञातुर्विज्ञातेः विपरिलोपोविद्यते, अर्थात् ज्ञाता के ज्ञान का कभी लोप नहीं होता। बद्ध जीवों का ज्ञान तिरोहित रहता है जो कि मुक्तों में अभिव्यक्त हो जाता है। धर्मभूत ज्ञान ज्ञेय है (ज्ञातुर्ज्ञेयावभासा मतिः), परंतु किसी दूसरे ज्ञान द्वारा नहीं, यह स्वयंप्रकाश है। अचेतन होने के कारण धर्मभूतज्ञान में स्वयं ज्ञेयता, अपनी चेतना या अनुभूति, नहीं है। वह स्वयंप्रकाश है, इसीलिए जड़ नहीं है। अब सचेतन प्रत्यक्तत्त्वों का वर्णन करते हैं।

जीव

जीव अणु है और चेतन है। वह चक्षु, श्रोत्र आदि से भिन्न है। जीव के अणु होने में श्रुति स्मृति ही प्रमाण हैं। जीव की उत्क्रान्ति (शरीर से निर्गमन) सुनी जाती है; उसके प्रमाण (परिमाण) का भी कथन है। जैसे,

अंगुष्ठ मात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति (कठ)।

तथा

बालाग्र शत भागस्य शतधा कल्पितस्य च ।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्या कल्पते ॥

(श्वेताश्वेतर)

यहाँ पहले श्लोक में जीव को अंगुष्ठ-मात्र कथन किया गया है और दूसरे में बाल के अग्रभाग का दसहजारवां अंश। मतलब यह है कि जीव का अणु परिमाण है। धर्मभूतज्ञान से नित्य संबद्ध होने के कारण जीव एक साथ ही अनेक पदार्थों को जान सकता है। इसी प्रकार एक जीव अनेक शरीरों में भी रह सकता है जैसा कि कुछ सिद्ध लोग करते हैं।

जीवों के कर्मों के अनुसार, अथवा उन कर्मों के फलस्वरूप प्रवृत्तियों के अनुसार, ईश्वर उन से कर्म कराता है। ईश्वर ही वास्तविक कर्त्ता

है। जीव के अच्छे बुरे कर्मों के लिये ईश्वर उत्तरदायी नहीं है, पूर्व-कर्म और उनसे बना स्वभाव आदि ही उत्तरदायी हैं। कर्म-विपाक ईश्वर के अस्तित्व का ही नियम या स्वभाव है, इसलिए उसे मानने से ईश्वर की स्वन्तत्रता और सर्वशक्तिमत्ता में कोई फर्क नहीं पड़ता। जीव कर्म करने में स्वतन्त्र है, परन्तु बिना ईश्वर की सहायता के वह कर्म नहीं कर सकता। खेत में जैसा बीज डाला जाय वैसा फल उगता है, परन्तु पर्जन्य या मेघ की अपेक्षा सब बीजों को रहती है। इसी प्रकार भिन्न-भिन्न प्रवृत्तिवाले जीवों को ईश्वर की अपेक्षा रहती है। इसीलिये ईश्वर को कर्माध्यक्ष कहा जाता है।

कहीं-कहीं लम्बे वर्गीकरण में विशिष्टाद्वैती जैनियों का अनुकरण करते हैं। जीव मुक्त है, या बद्ध जीवों में कुछ मुमुक्षु (मोक्षार्थी) है, कुछ बुभुक्षु (भोगार्थी)। मुमुक्षुओं में कुछ भक्त होते हैं कुछ प्रपन्न। बुभुक्षु जीवों में कुछ अर्थ (धन) और काम में मग्न रहते हैं, कुछ धार्मिक हैं। धार्मिक जीवों में कुछ देवताओं के उपासक हैं, कुछ भगवान् के, इत्यादि!

ईश्वर

सूक्ष्म चित् (चेतन जीव, गीता की परा प्रकृति) और अचित् (जड़ प्रकृति) से विशिष्ट ईश्वर जगत् का कारण है, उपादान है; संकल्प-विशिष्ट ईश्वर विश्व का निमित्त कारण है। सूक्ष्म-चित्-अचित् विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल-चित्-अचित्-विशिष्ट ब्रह्म कार्य है। वेदांत-वाक्यों के समन्वय से ब्रह्म का जगत्कारण होना सिद्ध है। ईश्वर निर्गुण या निर्विशेष नहीं है, वह ज्ञान, शक्ति और करुणा का भंडार है। वह सर्वेश्वर, सर्वशेषी, सब कर्मों से आराध्य, सर्व-फल-प्रदाता, सर्व-कार्योत्पादक और सर्वाधार है। सारा जगत् उसका शरीर है, वह जगत् के दोषों से मुक्त है। वह सत्य, ज्ञान, आनंद और निर्मलता धर्मवाला है। वह जीवों का अंतर्यामी है और स्वामी है, जीव उसका शरीर है, उसके विशेषण या प्रकार हैं। विशिष्टाद्वैत का ईश्वर व्यक्तित्ववान् पुरुष है

और अप्राकृत वैकुंठ जैसे स्थानों में रहनेवाला है। ईश्वर का जीव, प्रकृति, काल आदि से 'अपृथक्सिद्धि' संबंध है। तथापि ईश्वर जीव, प्रकृति आदि से अत्यंत भिन्न है, ईश्वर के गुण शेष जड़ और अजड़ पदार्थों से अलग हैं। जीव, प्रकृति आदि ईश्वर के विशेषण हैं, पर वे द्रव्य भी हैं।

उपासकों के अनुरोध से भगवान् पांच मूर्त्तियों में रहते हैं। अर्चा, विभव, व्यूह, सूक्ष्म और अंतर्यामी यह भगवान् के पांच रूप हैं। यह क्रमशः ईश्वर के ऊँचे रूप हैं। उपासकों की बुद्धि और पवित्रता के अनुसार ही ईश्वर की विशिष्टमूर्त्ति पूजनीय है। देवमूर्त्तियां भगवान् का अर्चावतार हैं; मत्स्यावतार आदि 'विभव' हैं; वासुदेव, संकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध 'व्यूह' हैं; 'सूक्ष्म' से मतलब परब्रह्म से है; 'अंतर्यामी' प्रत्येक शरीर में वर्त्तमान है। 'सूक्ष्म' या 'पर' ब्रह्म से मतलब वैकुंठवासी भगवान् से भी समझा जाता है। शेष उनकी शय्या हैं और लक्ष्मी प्रियपत्नी। लक्ष्मी जगत् की माता हैं, वे ईश्वर की सृजन-शक्ति का मूर्त्त चिह्न हैं। वे दंड देना नहीं जानतीं और पापियों के प्रति करुणामयी हैं।

साधना

साधक के लिये आवश्यक है कि पहले कर्मयोग (गीतोक्त) से अपने हृदय को शुद्ध कर ले। उसके बाद आत्मस्वरूप पर मनन करने का नंबर है। आत्मा या जीव शरीर और इंद्रियों से भिन्न है। यह मनन या विचार ही ज्ञान-योग है। परंतु अपने आत्मा को जान लेना ही यथेष्ट नहीं है। रामानुज का निश्चित मत है कि भगवान् को जाने बिना मनुष्य अपने को नहीं जान सकता। भगवान् जीव के अंतरात्मा हैं, उन्हें बिना जाने जीव का स्वरूप ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता।

भगवान् को जानने का उपाय भक्ति-योग है। यह साधनावस्था का सबसे ऊँचा स्टेज है। भक्ति का अभिप्राय भगवान् का प्रीतिपूर्वक ध्यान करना है (स्नेहपूर्वं मनुध्यानं भक्तिः)। इस प्रकार ध्यान करने से ही

---

[1] दे० सर्वदर्शन संग्रह, पृ० ४७

भगवत्स्वरूप का बोध हो सकता है जो कि मोक्ष का अन्यतम साधन है। भगवान् पर अपनी संपूर्ण-निर्भरता (शेषत्व) की भावना और उससे उत्पन्न अनुरागपूर्णचिंतन ही भक्ति है। भक्ति मोक्ष का साधन नहीं है, भक्ति की अवस्था स्वयं साध्य है। भक्ति फलस्वरूप है। भक्ति की प्राप्ति ही जीवन का चरम उद्देश्य है।

विशिष्टाद्वैत के अनुसार किसी भी काल में मनुष्य को कर्म नहीं त्यागने चाहिए। कुमारिल की भाँति रामानुज का भी मत है कि नित्य कर्मों का सदैव अनुष्ठान करना चाहिए। इसका अर्थ यह हुआ कि विशिष्टाद्वैत संन्यास का समर्थन नहीं करता। मोक्ष के लिये संन्यास आवश्यक नहीं है। तथापि कर्म मोक्ष का साक्षात् साधन नहीं है, और न रामानुज 'समुच्चय-वाद' के ही समर्थक हैं। मोक्ष का साक्षात् हेतु तो ज्ञान ही है; विशेष प्रकार का परमात्म-विषयक ज्ञान ही भक्ति है जो स्वयं मोक्षस्वरूप है।

ज्ञान और भक्ति सिर्फ़ द्विजातियों अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के लिये हैं। शूद्रों के लिये 'प्रपत्ति' का उपदेश किया जाता है। प्रपत्ति का अर्थ है शरणागति; अपने को सब प्रकार भगवान् के ऊपर छोड़ देना प्रपत्ति है। प्रपत्ति वैष्णव-संप्रदाय की विशेष शिक्षा है। रामानुज के मत में तो 'भक्ति' का पर्यवसान 'प्रपत्ति' में ही होना चाहिए। 'प्रपत्ति' भक्ति की अंतिम दशा है।[1]

मोक्ष

रामानुज की मोक्ष-विषयक धारणा अन्य दर्शनों से भिन्न है। अन्य दर्शनों में मोक्षावस्था आत्मा और शरीर (प्रकृति, जड़तत्त्व) के वियोग का नाम है। बुद्धि, मन, अंतःकरण आदि भौतिक हैं; लिंग-शरीर भौतिक है; उनका आत्मा से संसर्ग न रहना ही मोक्ष है। न्याय-वैशेषिक, सांख्य और मीमांसा के अनुसार मोक्षावस्था ज्ञान और आनंद की अवस्था नहीं है। पर रामानुज के मत में मोक्ष-दशा में शरीर, ज्ञान और आनंद सब का भाव होता है,

१ दे० हिरियन्ना, पृ० ४१३।

अभाव नहीं। परंतु मुक्ति का शरीर अप्राकृतिक अथवा 'नित्यविभूति' का कार्य होता है। 'नित्यविभूति' के उपादान बैकुंठ में मुक्तजीव शरीरधारी होकर भगवान् के सान्निध्य का आनंद लूटते हैं। मुक्त जीव भगवान् के अत्यंत समान होता है, परंतु जगत् की उत्पत्ति, प्रलय आदि में उसका कोई हाथ नहीं होता।

एक दूसरी प्रकार के मुक्त जीव भी होते हैं, जिन्हें 'केवली' कहते हैं। यह जीव अपने स्वरूप पर मनन करके, जीव प्रकृति आदि से भिन्न है, इस पर विचार करके, मुक्त हुये हैं और सबसे अलग रहते हैं। स्पष्ट ही यह सांख्य-योग की मुक्ति विशिष्टाद्वैत को पसंद नहीं है। 'केवली' मुक्त पुरुष मानना दूसरे दर्शनों के लिये आदर-भाव प्रकट करता है।

रामानुज का महत्व

रामानुज का दर्शन जनता का दर्शन है। जनता के धार्मिक और नैतिक विश्वासों का जैसा समर्थन रामानुज ने किया वैसा किसी ने नहीं किया। मैक्समूलर ने परिहास में लिखा है कि रामानुज ने हिन्दुओं को उनकी आत्माएं वापिस दे दीं। अभिप्राय यह है कि शंकराचार्य ने जीव और व्यक्तित्व को मिथ्या या माया का कार्य बता दिया था जिससे हिन्दू जाति वास्तविक आत्मा की सत्ता में संदेह करने लगी थी, रामानुज ने जीव की पारमार्थिक सत्ता का मंडन किया। जीवात्मा, जगत् और ईश्वर तीनों की पारमार्थिक सत्ता है, न कि केवल व्यावहारिक। इस प्रकार हमारे व्यावहारिक जीवन और नैतिक प्रयत्नों का महत्त्व बढ़ जाता है। हमारे कर्तव्य असली कर्तव्य हैं। जिन्हें पाप कहा जाता है वे वास्तव में पाप हैं। पाप-पुण्य, भले-बुरे आदि का भेद काल्पनिक या व्यावहारिक नहीं है। बंधन और मोक्ष वास्तविक हैं। बिना द्वैत को स्वीकार किये प्रेम या भक्ति नहीं हो सकती। प्रेमी और प्रेमास्पद, भक्त और भगवान् दोनों की वास्तविक सत्ता के बिना प्रेम और भक्ति संभव नहीं है।

रामानुज ने द्वैत के साथ अद्वैत की भी रक्षा की। जीव और प्रकृति

भगवान् से भिन्न होते हुये भी उनकी विभूति, प्रकार या विशेषण हैं। क्योंकि जीव और प्रकृति दोनों ब्रह्म के प्रकार हैं, इसलिये उनमें अत्यंत विरोध नहीं होना चाहिए। प्रकृति से अत्यंत विच्छेद ही मोक्ष क्यों माना जाय? मुक्ति-दशा में शरीर और उसके विषयों का वर्त्तमान होना इतना बुरा क्यों समझा जाय? रूप, रस, गंध, स्पर्श के अनुभवों से इतनी घृणा क्यों? मुक्त जीव भी 'नित्यविभूति' के शरीर और लोक में रमण करता है। मोक्ष का अर्थ सब प्रकार के अनुभवों का रुक जाना या ज्ञान का सर्वनाश नहीं है जैसा कि न्याय-वैशेषिक और सांख्य-योग मानते हैं। मुक्त जीव की अनुभूति बन्द नहीं हो जाती, बढ़ जाती है; वह जड़ नहीं हो जाता, अधिक चेतन हो जाता है। तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि अन्य दर्शनों के घोर द्वैत ने रामानुज को प्रभावित ही नहीं किया। 'प्रकृति' और 'नित्य विभूति' का भेद इसी द्वैत का प्रभाव दिखलाता है। वास्तव में यह भेद स्वयं रामानुज की युक्तियों के अनुकूल नहीं है। यदि इसका यह अर्थ लगाया जाय कि मुक्त जीव प्रकृति से संसक्त होते हुए भी प्रकृति के दोषों से बचा रहता है, प्रकृति में जो शोभन और शुभ है, उसी से मुक्त जीव सहचरित होता है, तो रामानुज का मत निर्दोष है।

विशिष्टाद्वैत-दर्शन ने भक्ति, प्रेम, कर्तव्य आदि के लिए शंकर की अपेक्षा अधिक जगह निकाल ली; वह भगवद्गीता के भी अधिक अनुकूल है। इसीलिए आज भारत की अधिकांश जनता, ज्ञात या अज्ञात रूप से, रामानुज की अनुयायिनी है। कुछ बिगड़े दिमाग़ के 'ऊँची कोटि के' पंडितों को छोड़ कर अद्वैत के वास्तविक अनुयायी कम हैं।

दार्शनिक कठिनाइयां

रामानुज की फिलॉसफी हृदय को अधिक संतुष्ट करती है, परंतु बुद्धि को वह उतना ही संतुष्ट नहीं कर पाती। हम यह नहीं कहते कि दार्शनिक को हृदय की आवश्यकताओं पर ध्यान नहीं देना चाहिए, परंतु बुद्धि की मांगों का ख्याल

रखना भी कम आवश्यक नहीं है। जो हृदय और बुद्धि दोनों को पूर्ण-रूप से संतुष्ट करे, ऐसे दर्शन का आविष्कार अभी मानव-जाति ने नहीं किया है। शंकर और रामानुज दोनों के दर्शन सदोष हैं। शंकर और रामानुज मनुष्य थे और मनुष्य की प्रत्येक कृति सदोष या अपूर्ण होती है। इस अध्याय के प्रारंभ में हमने शंकर की आलोचना की थी, अध्याय के अन्त में हम रामानुज के दोषों का दिग्दर्शन करेंगे। हमें खेद है कि 'दोष-दर्शन' जैसा अप्रिय काम हमारे सिर पर पड़ा है, पर एक निष्पक्ष आलोचक से और क्या आशा की जा सकती है? दार्शनिक लेखक बड़े प्रयत्न से दूसरे विचारकों के सिद्धांतों की व्याख्या करता है और फिर बने-बनाये घर में आलोचना की कुल्हाड़ी लगा देता है। 'ऋषि एक नहीं है जिसका वचन प्रमाण हो' और जब ऋषिगण आपस में झगड़ पड़ें तो ग़रीब अध्येता, जो निष्पक्ष रहना चाहता है, क्या करे?

भक्ति के लिए भगवान् की आवश्यकता है, मानव-हृदय एक आदर्श की खोज में है जिस पर वह अपना प्रेम न्यौछावर कर सके। सत्य, शिव और सुंदर के आदर्श को मानव-बुद्धि ने भगवान् या ईश्वर का नाम दिया है। परंतु ऐसे ईश्वर ने दुःखमय संसार की सृष्टि क्यों की, इसका कोई उत्तर नहीं है। जीवों के कर्मों को अनादि बता कर संसार के दुःख को उनके मत्थे मढ़ना बात को टाल देना है। इस सिद्धांत की परीक्षा (वेरीफिकेशन) संभव नहीं है। फिर 'करुणामय ईश्वर जीव के पाप कर्मों को नष्ट या क्षमा भी तो कर सकता है। किसी ईश्वरवादी ने इन कठिनाइयों का सामना ईमानदारी से नहीं किया है। योग-दर्शन ने ईश्वर को सृष्टि-रचना से अलग करके अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया है, परंतु प्रकृति बिना ईश्वर की देख-रेख के विचित्र रचना कैसे करती है, यह भी सरल प्रश्न नहीं है।

रामानुज ईश्वर और जीव को निर्विकार मानते हैं। उन्होंने सारा परिवर्तन 'धर्मभूत-ज्ञान' को दे दिया है। परंतु जिस वस्तु के धर्मों

(गुणों) में परिवर्तन होता रहता है उसे अपरिवर्तनीय कहना कहां तक ठीक है, यह विचारणीय है। ईश्वर के विशेषण जीव और प्रकृति दोष-ग्रस्त हैं, फिर ईश्वर को निर्दोष कहने का क्या अभिप्राय है ?

असीम और ससीम का संबंध बताना दर्शनशास्त्र की प्रमुख समस्या है। जीव तथा जगत् और ईश्वर में क्या संबंध है, यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। जीव और प्रकृति द्रव्य हैं, उनका विशेषण या प्रकार होना समझ में नहीं आता। रामानुज ने शंकर के निर्गुण और निर्विशेष ब्रह्म की आलोचना की है। परंतु रामानुज का अपना ब्रह्म उससे विशेष भिन्न नहीं है। यदि परिवर्तित होनेवाले और सदोष विशेषणों को हटा लिया जाय तो रामानुज के ब्रह्म का क्या शेष रह जाता है ? यदि गुण और गुणी में अत्यंत भेद है तो ब्रह्म और उसके कल्याण गुणों में अत्यंत भेद है। उस दशा में स्वयं ब्रह्म एक प्रकार से निर्गुण ही रह जाता है।

विभिन्न जीवों में भेद करनेवाला क्या है, यह भी विशिष्टाद्वैत ठीक नहीं बतला सकता। सब जीव एक ही ब्रह्म के प्रकार या विशेषण हैं, फिर उनमें इतना भेद क्यों है ? ब्रह्म के 'प्रकार' खंड-खंड क्यों हो रहे हैं ? जीव और ज्ञान का संबंध भी विचित्र है। रामानुज के धर्मभूतज्ञान की अपेक्षा सांख्य का अन्तःकरण अधिक सुंदर धारणा है। अन्तःकरण की वृत्तियों को पुरुष का चैतन्य प्रकाशित करता है। वृत्तियां जड़ हैं। रामानुज के अजड़ धर्मभूत ज्ञान और जीव का संबंध ठीक समझ में नहीं आता। दोनों द्रव्य हैं और एक दूसरे का विशेषण नहीं हो सकते।

ब्रह्म का एक प्रकार (जीव) दूसरे प्रकार (प्रकृति) को जानता है। इन प्रकारों का संबंध किस तरह का है ? रामानुज 'परिणामवाद' के समर्थक हैं परंतु परिणाम-वाद की कठिनाइयों से श्रुति की दुहाई देकर ही नहीं बचा जा सकता। दूसरे मतवाले श्रुति का दूसरा अभिप्राय बतलाते हैं। परिणाम-वाद का युक्ति-पूर्ण मंडन भी होना चाहिए। प्रकार और प्रकारी में अत्यन्त भेद मानने पर अभेद श्रुतियों से विरोध होता है, अभेद

मानने पर जीवों की स्वतंत्रता नष्ट हो जाती है। जीव को स्वतंत्र मानने पर अद्वैत नहीं रह सकता और परतंत्र मानने पर 'उत्तरदायित्व' समझ में नहीं आता। परतंत्र जीव अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं हो सकता, उसे अच्छा-बुरा फल भी नहीं मिल सकता। अद्वैत वेदांत ने इन कठिनाइयों से बचने के लिए मायावाद की शरण ली और पारमार्थिक तथा व्यावहारिक दृष्टिकोणों की कल्पना की। द्वैत व्यावहारिक या आपेक्षिक है, अद्वैत पारमार्थिक (माया मात्र मिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः)। परंतु रामानुज तो मायावाद के समर्थक नहीं हैं। उनकी कठिनाइयों का कोई दूसरा 'हल' या समाधान भी समझ में नहीं आता। उनका 'प्रकार्यद्वैत' या 'विशिष्टाद्वैत' दार्शनिक दृष्टि से निर्दोष नहीं है।

आठवां अध्याय

(परिशिष्ट)

वेदांत के अन्य आचार्य

पुस्तक की भूमिका में हमने वेदांत को 'बारह दर्शनों में से एक समझ कर गिना था। वास्तव में वेदांत के अन्तर्गत अनेक दर्शन हैं और भारतीय दार्शनिक संप्रदायों की संख्या बारह से कहीं अधिक है। रामानुज और शंकर के सिद्धांतों में महत्त्वपूर्ण भेद हैं; यही अन्य आचार्यों के विषय में भी कहा जा सकता है। प्रायः वेदांत के सभी दूसरे आचार्यों ने शांकर मत की आलोचना की है। इन सब आचार्यों के मतों और आलोचनाओं का शृङ्खलित वर्णन इस छोटी पुस्तक में संभव नहीं है। यहां हम दो तीन आचार्यों की शिक्षा का दिङ्मात्र प्रदर्शित करेंगे।

निम्बार्काचार्य [1]

इनका समय रामानुज के कुछ ही बाद ग्यारहवीं शताब्दी समझना चाहिए। यह तेलेगू ब्राह्मण थे और वैष्णव मत के अनुयायी, इन्होंने ब्रह्मसूत्र पर 'वेदांत-पारिजात-सौरभ' नामक भाष्य लिखा है। इनका मत द्वैताद्वैत कहलाता है जो भास्कराचार्य के भेदाभेदवाद से समानता रखता है। प्रसिद्ध केशव कश्मीरी जिन्होंने गीता और ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखे हैं, निम्बार्क के ही अनुयायी थे।

जीव ज्ञान-स्वरूप है और ज्ञान जीव का गुण भी है। गुण और गुणी में तादात्म्य नहीं होता, पर उनका भेद देखा नहीं जा सकता। आकार में जीव अणु है, परंतु उसका ज्ञान गुण व्यापक है। प्रत्येक दशा में जीव में

---

[1] राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० ७५१

आनंद रहता है। अचेतन तत्त्व तीन हैं, अप्राकृत (रामानुज का शुद्ध सत्त्व या नित्यविभूति), प्रकृति और काल। ईश्वर का नियन्ता होना नित्य धर्म है। वह जगत् का उपादान और निमित्त कारण दोनों है। निम्बार्क ने विवर्त्तवाद का खंडन करके परिणामवाद का पक्ष लिया है। ईश्वर, जीव और प्रकृति में अत्यन्त अभेद या भेद नहीं है। जीव और प्रकृति परतन्त्र सत्ताएं हैं और ब्रह्म स्वतंत्र। ब्रह्म की शक्ति जगत् की रचना करती है। जिसे रामानुज ब्रह्म का शरीर कहते हैं उसे निम्बार्क ब्रह्म की शक्ति पुकारते हैं। शक्ति के परिवर्तन ब्रह्म को नहीं छूते।

निम्बार्क भक्ति-मार्गी हैं। नारायण और लक्ष्मी के स्थान पर उन्होंने कृष्ण और राधा को स्थापित किया। भक्ति का अर्थ उपासना नहीं, प्रेम है। भक्ति अनन्य होनी चाहिये। दूसरे देवताओं की भक्ति वर्जित है। जीव और अजीव की ब्रह्म पर निर्भरता ही निम्बार्क का अद्वैत है। उनके दर्शन में द्वैत की भावना प्रबल है। निम्बार्क ने रामानुज की आलोचना की है। विशेषण का काम विशिष्ट पदार्थ को अन्य पदार्थों से भिन्न करना होता है। चित् और अचित् विशेषण ईश्वर को किससे भिन्न करेंगे? अतएव चित् और अचित् को ईश्वर का विशेषण मानना ठीक नहीं।

शंकर के आलोचक वेदांत के आचार्यों में मध्व का नाम प्रमुख है।

मध्वाचार्य [1]

वे द्वैतवादी थे। मध्वाचार्य पूर्णप्रज्ञ और आनंद-तीर्थ के नाम से भी प्रसिद्ध हैं, उनके दर्शन को पूर्णप्रज्ञ-दर्शन भी कहते हैं। मध्व का जन्म ११९९ ई० में हुआ। उन्होंने ब्रह्मसूत्र पर भाष्य लिखा और अपने 'अनुव्याख्यान' में उसी की पुष्टि की। अनुव्याख्यान पर जयतीर्थ ने 'न्यायसुधा' टीका लिखी। जयतीर्थ की 'वादावली' भी प्रसिद्ध ग्रंथ है। इसमें श्रीहर्ष के टीकाकार चित्सुख की आलोचना है। व्यासराज का 'भेदोऽजीवन' भेद की वास्तविकता सिद्ध

---

[1] मध्वाचार्य के सिद्धान्तों के लिए देखिए, नागराज कृत, रेन आफरि अलिज़्म इन इण्डियन फ़िलासफ़ी।

करता है। उसी लेखक का 'न्यायामृत' प्रसिद्ध ग्रंथ है। मधुसूदन सरस्वती की 'अद्वैत-सिद्धि' में 'न्यायामृत' की आलोचना की गई जिसका उत्तर रामाचार्य की 'न्यायामृत-तरंगिणी' में दिया गया। 'गुरुचन्द्रिका' ने तरंगिणीकार का खंडन किया, जिसके प्रत्युत्तर में 'न्याय-तरंगिणी-सौरभ' लिखा गया। 'न्याय-रत्नालंकार' में द्वैत और अद्वैत के इस रोचक शास्त्रार्थ का सारांश इकट्ठा किया गया है।

अद्वैतवाद की आलोचना

शंकराचार्य के अध्यास और विवर्त्त सिद्धांत की मध्व और उनके अनुयायियों ने कड़ी आलोचना की है। मध्व ने इस बात पर ज़ोर दिया है कि भ्रम या भ्रान्त ज्ञान भी सर्वथा-नियम हीन नहीं होता। रस्सी में सर्प का भ्रम होता है, शुक्ति में रजत का। रस्सी में रजत या हाथी का भ्रम क्यों नहीं होता? भ्रम के लिए दो सत्य पदार्थों का होना आवश्यक है। सर्प और रजत की वास्तविक सत्ता है, इसलिए उनका भ्रम होता है। यदि जगत् की वास्तविक सत्ता नहीं है तो ब्रह्म में उसका अध्यास या भ्रम भी नहीं हो सकता।

संसार में भेद नहीं है अभेद ही है, या भेद अवास्तविक अथवा मायिक है, यह कहना साहस-मात्र है। भेद की वास्तविकता को माने बिना जगत् का कोई व्यवहार नहीं चल सकता। गुरु और शिष्य, पिता और पुत्र, पति और पत्नी के संबंध भेद की सत्ता सिद्ध करते हैं। यदि भेद न हो तो समाज और उसके व्यवहारों का लोप हो जाय। पाप और पुण्य, ज्ञान और अज्ञान का भेद तो अद्वैती को भी मानना पड़ेगा। यदि प्रमा और अप्रमा (यथार्थ ज्ञान और अयथार्थ ज्ञान) में भेद नहीं है तो दार्शनिक चिंतन की आवश्यकता ही क्या है? मध्व के अनुसार पांच प्रकार का भेद बहुत ही स्पष्ट है :—

१—जड़ और जड़ का भेद—एक जड़ पदार्थ दूसरे जड़ पदार्थ से भिन्न है। कुर्सी और मेज अलग-अलग हैं।

२ जड़ और चेतन का भेद—जीव और अजीव का भेद बिल्कुल स्पष्ट है। प्राणधारी और प्राण-शून्य पदार्थों की भिन्नता बालक भी जानते हैं। उसे सिद्ध करने के लिये प्रमाण की आवश्यकता नहीं है।

३—जीव और जीव का भेद—जीव बहुत से हैं, यह भी स्पष्ट है। अन्यथा सुख, दुःख आदि सब को साथ ही साथ होते।

४—जीव और ईश्वर का भेद—ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है, जीव अल्पज्ञ और अल्प शक्तिवाला। अतएव उनमें भेद है।

५—जड़ और ईश्वर- जीव की तरह ईश्वर भी जड़ से भिन्न है।

इन भेदों की वास्तविकता के पक्ष में सब से बड़ी युक्ति व्यावहारिक है। उक्त भेदों को माने बिना व्यवहार नहीं चल सकता। यदि जीव और जीव का भेद न मानें तो नैतिक जीवन नष्ट हो जायगा। कोई सुखी कोई दुःखी क्यों है, इसका उत्तर देते न बन पड़ेगा। इसी प्रकार अन्य भेदों को भी मानना चाहिए।

परंतु भेदों की व्यावहारिक सत्ता से तो अद्वैत वेदांत को भी इन्कार नहीं है। मध्व के मत में भेद व्यावहारिक ही नहीं, पारमार्थिक है। भेद की सत्ता ही नहीं है, यह सिद्ध करने की कोशिश कुछ अन्य वेदांतियों ने की थी।

मध्वाचार्य के सिद्धांत

भारत के अधिकांश दार्शनिकों की तरह मध्व तीन प्रमाण मानते हैं, अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान और श्रुति। उपमान अनुमान में अन्तर्भूत है। सिर्फ़ प्रत्यक्ष और अनुमान की सहायता से हम विश्व की पहेली को नहीं समझ सकते, श्रुति की सहायता आवश्यक है। मध्व स्वतः प्रामाण्यवादी हैं। ज्ञाता और ज्ञेय के बिना ज्ञान संभव नहीं है, इसलिये अद्वैतवाद व्यर्थ है। ज्ञाता और ज्ञेय में सीधा संबंध होता है। ज्ञाता एकदम ज्ञेय को जान लेता है। सत्ताएं दो प्रकार की हैं, स्वतंत्र और परतंत्र। परम पुरुष परमात्मा की ही

एकमात्र स्वतंत्र सत्ता है। परतंत्र सत्ता जीव और जड़-तत्त्व की है। अभाव भी परतंत्र पदार्थ है।

जीव, जगत् और ब्रह्म तीनों अलग-अलग हैं। श्रुति जब ब्रह्म को 'एक मेवाद्वितीयम्' (एक अद्वितीय) कहती है तो उसका तात्पर्य ब्रह्म को सर्वश्रेष्ठ घोषित करना होता है। ब्रह्म से बढ़कर और कुछ नहीं है। ब्रह्म में पर अपर का भेद नहीं है, ब्रह्म एक ही है जिसमें अशेष अच्छे गुण पाए जाते हैं। ब्रह्म का अलौकिक शरीर है और लक्ष्मी सहचरी है। लक्ष्मी नित्य मुक्त है।

जैनियों की तरह मध्व भी प्रत्येक भौतिक पदार्थ को आत्मा या जीव-युक्त समझते हैं। एक परमाणु के बराबर स्थान में अनंत जीव रहते हैं (परमाणु-प्रदेशेष्वनन्ताः प्राणिराशयः)।[1] ब्रह्म पर अवलम्बित होने पर भी जीव कर्म करने में स्वतंत्र हैं। जीव स्वभावतः आनंदमय है, जड़-तत्त्व का संयोग ही उसके दुःख का कारण है। मोक्षावस्था में जीव का आनंद अभिव्यक्त हो जाता है।

मध्व सांख्य की प्रकृति को स्वीकार करते हैं। महत्, अहंकार, बुद्धि मन, दस इंद्रियां, पांच विषय और पांच भूत यह चौबीस प्रकृति के विकार हैं।

ज्ञान से ईश्वर पर निर्भर होने की भावना उत्पन्न होती है। विश्व को समझ लेने से ब्रह्म या ईश्वर का ज्ञान होता है। ईश्वर को जानने से उसमें भक्ति उत्पन्न होती है। पवित्र जीवन व्यतीत करने से सत्य की उपलब्धि होती है। गुरु के चरणों में बैठकर नियमपूर्वक वेदाध्ययन करने से तत्त्व-बोध होता है। वेद पढ़ने का अधिकार शूद्रों और स्त्रियों को नहीं है, परंतु वेदांत का अध्ययन सब बुद्धिमान पुरुष कर सकते हैं। सब कुछ करने पर भी बिना भगवान् की कृपा के न ज्ञान हो सकता है न मोक्ष। मुक्त पुरुषों की बुद्धियां, इच्छाएं और उद्देश्य एक हो जाते हैं, यही

---

१ राधाकृष्णन्, भाग २ पृ० ७४३।

उनकी एकता है। एकता का अर्थ तादात्म्य नहीं है। 'स आत्मा तत्त्वमसि' का पदच्छेद मध्व 'स आत्मा अतत् त्वम् असि' करते हैं, जिसका अर्थ है, वह आत्मा तू नहीं है। मुक्त जीव और ईश्वर की एकता मध्व को स्वीकार नहीं है।

वल्लभाचार्य[1]

शुद्धाद्वैत के प्रवर्त्तक श्री वल्लभाचार्य का समय पंद्रहवीं शताब्दी समझना चाहिए। वे विष्णु स्वामी के अनुयायी थे। उनके कार्य का क्षेत्र उत्तर भारत रहा, यद्यपि वे जन्म से दक्षिणी बतलाए जाते हैं। श्री वल्लभाचार्य ने वेदांत-सूत्रों पर 'अणुभाष्य' लिखा है और भागवत पुराण पर 'सुबोधिनी' की रचना की है। 'प्रस्थान त्रयी' के साथ ही वे भागवत को भी प्रमाण मानते थे। उनके संप्रदाय को 'ब्रह्मवाद' और 'पुष्टि मार्ग' भी कहते हैं। पुष्टि का अर्थ है पोषण अथवा अनुग्रह अर्थात् भगवत्कृपा। अपने को हीन मानकर जो भगवान् की दया पर निर्भर रहते हैं उन्हीं का कल्याण होता है।

एक ब्रह्म ही तत्वपदार्थ है और श्रुति ही उसके विषय में प्रमाण है। ब्रह्म निर्गुण नहीं, सगुण है। जहां श्रुति ने ब्रह्म को निर्गुण कहा है वहां उसका तात्पर्य ब्रह्म को सत्, रज, तम आदि से रहित कथन करना है। ईश्वर या ब्रह्म या कृष्ण सृष्टिकर्त्ता हैं। कर्तव्य के लिए शरीर की आवश्यकता नहीं है। फिर भी भक्तों पर अनुग्रह करने के लिए भगवान् का अवतार होता है। भगवान् सत्, चित् और आनंद-स्वरूप हैं। जीव का आनंद बद्ध दशा में तिरोहित हो रहा है। भगवान् अपनी शक्ति से जगत् की सृष्टि और प्रलय करते हैं; वे जगत् के उपादान और निमित्त कारण दोनों हैं। जगत् मिथ्या या मायामय नहीं है। माया ब्रह्म की ही शक्ति है, इसलिए जगत् सत्य है। अविद्या के कारण जीव बंधन में पड़ा है।

[1] वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों के लिए देखिए, 'श्रीमद् वल्लभाचार्य और उनके सिद्धान्त' भट्ट श्री व्रजनाथ शर्मा कृत।

यह अविद्या माया से भिन्न है और इसका आश्रय जीव है। वल्लभ शंकर के मायावाद का समर्थन नहीं करते, उन्होंने विशिष्टाद्वैत को भी स्वीकार नहीं किया है। सांख्य की प्रकृति की स्वतंत्र सत्ता भी उन्हें अभिमत नहीं है। जीव और जगत् दोनों सत्य हैं, मिथ्या नहीं हैं, पर वे ब्रह्म के विशेषण नहीं, अंश हैं। वास्तव में जीव और ब्रह्म एक ही हैं। वल्लभाचार्य की सब से प्रिय उपमा अग्नि और स्फुलिंग का संबंध है। जैसे अग्नि से स्फुलिंग या चिनगारियां निकलती हैं वैसे ही ब्रह्म से चित् और अचित्, जीव और जगत्, उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार द्वैत कहीं है ही नहीं, अद्वैत ही परमार्थ सत्य है। 'ब्रह्म ने इच्छा की कि मैं एक से बहुत हो जाऊं'; अपने को अभिव्यक्त करना ब्रह्म का स्वभाव है, वही सृष्टि का हेतु है।

जीव अणु है। मुक्ति का अर्थ भगवान् के साथ रहकर उनकी लीलाओं का आनंद लेना है। भक्ति मोक्ष का मुख्य साधन है और ज्ञान गौण। शरीर भगवान् का मंदिर है, उसे दुःख देने से कोई लाभ नहीं है। वल्लभ चार व्यूहों का सिद्धांत मानते हैं। सब कुछ ब्रह्म से उत्पन्न होता है, 'तत्वमसि' (वह तू है) का अक्षरार्थ ही वास्तविक अर्थ है। तिलक और तुलसी का धारण, वर्णाश्रम धर्म का पालन और सेवा, पुष्टि-मार्ग की मुख्य शिक्षाएं हैं। भगवान् के अनुग्रह में विश्वास रखना चाहिए। शुद्धाद्वैत-मार्त्तण्ड में लिखा है—

ये तु ज्ञानैक संनिष्ठा स्तेषां लय एव हि,
भक्तानामेव भवति लीलास्वादः अति दुर्लभः।

अर्थात् जो केवल ज्ञानी हैं उनका भगवान् में लय हो जाता है। अपने व्यक्तित्व को बनाए रख कर भगवान् की लीलाओं का अति दुर्लभ आस्वाद भक्तों के लिए ही है।

वल्लभ के पुष्टि मार्ग का उत्तर-भारत पर बहुत प्रभाव पड़ा। कृष्ण-भक्ति का उपदेश इस संप्रदाय की प्रसिद्धि का मुख्य कारण हुआ। बहुत से श्रेष्ठ कवि, जिनमें सूर-

वल्लभाचार्य का प्रभाव

दास और मीरा का नाम मुख्य है, इस मत के अनुयायी बन गये और उन्होंने अपनी सरस काव्यसृष्टि से उत्तर भारत को कृष्ण-भक्ति में डुबा दिया। हिन्दी-साहित्य में जिन्हें 'अष्टछाप' के कवि कहते हैं वे वल्लभाचार्य के ही अनुयायी थे।[1] वल्लभ से पहले मध्व-संप्रदाय ने भी कवियों को प्रभावित किया था। मध्व संप्रदाय् से प्रभावित होने वाले हिन्दी-कवियों में विद्यापति मुख्य हैं।[2]

श्री चैतन्य महाप्रभु

बंगाल में वैष्णव-धर्म और भक्ति-मार्ग का प्रचार करनेवालों में चैतन्यदेव का नाम मुख्य है। उनका जन्म १४८५ ई० में हुआ। श्री चैतन्य पर विष्णु-पुराण, हरिवंश-पुराण और भागवत का बहुत प्रभाव पड़ा और वे राधा-कृष्ण के अनन्य भक्त बन गए। उन की शिक्षा को दार्शनिक आधार जीव गोस्वामी (सोलहवीं शताब्दी) ने दिया। चैतन्य का व्यक्तित्व आकर्षक था। वे जाति-पाँति के भेदों से ऊपर थे। उन्होंने कई मुसलमानों को अपना शिष्य बनाया। जीवस्वामी का 'शत-सन्दर्भ' और• बलदेव का वेदान्त पर 'गोविन्द भाष्य' उल्लेखनीय ग्रन्थ हैं। भक्ति-साहित्य वास्तव में प्रान्तीय भाषाओं में विकसित और परिवर्द्धित हुआ है।

चैतन्य-संप्रदाय में विष्णु ही अन्तिम तत्व है। विष्णु या कृष्ण की तीन शक्तियां हैं चिद्, माया और जीव। चिद्-शक्ति से भगवान् अपने गुणों की अभिव्यक्ति करते हैं। उनकी आनन्द-शक्ति (ह्लादिनी) का व्यक्त स्वरूप राधिका (कृष्ण-प्रिया) हैं। माया-शक्ति से भगवान् जड़ जगत् को उत्पन्न करते हैं और जीव-शक्ति से आत्माओं को। जीव भगवान् से भिन्न है और अणुपरिमाणवाला है। जीव और जगत् भगवान् के विशेषण नहीं हैं, उनकी शक्ति की अभिव्यक्तियां हैं। बलदेव ने माया को प्रकृति वर्णन किया है जिसमें भगवान् के ईक्षणमात्र से गति उत्पन्न होती है।

---

[1] देखिये श्यामसुन्दर दास कृत 'हिन्दी भाषा और साहित्य' पृ० ४०७

[2] वही, पृ० ४०६

मोक्ष का अर्थ है भगवान् की प्रीति का निरन्तर अनुभव। प्रेम ही मुक्ति है, भक्ति ही वास्तविक मोक्ष है। भगवद्-भक्ति की प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। विशुद्ध प्रेम और काम-वासना में ज़मीन-आसमान का अन्तर है। ज्ञान की अपेक्षा भी भक्ति श्रेष्ठ है; भक्ति के विना भगवान नहीं मिल सकते।

सिंहावलोकन

अपनी पहले और दूसरे भाग की भूमिकाओं में हमने इस बात पर ज़ोर दिया था कि विभिन्न दार्शनिकों और आचार्यों में मतभेद है; यही नहीं हमने यह भी कहा था कि मतभेद अच्छी चीज़ है और किसी राष्ट्र या जाति की उन्नति का अन्यतम कारण है। क्योंकि हमें भारत के दार्शनिक इतिहास का खण्ड-खण्ड करके वर्णन करना था, इसलिये इस 'भेद' पर गौरव देना आवश्यक था। अन्यथा इस बात का भय था कि पाठक विभिन्न संप्रदायों की विशेषताओं और सूक्ष्मताओं पर ध्यान देने के कष्ट से बचने की चेष्टा करते। अब जब कि हम विभिन्न मतों का अलग-अलग अध्ययन कर चुके हैं, यह आवश्यक है कि हम सम्पूर्ण भारतीय-दर्शन पर एक विहंगम-दृष्टि डालें और सब दर्शनों की सामान्य विशेषताओं को समझने की कोशिश करें। भारत में प्राचीन काल से राजनीतिक नहीं, किन्तु धार्मिक और सांस्कृतिक एकता रही है; भारत के सारे हिन्दुओं में यह एकता आज भी अक्षुण्ण है। इस सांस्कृतिक और धार्मिक एकता का दार्शनिक आधार क्या है, यह जानने योग्य बात है।

जैसा कि हम कह चुके हैं भारतीय दार्शनिक ससीम से असंतुष्ट होकर असीम की खोज में रहे हैं। शास्त्रीय भाषा में वे मोक्षार्थी थे। मोक्ष का अर्थ देश-काल के बंधनों से छुटकारा पाना है। भारतीय-दर्शन का विश्वास है कि बंधन और दुःख आत्मा का स्वभाव नहीं है और यदि उन्हें स्वभाव मान लिया जाय तो मुक्ति संभव न हो सकेगी। आत्मा अजर, अमर और शुद्ध-बुद्ध है, सब प्रकार का बन्धन अज्ञानकृत है और

ज्ञान से नष्ट हो सकता है। बन्धन और बन्धन का हेतु तथा आत्मा का यह द्वैत भारतीय-दर्शन की मूल धारणा है। आलोचकों का यह कथन कि भारतीय-दर्शन इस लोक से विमुख और परलोक में अनुरक्त है, बहुत हद तक ठीक है। परन्तु क्योंकि साधनावस्था इस लोक की ही चीज़ है, इस लिए लौकिक व्यवहारों को भी महत्व देना पड़ता है।

उपर्युक्त 'द्वैत' भारत के सभी दर्शनों में वर्त्तमान है। जैन-दर्शन 'कार्माण-वर्गणा' या कर्म-परमाणुओं से अलग होने को मोक्ष कहता है; सांख्य-योग में प्रकृति का संसर्ग छूटना ही कैवल्य है। न्याय-वैशेषिक के जीव की मोक्ष ज्ञान-शून्य अवस्था है; यही मीमांसा का मत है। परन्तु यदि प्रकृति और पुरुष दोनों को समान रूप से पारमार्थिक माना जाय तो मोक्ष-दशा में उनमें संबन्ध होना अनिवार्य है। इसलिए वेदान्त का कहना है कि 'बन्धन और बन्धन के हेतु' की वास्तविक सत्ता नहीं है। जगत् माया का प्रपंच है, उसकी केवल व्यवहारिक सत्ता है जो मुक्त पुरुष के लिए नहीं रहती। ऐसी दशा में मुक्त पुरुष और प्रकृति के सम्बन्ध का प्रश्न ही नहीं उठता।

वेदान्त को 'अद्वैतवाद' कहा जाता है परन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो वेदान्त भी द्वैत-दर्शन है। तीन प्रकार की सत्ताएं, सत्, असत् और अनिर्वचनीय, व्यवहारिक सत्य और परमार्थ सत्य आदि की धारणाएं द्वैत-मूलक हैं। यह द्वैत बंधन और मोक्ष के ही मूल में वर्त्तमान है। यदि वास्तव में किसी दर्शन को अद्वैतवाद कहा जा सकता है तो वह भक्ति-मार्गियों का दर्शन है। भगवद्गीता और रामानुज के सिद्धान्त वास्तविक अद्वैत हैं; वहां जीव और जगत् को ब्रह्म की दो प्रकृतियां (परा और अपरा) या विशेषण अथवा प्रकार कथन किया गया है। वल्लभाचार्य के मत में चिद् माया और जीव ब्रह्म की शक्तियां हैं। रामानुज की फिलॉसफी तो हीगल की फिलॉसफी से मिलती-जुलती है। भेद वास्त-विक है; चरम-तत्त्व की एकता भेदों में अभिव्यक्त हो रही है। भेद ही

'एक' का जीवन है। भेदों का सामानाधिकरण्य (एक अधिकरण में रहने का स्वभाव) ही रामानुज के विशिष्टाद्वैत का मूल-मंत्र है। रामानुज के मत में शरीर और जीव दोनों ब्रह्म के विशेषण हैं; वे उन दोनों में अन्य दर्शनों की तरह घोर द्वैत नहीं मानते। मुक्ति में भी जीव का शरीर होता है। रामानुज ने जीवों को स्पिनोज़ा की अपेक्षा अधिक व्यक्तित्व और स्वतंत्रता देने की कोशिश की है।

परन्तु इससे पाठक यह न समझ लें कि द्वैत-वाद कोई बुरी चीज़ है या रामानुज शंकर से बड़े दार्शनिक हैं। इस प्रकार के अद्वैतवाद में कठिनाइयां हैं। 'एक' से 'अनेक' की उत्पत्ति कैसे होती है? विश्व-तत्त्व एक साथ ही 'सम' और 'विषम' कैसे हो सकता है? सारे दार्शनिक अन्तिम तत्त्व को निरञ्जन, निर्विकार और निर्द्वन्द्व कथन करते हैं, फिर संसार में विकार और द्वन्द्व कहां से आ जाते हैं? संसार में दुःख निराशा, भय, घृणा, द्वेष क्यों हैं? विशुद्ध ब्रह्म इन सब का कारण हो सकता है, यह समझ में नहीं आता। अपने जीवन की सब मूल्यवान् वस्तुओं—विद्या, प्रेम, महत्त्वाकाङ्क्षा, पाप, पुण्य आदि—को माया कहने को भी जी नहीं चाहता। ऐसे ब्रह्म का हम क्या करें जिसे हमारे तुच्छ जीवन से कोई सहानुभूति नहीं है?

जड़ और चेतन का भेद मानकर भारतीय-दर्शनों ने चेतन-तत्त्व पर बड़े मनोयोग से विचार किया है। 'बहुदेववाद' और 'तटस्थेश्वर वाद' को ठुकरा कर वे चैतन्य-तत्व की एकता के सिद्धान्त पर उपनिषत्काल में ही पहुँच गए। उपनिषदों में ही ब्रह्म-परिणामवाद अथवा 'मायाशून्या द्वैत' भी पाया जाता है। चेतन-सम्बन्धी विचारों में इतनी जल्दी किसी देश में विकास नहीं हुआ।

साधना-संबंधी विचारों में भारतीय दर्शन काफ़ी विचित्रता उपस्थित करता है। वैदिक-काल की साधना देवस्तुति और सरल यज्ञ थे। इसके बाद 'कर्मकाण्ड' का अभ्युदय हुआ और वर्णाश्रम-धर्म की शिक्षा शुरू

हुई। यह शिक्षा अथवा आदर्श अपने विकृत रूप में आज भी चला जाता है। 'यौगिक क्रियाओं' की शिक्षा सर्व साधारण के लिये न थी, वह गृहस्थ-धर्म के अनुकूल भी न थी। इसलिए 'कर्मयोग' और 'ज्ञान-योग' का जन्म हुआ जिनके संमिश्रण से 'समुच्चयवाद' (ज्ञान और कर्म दोनों से मोक्ष-प्राप्ति के विश्वास) का उदय हुआ। इन सब के साथ ही भागवत-धर्म की भक्ति-विषयक शिक्षा भी चलती रही जिसने बाद को भारत पर पूरा आधिपत्य जमा लिया।

भारतीय सभ्यता और संस्कृति के क्रिश्चियन (ईसाई) आलोचक इस बात पर बहुत ज़ोर देते हैं कि भारत के लोग जगत् को मिथ्या और सामाजिक व्यवहारों को झूठ समझते हैं। उनकी सम्मति में 'वेदान्त दर्शन' ही भारत का प्रतिनिधि दर्शन है और उसमें मायावाद की शिक्षा है। इस प्रकार की आलोचना आलोचकों के पक्षपात और मूर्खता की परिचायक है। हम कह चुके हैं कि वेदान्त ने नैतिक जीवन की आवश्यकता से कभी इनकार नहीं किया। चरित्र की शुद्धता पर जितना भारतीय दर्शन ने ज़ोर दिया है उतना किसी ने नहीं दिया। इसका कारण यहां पर धर्म और दर्शन में भेद न करना था। भारत में वेदान्त के अतिरिक्त अन्य दर्शनों का भी यथेष्ट प्रचार रहा है। न्याय और मीमांसा समय-समय पर प्रसिद्ध दर्शन रह चुके हैं। वस्तुतः शंकर का 'ज्ञानयोग' मीमांसा के बढ़े हुए प्रभाव के विरुद्ध प्रतिक्रिया थी। शंकर का मायावाद जनता में कभी प्रसिद्ध नहीं हुआ। भारतीय जनता के धार्मिक और दार्शनिक विचारों का स्रोत पुराण-ग्रन्थ रहे हैं। प्रायः सभी पुराण जीव और प्रकृति के ईश्वर से अलग तथा ईश्वर पर निर्भर होने की शिक्षा देते हैं। पुराणों के दर्शन को हम 'सेश्वर सांख्य' कह सकते हैं। भिन्न-भिन्न पुराणों में ईश्वर को शिव, विष्णु, देवी आदि नामों से अभिहित किया गया है। मतलब एक ही परम-तत्त्व से है जो जगत् का आधार है।

प्राचीन काल से भगवद्गीता हिन्दुओं का प्रिय ग्रंथ रहा है और उस में स्पष्ट की कर्मयोग तथा भक्ति का प्रतिपादन है। रामानुज के बाद से तो भारतीय स्पष्टरूप से भक्ति-मार्गी बन गये। अद्वैत वेदान्त के शिक्षक भी भक्ति-मार्ग के प्रभाव से वञ्चित न थे। शंकराचार्य करते हैं,

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्

सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः।

अर्थात्—हे भगवान्! भेद मिट जाने पर भी मैं आप का कहलाऊँगा न कि आप मेरे। तरंग को 'समुद्र की' बतलाया जाता है; समुद्र 'तरंग का' है, ऐसा कोई नहीं कहता।

आश्चर्य ही बात है कि रामानुज से आरंभ करके निम्बार्क, मध्वाचार्य, कबीर, दादू, नानक, वल्लभाचार्य, तुलसीदास, सूरदास, चैतन्यदेव, तुकाराम, समर्थ स्वामी (शिवाजी के गुरु) आदि ने जो भारत क कोने-कोने में भक्ति की धारा प्रवाहित की उसे भारत के यह धुरंधर आलोचक देख ही नहीं सकते। शिव, विष्णु, राम और कृष्ण पर लिखे गये भारतीय भक्ति-काव्य के सामने योरुप का सारा ईसा-साहित्य तुच्छ और नीरस है। हम ऐसा पक्षपात-वश नहीं कहते, यह ऐतिहासिक तथ्य है। शिव-संबन्धी भक्ति-काव्य के विषय में बार्नेट कहता है,

'संसार के किसी धर्म ने इतना समृद्ध तथा कल्पना, चमत्कार, भाव, और सौष्ठव-युक्त भक्ति-काव्य उत्पन्न नहीं किया है।'[1]

यह एक निष्पक्ष विद्वान् के भारतीय भक्ति-काव्य के एक अंश के विषय में उद्गार हैं। बार्नेट ने हिन्दी के सूरसागर, विनय-पत्रिका आदि का अध्ययन नहीं किया होगा अन्यथा वह शैव भक्ति काव्य को ही इतना महत्व न दे देता। भक्ति-काव्य भारतीय साहित्य की स्पृहणीय विशेषता है। आज भी वैष्णव-साहित्य से प्रभावित रवीन्द्र नाथ की 'गीताञ्जलि' ने सहज ही पश्चिम को मोह लिया।

---

१ दी हार्ट आफ इण्डिया, पृ० ८२

आधुनिक काल में श्री लोकमान्य तिलक ने 'गीता रहस्य' लिखकर 'कर्मयोग' को प्रसिद्धि देने की कोशिश की है। संसार के सब से बड़े कर्मयोगी महात्मा गांधी को उत्पन्न करने का श्रेय आज भारत को ही है। गीता का 'कर्मयोग' साधना-क्षेत्र में भारतवर्ष का सब से बड़ा आविष्कार है। जड़वाद और प्रतिद्वन्द्विता से पीड़ित योरुप को भी आज उसी की आवश्यकता है। आल्डस हक्सले नामक लेखक का विचार है कि संसार का त्राण 'निष्काम कर्म' के आदर्श से ही हो सकता है।

आधुनिक स्थिति

राजनीतिक स्वतंत्रता और बौद्धिक साहस साथ-साथ चलते हैं। यह ठीक है कि हम मुसलमानों के राजत्व काल में सत्रहवीं शताब्दी तक भिन्न-भिन्न विषयों पर संस्कृत में ग्रन्थ-रचना होती हुई पाते हैं, फिर भी उस की प्रगति मन्द ज़रूर पड़ गई। भारतीय इतिहास के पूर्वार्द्ध में जैसे उच्च-कोटि के विचारक उत्पन्न हुये वैसे उत्तरार्द्ध में दिखलाई नहीं देते। दर्शनों के प्रणेता, शंकर, रामानुज, प्रशस्तपाद, उद्योतकर, वाचस्पति, उदयन और गंगेश जैसे मौलिक विचारकों की संख्या दिन-प्रति-दिन कम होती गई। यह मानना ही पड़ेगा कि भक्ति-मार्ग के शिक्षकों में दार्शनिक प्रौढ़ता कम है। मध्व, वल्लभ, निम्बार्क आदि की तुलना पहले आचार्यों से नहीं की जा सकती। उत्तर काल के लेखकों में तार्किकता तो है, पर मौलिकता नहीं है। साथ ही उसको रचनाओं में एक विशेष कट्टरपन का भाव है जो आंशिक निर्जीवता का लक्षण है। हिन्दू धर्म और दर्शन की इस कट्टरता का भी ऐतिहासिक कारण है। कड़े सामाजिक, धार्मिक और व्यावहारिक नियम बना कर हिन्दुओं ने अपने धर्म और संस्कृति को विदेशियों के प्रभाव से बचाने की कोशिश की। कट्टरता के अभाव में, संभव है कि हिन्दू-सभ्यता और संस्कृति मुस्लिम-सभ्यता में लीन होकर नष्ट हो जाती। भक्ति-काव्य की करुणा और भगवान् के सम्मुख दीनता

का भाव भी कुछ-कुछ हिन्दुओं की राजनीतिक हीनता का परिचायक है। इस प्रकार हम देखते हैं कि किसी जाति के सामाजिक और धार्मिक जीवन तथा विचारों पर राजनीतिक स्थिति का निश्चित प्रभाव पड़ता है।

यह प्रभाव आधुनिक काल में भी देखा जा सकता है। ब्रिटिश राज्य के आने पर भारतीयों को धार्मिक और सांस्कृतिक स्वतंत्रता मिली। पश्चिमी-साहित्य के संपर्क से विचार-स्वातंत्र्य का उदय भी हुआ। नवीन शिक्षितों को अपनी जाति की कट्टरता और हीनता खटकने लगी। योरुप के स्वतंत्र विचारकों ने उनकी आंखें खोल दीं। उन्होंने देखा कि कि कट्टरपन और अन्ध-विश्वास का आश्रय लेकर उनकी जाति ने उन्नति के सब दर्वाज़े वन्द कर दिए हैं। आज हम सिर्फ पूर्वजों की दुहाई देते हैं, उनके गौरव का गान करते हैं, उनके नाम पर योरुप को गालियां सुना देते हैं, पर ख़ुद कुछ भी नहीं करते। आज हमने विचार करना छोड़कर विश्वासों पर जीवित रहना स्वीकार कर लिया है। हम पूर्वजों की कीर्त्ति गाते हैं, पर हम में अपने पूर्वजों का कोई गुण नहीं है। आज हम कपिल, कणाद, शंकर, रामानुज जैसे विचारकों को क्यों नहीं उत्पन्न कर सकते? जिन दो शताब्दियों में योरुप ने अत्यन्त वेग से उन्नति की है उनमें हम अकर्मण्य रहे हैं। उनकी स्वतंत्रता के साथ ही हमारी दासता की वेड़ियां जकड़ गई हैं। बात यह है कि अब कट्टरता का जमाना नहीं है। आज का युग सब क्षेत्रों में स्वतंत्रता के लिए लड़ने का, सर्वतोमुखी कर्मण्यता का युग है। कर्म-योग ही आज के युवक की साधना है, उसे ज्ञान और भक्ति से प्रवाह में वहने का समय नहीं है।

योरुप से अपमान और निरादर का हंटर खाकर भारतीयों को अपने प्राचीन गौरव का स्मरण हुआ। उन्होंने देखा कि योरुप की आलोचना में अत्युक्ति है, भारतीय इतने हीन नहीं हैं, उनका अतीत उज्ज्वल रहा है और उनका भविष्य भी वैसा ही हो सकता है। पिछले पचास-साठ वर्षों से भारतीय विद्वान् प्राचीन लेखकों की कृतियों का योरुप को

परिचय देकर अपने खोए हुए स्वाभिमान को प्राप्त करने की कोशिश कर रहे हैं। राजा राममोहन राय, रमेशचन्द्रदत्त, लोकमान्य तिलक, रवीन्द्रनाथ, डा० दासगुप्त, डा० गंगानाथ झा, श्री रानाडे, सर राधाकृष्णन् आदि ने यही करने की कोशिश की है। महात्मा गान्धी ने भारत के व्यवहार-दर्शन की महत्ता को अपने जीवन से सिद्ध कर दिया है। भारतीय गणित, इतिहास, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि सभी विषयों पर खोज करके सुन्दर ग्रन्थ लिखे गए हैं। कुछ काल पहले अंग्रेजी पढ़े-लिखे युवक मैकॉले की आवृत्ति करके भारत के प्राचीन ग्रन्थों को बर्बर-साहित्य कहने से नहीं चूकते थे। पर आज ऐसी दशा नहीं है, आज के शिक्षित लोगों में प्राचीन-गौरव के अभिमान का उदय हो गया है।

परन्तु इतना ही यथेष्ट नहीं है। संसार को इस बात का विश्वास दिला देना है कि हमारे पूर्वज महान् थे, अच्छी बात है। स्वाभिमान भी सुन्दर वस्तु है, यदि वह दूसरों के निरादर पर अवलंबित नहीं है। आज भारत के हृदय में स्वाभिमान का उदय हुआ है, यह शुभ लक्षण है। हमारे स्वाभिमान में दूसरों के प्रति अनादर या तिरस्कार का भाव भी नहीं है, यद्यपि कुछ पण्डित योरुप को घृणा की दृष्टि से देखते हैं। प्रश्न यह है कि इस स्वाभिमान की रक्षा किस प्रकार की जाय? हमारा स्वाभिमान तभी रह सकता है जब हम स्वयं कुछ बन जायं। 'आधुनिक भारतीय-दर्शन' नामक अंग्रेज़ी ग्रन्थ की आलोचना करते हुये एक अंग्रेजी पत्र 'माइंड' ने लिखा था कि 'इसमें आधुनिक तो कुछ भी नहीं है, सब पुराना है।' प्राचीन दर्शनों की प्रशंसा करने का अर्थ तो दार्शनिक चिन्तन नहीं है। यदि हम भारतवर्ष को समुन्नत देखना चाहते हैं तो हमें प्रत्येक क्षेत्र में स्वयं मौलिक कार्य करना होगा।

यह मौलिक कार्य कैसे हो? थोड़ी देर को हम अपना ध्यान दर्शन-शास्त्र की ओर ही रक्खेंगे। भारतवर्ष में फिर से मौलिक दार्शनिक कैसे उत्पन्न हों? योरुपीय विचारकों का अध्ययन आवश्यक है, परन्तु योरुपीय

भाषाओं में पढ़ना और लिखना ही यथेष्ट नहीं है। भारतीय दर्शन भारतीय जनता के हृदय या मस्तिष्क से निकलेगा। आज एक ओर पण्डित-वर्ग संस्कृत में शास्त्रार्थ करता रहता है और दूसरी ओर यूनिवर्सिटियों के प्रोफ़ेसर अंग्रेजी में व्याख्यान देते हैं। नतीजा यह है कि भारत की जनता को विद्वानों के विचारों से वञ्चित रहना पड़ता है। आज अंग्रेजी में भारतीय दर्शनों पर जितने 'स्टैण्डर्ड' ग्रन्थ हैं, हिन्दी में उनका सौवां हिस्सा भी नहीं है। इसका आर्थिक कारण भी है। हिंदी-जनता विचार-पूर्ण ग्रन्थों का स्वागत नहीं करती, हिंदी-लेखक को अपने परिश्रम का मूल्य नहीं मिलता। अंग्रेजी पुस्तकों से विद्वानों में प्रसिद्धि मिलती है और पुस्तकों के विश्वविद्यालयों में निर्धारित हो जाने पर धन भी मिलता है। इस कारण अच्छे लेखक प्रायः अंग्रेजी की ओर आकर्षित होने लगते हैं। परिणाम जनता का बौद्धिक ह्रास है। ऐसी दशा में जनता से यह आशा करना कि वह मौलिक विचारकों को जन्म दे, दुराशामात्र है।

दुर्भाग्यवश गवर्न्मेंट भी पूर्णतया हमारी नहीं है जो हमारी इन कठिनाइयों को दूर करने का प्रयत्न करे। हमारी आवश्यकतायें तो बहुत हैं। प्रथमतः भारत के विद्वानों का यह कर्तव्य है कि वे प्रान्तीय भाषाओं में सुन्दर ग्रंथ लिखें। योरुप को अपने प्राचीन विचारों का परिचय देना अच्छी बात है, पर अपनी जनता तक है उन विचारों का पहुँचाना कम ज़रूरी नहीं है। आज हमारे विद्यार्थी अन्वेषण या खोज करने के बाद अंग्रेजी में पुस्तक लिखते हैं। भारतीय विद्वानों का परिश्रम आज भारतीय जनता के लिए नहीं है। विश्व-विद्यालयों को चाहिये कि विद्यार्थियों से मातृभाषा में खोज कराएं। योरुपीय विचारकों के ग्रंथों को भी भारतीय जनता तक पहुँचाना आवश्यक है। सिर्फ उपन्यासों के अनुवाद से काम नहीं चल सकता। आवश्यकता इस बात की है कि सरकार स्वयं लेखकों को उपयोगी ग्रन्थ लिखने और अनुवाद करने के लिये प्रोत्साहित करे। इस प्रकार पूर्वी और पश्चिमी साहित्य को जनता के मस्तिष्क तक

पहुँचा कर ही हम उससे मौलिक विचारक और लेखक उत्पन्न करने की आशा कर सकते हैं।

अंत में भारतीय जनता से हमारी प्रार्थना है। महान् ऋषियों के उत्तराधिकारी होने के नाते आपका उत्तरदायित्व भी बहुत है। जो देश या जाति अच्छे लेखकों और नेताओं का आदर करना नहीं सीखती उसका पतन अवश्यम्भावी है। आपका कर्तव्य है कि आप विश्व-साहित्य के गंभीर विचारों से अपने मस्तिष्क को भरें, स्वयं विचारक बनें और विचारकों का आदर करें। आप 'रवींद्रनाथ प्रशंसा के पात्र हैं या नहीं' इसका निर्णय करने के लिये पश्चिमी आलोचकों का मुँह न देखें। भारत के प्राचीन गौरव के गीतों से भी काम नहीं चल सकता। प्राचीन लेखकों के प्रति अत्यधिक श्रद्धा व्यक्तित्व को छोटा बनानेवाली है। आप स्वयं अपनी बुद्धि का आदर करें और अपनी योग्यता में नम्र विश्वास रक्खें। संसार के धुरंधर विचारक आपके सामने अपने विचार रखते हैं, और स्वीकृति के लिये आपका मुख जोहते हैं। आपको अधिकार है कि उनमें से अपने अनुकूल विचारों का आदर और प्रशंसा करें। आप किसी काव्य-ग्रंथ को इसलिये अच्छा या बुरा न मान लें कि कुछ प्रसिद्ध आलोचक वैसा मत रखते हैं। आलोचकों में पक्षपात भी रहता है और कभी-कभी वे लेखक के महत्त्व-निर्णय में भूल भी करते हैं। ऐसे बहुत से बड़े कवि, दार्शनिक और लेखक हुये हैं जिनका महत्त्व उनके जीवन-काल के आलोचकों ने नहीं समझा। सबसे अच्छा रास्ता यही है कि आप स्वयं निर्णय करने की योग्यता संपादन करें और अपने निर्णय में विश्वास करें। जो दूसरों के विचारों के महत्त्व को ठीक-ठीक आंक सकता है वही स्वतंत्र विचार भी कर सकता है और उसी के विचार महत्त्वपूर्ण हो सकते हैं। स्वतंत्र-निर्णय आपका जन्मसिद्ध अधिकार है, आप किसी ऋषि के वाक्यों को अक्षरशः मानने को बाध्य नहीं हैं। आप सब दर्शनों को पढ़ें, पर अपने को किसी का ख़ास तौर से अनुयायी न कहें। इसमें ख़तरा है।

आज भारत माता आपसे नवीन विचारों की याचना करती हैं, प्राचीन विचार तो उसके हैं ही। परंतु नवीन का उद्गम प्राचीनता की भूमि से होता है, इसलिये यह इतिहास-ग्रंथ आपको समर्पित है।

सहायक ग्रन्थों की सूची

सामान्य ग्रंथः—

दास गुप्त, सुरेंद्र नाथ—"ए हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी," दो भाग।
राधाकृष्णन्, सर सर्वपल्ली—"इंडियन फिलॉसफी," दो भाग।
हिरियन्ना—"ऑउट-लाइन्स् ऑव इंडियन फिलॉसफी"।
सर्व-दर्शन-संग्रह—आनंदाश्रम संस्करण।

पहला अध्याय

घाटे, वी० एस०—"लेक्चरस् ऑन द ऋग्वेद"।
विण्टर निज़्—"हिस्ट्री ऑव संस्कृत लिटरेचर," भाग १
मैकडोनल—"वैदिक रीडर"।
पेटरसन, पीटर—"सेलेक्शन्स् फ्राम द ऋग्वेद"
दयानंद, स्वामी—"ऋग्वेदादि भाष्य-भूमिका"

दूसरा अध्याय

दास गुप्त, सुरेंद्र नाथ—"इंडियन आइडियलिज्म"।
विण्टर निज़—"हिस्ट्री०"

तीसरा अध्याय

ईशादि दशोपनिषद्—वाणी विलास संस्कृत पुस्तकालय, बनारस।
रानाडे, रामचंद्र दत्तात्रेय—"ए कॉन्स्ट्रक्टिव सर्वे ऑव उपनिषदिक फिलॉसफी"।

चौथा अध्याय

वेल्वेल्कर और रानाडे—"हिस्ट्री ऑव इंडियन फिलॉसफी" भाग २ ।
भगवद्गीता, शांकर भाष्य—गीता प्रेस, गोरखपुर ।
तिलक, बाल गंगाधर—गीता-रहस्य ।

पांचवा अध्याय

स्टीवेन्सन, मिसेज़—"द हार्ट ऑव जैनिज्म" ।
जगमन्दर लाल जैनी—"आउट लाइन्स् ऑव जैनिज्म"
स्याद्वाद मंजरी (मल्लिसेन)
तत्त्वार्थ सूत्र (उमा स्वामी) ।

छठवां अध्याय

यामाकामी सोगेन—"सिस्टम्स् ऑव बुद्धिस्ट थाट" ।
आनंद कुमार स्वामी—"बुद्ध ऐण्ड द गास्पेल ऑव बुद्धिज्म" ।
ब्रह्मसूत्र, शांकर-भाष्य (तर्क-पाद)

द्वितीय-भाग

पहला अध्याय

मूल माध्यमिक कारिका—पूसां द्वारा संपादित ।
ब्रह्मसूत्र, शांकर-भाष्य ।
दासगुप्त —"इंडियन आइडियलिज्म" ।
सुज़ुकी—"आउट-लाइंस ऑव महायान बुद्धिज्म"
शर्वात्स्की—"द कन्सेप्शन ऑव बुद्धिस्ट निर्वाण" ।

दूसरा अध्याय

विद्याभूषण, सतीश चंद्र—"हिस्ट्री ऑव इंडियन लॉजिक"।
आथले, यशवंत वासुदेव—"तर्क संग्रह"।
कुप्पू स्वामी शास्त्री—"तर्क संग्रह"।
रैंडिल—"इंडियन लॉजिक इन अर्ली स्कूल्स्"।
तर्क-संग्रह-दीपिका
कारिकावली (विश्वनाथ)।
न्याय-सूत्र।
वैशेषिक-सूत्र।
नंद लाल सिंह—वैशेषिक-सूत्र (पाणिनि ऑफिस)।

तीसरा अध्याय

सांख्य-तत्त्व-कौमुदी।
सांख्य-कारिका (गौड़पाद-भाष्य)—कोल ब्रुक द्वारा संपादित।
सांख्य-प्रवचन-भाष्य।
योग-भाष्य।
बृहदारण्यक-उपनिषद् (शांकर भाष्य)।
मैक्स मूलर—"सिक्स सिस्टम्स् ऑव इंडियन फिलॉसफी"।

चौथा अध्याय

शास्त्र-दीपिका।
कीथ—"कर्म-मीमांसा"।
झा, डाक्टर गंगानाथ—"प्रभाकर स्कूल ऑव पूर्व मीमांसा"।
भामती (अध्यास-भाष्य)।

पाचवां अध्याय

कर्मकर—"कम्पेरिजन ऑव द भाष्याज् ऑव शंकर, रामानुज ..."।

आत्रेय, डाक्टर बी० एल०—"योग वाशिष्ट ऐंड मॉडर्न थॉट"।

छठवां अध्याय

ब्रह्मसूत्र, शांकर भाष्य—(रत्नप्रभा, भामती, न्यायनिर्णय सहित) बंबई।
बृहदारण्यक-उपनिषद् (शांकर भाष्य)।
पंच-पादिका—(विजया नगरम्-संस्कृत सीरीज)।
पंच-पादिका-विवरण (काशी, सं० १६४८)।
सिद्धांत-लेश-संग्रह (विजया नगरम् संस्करण)।
वेदांत-परिभाषा (शिखामणि-सहित)—बंबई।
नैष्कर्म्य-सिद्धि—(प्रो० हिरियन्ना द्वारा संपादित)।
संक्षेप-शारीरक।
डायसन—"सिस्टम आव् वेदांत"।

सातवां अध्याय

यतींद्र-मत-दीपिका
श्रीनिवासाचारी—"रामनुज' ज् आइडिया ऑव द फाइनाइट सेल्फ"।

आठवां अध्याय

नागराज शर्मा—"रेन ऑव रियलिज्म इन इंडियन फिलॉसफी"।
ब्रजनाथ शर्मा—"श्रीमद् वल्लभाचार्य और उनके सिद्धांत"।
श्याम सुंदर दास—"हिंदी भाषा और साहित्य"।

अनुक्रमणिका

नोट्—सिर्फ़ महत्त्वपूर्ण पृष्ठ-संकेतों का ही समावेश किया गया है।

प्राक्कथन

निम्न पृष्ठों में भारतीय दर्शन की प्रमुख शाखाओं का शृङ्खला-बद्ध इतिहास प्रस्तुत किया गया है। एक प्रकार से केवल हिन्दी में ही नहीं प्रत्युत अधिकांश देशी भाषाओं में यह अपने ढंग का पहला प्रयत्न है। इन भाषाओं में प्राचीन और मध्यकालीन भारतीय दर्शन के किसी संप्रदाय-विशेष या एक-आध दार्शनिक समस्या पर तो कभी-कभी आलोचनात्मक या प्रतिपादक, मुख्यतः ऐतिहासिक, पुस्तकें निकली हैं, पर ऐसा ग्रन्थ जिसमें सारे दार्शनिक मतों का सन्निवेश हो, मिलना दुर्लभ ही है। वस्तुतः भारतीय दर्शन के ऐसे विद्वान् जो सभी शाखाओं में समान अभिरुचि रखते हों, जिनकी मूल ग्रन्थों तक सीधी पहुँच हो, और जो आधुनिक आलोचनात्मक एवं विश्लेषणात्मक अध्ययन की पद्धतियों से परिचित हों, संख्या में बहुत थोड़े हैं। हिन्दी में तो और भी कम हैं। वे लोग भी जो इस विषय पर सफलता-पूर्वक लिख सकते हैं, अपने को प्रकट करने में अंग्रेज़ी-माध्यम का उपयोग करते हैं, शायद इसलिए कि उन्हें (अंग्रेज़ी में) अधिक-संख्यक और ज़्यादा समझ सकनेवाले पाठक मिलने की आशा रहती है। इसका स्पष्ट फल हिन्दी साहित्य की क्षति है। इस लिए अपने अध्ययन के निष्कर्षों को इतना परिश्रम करके प्रान्त की भाषा, हिन्दी, में प्रकाशित करने के लिए लेखक हार्दिक बधाई के पात्र हैं।

भारतीय दर्शन, जिसमें उपनिषदों और जैन तथा बौद्ध धार्मिक साहित्य के अव्यवस्थित विचार भी सन्निविष्ट हैं, अपनी विविधता, प्राचीनता और अखण्डता के कारण ही नहीं, अपितु दृष्टिकोण की व्यापकता और कहीं-कहीं अपनी तर्कनात्मक सूक्ष्मताओं के कारण भी, (आधुनिक विद्वानों के लिए) महत्त्वपूर्ण है। प्रस्तुत पुस्तक से, जो

सामान्य पाठकों के लिए प्रवेशिका होने के अभिप्राय से लिखी गई है, यह आशा नहीं की जा सकती कि वह भारतीय दर्शन की उन समस्त विशेषताओं का दिग्दर्शन कराए जिनके कारण उसका विश्व-संस्कृति में एक विशिष्ट स्थान है। फिर भी एक छोटी सी पुस्तक की संक्षिप्त परिधि में विभिन्न लोक-प्रसिद्ध दार्शनिक संप्रदायों के मुख्य-मुख्य विषयों का—प्रामाणिक और स्पष्ट व्याख्या के लिए आवश्यक मीमांसा और आलोचना-सहित—समावेश करने में लेखक सफल हुआ है।

संस्कृत के मूल ग्रन्थों के अतिरिक्त लेखक ने स्थान-स्थान पर तत्तद्-विषय की अंग्रेज़ी पुस्तकों का भी उपयोग किया है। पुस्तक के अंत में दी हुई पठनीय ग्रन्थों की संक्षिप्त सूची आगे के अध्ययन में अवश्य सहायक होगी, पर, मेरी राय में, यदि विभिन्न दर्शनों पर नवीनतम प्रकाशनों के आधार पर यह सूची कुछ और विस्तृत कर दी गई होती, तो पुस्तक का महत्त्व और बढ़ जाता।

सम्पूर्णता की दृष्टि से जिस प्रकार परिशिष्ट में निम्बार्क और अन्य गौण वैष्णव मतों का वर्णन है, उसी प्रकार मुख्य शैव, शाक्त और पाञ्चरात्र मतों का भी संक्षिप्त वर्णन होना चाहिए था। परन्तु यह अभाव शायद इतना न खले, क्योंकि यह पुस्तक समान्य पाठकों के लिए लिखी गई है जिसके कारण इसका क्षेत्र प्रसिद्ध दर्शनों तक ही सीमित है।

लेखक की शैली में प्रवाह है; वह अपनी युक्तियों को प्रभावशाली ढंग से व्यक्त करना जानता है। अपने विषय की आधार-सामग्री पर उसका प्रशंसनीय अधिकार है। उसका दृष्टिकोण सर्वत्र आलोचनात्मक है। आशा की जाती है कि यह पुस्तक जो कि एक सर्वथा नवीन दिशा में प्रथम प्रयत्न है, हिन्दी के शिक्षित समाज द्वारा बहुत ही सहानुभूति-पूर्ण स्वागत पावेगी और भारतीय दर्शन के विद्वानों से सम्यक् समादृत होगी।

गोपीनाथ कविराज

(महामहोपाध्याय, एम्० ए०)

संशोधन और परिवर्धन

पृ० १०३ चार्वाक लोग चार ही तत्त्व मानते हैं, पाँचवां आकाश नहीं।

सत्पदार्थ का लक्षण—

पृ० १८८ वैशेषिक सूत्रों के भाष्यकार प्रशस्तपाद ने सत्ता-सामान्य के योगवाले और केवल अस्तित्ववान् पदार्थों में भेद किया है। द्रव्यों, गुणों और कर्मों में सत्ता-संबंध है; सामान्य, विशेष और समवाय पदार्थों में अस्तित्व तो है, सत्ता-सम्बन्ध नहीं है। (दे० राधाकृष्णन्, भाग २, पृ० १८६)।

पृ० २१६ पं० ११ न्यायसूत्रोद्धार का लेखक वाचस्पति 'न्यायसूची निबंध', 'न्याय-वार्तिक-तात्पर्यटीका' आदि के लेखक प्रसिद्ध वाचस्पति मिश्र से भिन्न है और उनसे काफ़ी बाद का है।

पृ० ५५६ पं० २ 'योगवार्त्तिक' सिर्फ 'योग-भाष्य' पर टीका है। 'योगसार' विज्ञान भिक्षु का ही दूसरा ग्रंथ है।

पृ० ३४२ पं० ६ 'चित्सुखी' का वास्तविक नाम 'प्रत्यक्तत्त्वप्रदीपिका' है। यह 'खण्डनखण्डखाद्य' पर टीका नहीं है, प्रत्युत स्वतंत्र ग्रन्थ है। चित्सुखाचार्य ने 'खण्डनखण्डखाद्य' पर टीका भी लिखी है। (दे० दासगुप्त, भाग २, पृ० १४७)।

पं० ३-४—नवीनतम अनुसंधानों के अनुसार सर्वज्ञमुनि के गुरु देवेश्वर, सुरेश्वर से भिन्न व्यक्ति माने जाते हैं। मण्डन और सुरेश्वर भी संभवतः भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। मण्डन की "ब्रह्मसिद्धि" में शंकर से कुछ भिन्न अद्वैत मत का प्रतिपादन है।

शुद्धि-पत्र

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८	१७	दिवस का आरंभ	दिवस का आरंभ,
७०	१६-२० (शीर्षक)	निष्प्र ब्रह्म पंच	निष्प्रपंच ब्रह्म
६५	११	पुरीसत्	पुरीतत्
१२५	१३	तत्त्वाथाधिगमसूत्र	तत्वार्थाधिगमसूत्र
१२६	२६	हाइलोइज्म	हाइलोज़ोइज़्म
१२७	८-६	कार्माण वर्गणा	कार्मण वर्गणा
२००	२१	(सहोपलंभ नियममाद्	(सहोपलंभ नियमाद्
२०२	११	ध्येय	ज्ञेय
२०२	१५-१६	सहोपलभ नियम	सहोपलंभ नियम
२१६	८	उनुयानाचार्य	उदयनाचार्य
२१७	८	गदाधर मिश्र	गदाधर भट्टाचार्य
२१७	२१	व्योम केश	व्योम शिवाचार्य
	१७	तत्तु	तंतु
२३७	२	सत्ता होती	सत्ता न होती
२४७	१६	और वायु रूपवान्	और तेज रूपवान्
२४७	२४	जल और	जल, वायु और
३४८	३	और द्व्यणुकों	× ×
२४८	४	परम महत् यी दीर्घ	परम महत्
२६१	५	घ्राणेन्द्रिय	ज्ञानेन्द्रिय
२६१	६	श्लोकों	लोकों
२८७	२५	टुप्टिका	टुप् टीका
३८६	२५	भासचि	भारुचि
४१५	१४	शत सन्दर्भ	पट् सन्दर्भ